हिन्दी-काव्य-दर्शन

(हिन्दी-काव्य का विस्तृत समीक्षात्मक अध्ययन)

प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त, एम० ए०
देशबन्धु कॉलिज, कालका जी, नई दिल्ली

साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा, दिल्ली

प्रकाशक :
आलोचना-साहित्य-प्रकाशन,
मालीवाड़ा, दिल्ली

मूल्य : 10.00
प्रथम आवृत्ति, १९५६

मुद्र
क्रॉनिकल प्रे
मोरी गेट, दिल

विषय-निर्देश

	उपक्रम	५
१.	हिन्दी-कविता का विकास	७
२.	चन्द की काव्य-चेतना	१७
३.	विद्यापति की पदावली	२७
४.	कबीर की आत्मानुभूति	३७
५.	'पद्मावत' का काव्य-सौष्ठव	४५
६.	सूर के 'भ्रमरगीत' में रस-योजना	५५
७.	सूर के काव्य में नारी-जीवन	६४
८.	सूर की भाषा-शैली	७३
९.	तुलसी का काव्य-सौन्दर्य	८९
१०.	बिहारी और उनका काव्य	१०३
११.	केशव के काव्य-सिद्धान्त	११८
१२.	'रहीम' और उनका काव्य	१२५
१३.	भारतेन्दु की काव्य-प्रवृत्तियाँ	१३८
१४.	'हरिऔध' जी का प्रकृति-वर्णन	१४२
१५.	'रत्नाकर' जी की कला और रचना	१४८
१६.	'साकेत' का काव्य-सौन्दर्य	१५६
१७.	'कामायनी' के नारी-पात्र	१६८
१८.	'निराला' जी के काव्य-विचार	१७७
१९.	पन्त जी का छायावादी काव्य	१८८
२०.	महादेवी जी का गीति-काव्य	१९४
२१.	द्विवेदी जी का बाल-काव्य	१९९
२२.	परिशिष्ट	२१०

उपक्रम

वाक् शक्ति से युक्त होने के कारण मनुष्य की स्थिति विश्व के प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। इस शक्ति से समन्वित होने के कारण वह अपने भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए भाषा-समृद्धि की ओर अधिक ध्यान देता है। भाषा का आधार प्राप्त होने पर प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा काव्य-रचना की जाती है। काव्य-प्रणयन के अवसर पर प्रारम्भ में किसी प्रकार के रचना-नियमों की स्थिति नहीं थी, किन्तु कालान्तर में उसके विशिष्ट सौन्दर्य से प्रभावित होकर सहृदय अध्येताओं ने उस सौन्दर्य को परकालीन कृतियों में भी संचरित करने के उद्देश्य से उसकी विशेषताओं को भाव-तत्व एवं कला-तत्व के रूप में वर्गीकृत कर दिया। अतः वर्तमान युग में काव्य-रचना से पूर्व कवि की मानस-पृष्ठभूमि में इन नियमों की अनिवार्य स्थिति रहती है और आलोचना करते समय आलोचक भी इन्हीं के आधार पर काव्य का परीक्षण करता है।

काव्य-सौन्दर्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी आलोचना का अध्ययन करना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। जिस प्रकार काव्य-रचना प्रतिभा से प्रेरित रहती है, उसी प्रकार आलोचना भी प्रतिभा पर आधृत है। न तो प्रत्येक व्यक्ति कविता ही लिख सकता है और न प्रत्येक के वश की बात उसकी आलोचना उपस्थित करना ही है। ये दोनों पृथक् कर्म हैं और पाठक के लिए इन दोनों का ही समान महत्व है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य का अध्ययन करने पर उसके सौन्दर्य से उसे मनस्तोष प्राप्त हो जाता है, किन्तु यह सन्तुष्टि तब तक व्यापक नहीं हो पाती जब तक वह विशिष्ट अध्ययन के लिए सम्बद्ध काव्य की आलोचना का अध्ययन भी न कर ले।

इस तथ्य को लक्ष्य में रखकर हिन्दी-काव्य के विषय में सहस्राधिक मौलिक आलोचना-ग्रन्थों की रचना की जा चुकी है। यह आलोचना काव्य के किसी एक पक्ष को ले कर लिखित निबन्ध से लेकर सम्पूर्ण काव्य की विशद आलोचना तक अनेक रूपों में उपलब्ध होती है। 'हिन्दी-काव्य-दर्शन' में मैंने हिन्दी के कतिपय प्रमुख कवियों की कुछ प्रमुख काव्य-विशेषताओं के विषय में अपने स्फुट निबन्धों का संकलन किया है। क्रम-संकलन के लिए इसमें भी उसी प्रवृत्ति का आधार लिया गया है जो मेरी 'काव्य-समीक्षा', 'काव्यानुशीलन' और 'काव्य-विवेचन' नामक कृतियों में प्राप्त होती है। इसमें मैंने अपने सन् १९५२ से सन् १९५६ तक समय-समय पर लिखे गए निबन्धों का संकलन किया है। अतः पुस्तक में स्वभावतः कहीं-कहीं एकरूपता का अभाव लक्षित होगा।

इन निबन्धों को लिखते समय मैंने जिन काव्य-ग्रन्थों का उपयोग किया है और परिशिष्ट में जिन काव्यों से उद्धरण उपस्थित किए हैं, उन सभी के रचयिताओं के प्रति मैं आभारी हूँ ।

दिल्ली,
१०-६-५६

—सुरेश चन्द्र गुप्त

: १ :

हिन्दी-कविता का विकास

मन की रागात्मक चेतना का स्पर्श करने के कारण कविता सदैव व्यक्ति को अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित करती रही है। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक देश ने साहित्य-सृजन के अवसर पर सर्वप्रथम उसी की ओर रुचि प्रदर्शित करते हुए अनुभूति तथा कल्पना के माध्यम से अपनी भावनाओं को सरस अभिव्यक्ति प्रदान की है। देश और काल के भेद से कविता के स्वीकृत विषय भी अनेकरूप रहे हैं और उनमें पर्याप्त अन्तर का विधान भी हुआ है, किन्तु अपनी रसात्मकता और सहज कोमलता के कारण उसने इस परिवर्तन को सदैव अत्यन्त स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया है। हिन्दी-कविता के विकास का अध्ययन करने पर भी हम इस धारणा को सदैव समान रूप से सत्य पाते हैं। विषय-प्रसार की दृष्टि से हम हिन्दी-कविता को साधारणतः चार युगों में विभक्त कर सकते हैं। इस चतुर्सूत्री विभाजन में प्रत्येक सूत्र की अपनी पृथक् सीमा है और भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों पर आधारित होने के कारण उनमें से प्रत्येक का उनके अनुरूप स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है। इन युगों के प्रचलित नाम इस प्रकार हैं :—

(१) वीरगाथा काल
(२) रीति काल
(३) भक्ति काल
(४) आधुनिक काल

हिन्दी-कविता के विकास को हृदयंगम करने के लिए हमें स्पष्टतः इन विभाजित युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करना चाहिए। अतः आगे हम इन सबका पृथक्-पृथक् परिचय उपस्थित करते हैं।

वीरगाथा काल

काल-क्रम की दृष्टि से वीरगाथा काल की अवधि को सामान्यतः सम्वत् १०५० से १३७५ तक नियत किया गया है। इस समय यवन-आक्रमण के फलस्वरूप भारतवर्ष में सर्वत्र युद्ध का वातावरण उपस्थित रहता था और कविगण अपने आश्रयदाता नरेशों को उत्साह प्रदान करने के लिये वीररसात्मक कविताओं की रचना किया करते थे। पारस्परिक द्वेष के कारण यहाँ के राजपूत राजाओं की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। छोटे-छोटे विषयों को लेकर वे आपस में कट मरते थे। देश छोटे-छोटे भूखंडों में विभक्त था और प्रत्येक खंड का अधिपति अपने आस-पास के राज्यों की विदेशों में गणना करता था। सामूहिक प्रतिष्ठा के स्थान पर वे वैयक्तिक प्रतिष्ठा को अधिक महत्त्व

देते थे और इसी कारण उनकी शक्ति शनैः शनैः क्षीण होती जा रही थी। ऐसे समय उनके आश्रय में रहने वाले कवियों अथवा चारणों ने उनमें शौर्य का जागरण किया। यद्यपि उनकी उस समय की कविताओं में अत्युक्ति की मात्रा अधिक है, परन्तु तो भी समय पर अपने आश्रयदाताओं को सचेत करने के कारण उनके कार्य की प्रशंसा की जाएगी।

हिन्दी-कविता के इस उदय-काल में द्वेष, विग्रह एवं अभिमान के कारण राजपूत-जाति का सौभाग्य-सूर्य अस्तोन्मुख था। सामूहिक प्रतिष्ठा की अपेक्षा वैयक्तिक प्रतिष्ठा को अधिक महत्ता प्रदान करने के फलस्वरूप उनके स्वाभाविक स्नेह-सम्बन्धों का भी सर्वथा लोप हो गया था। उस समय समन्वय का मार्ग प्रदर्शित करने वाली किसी शक्ति की अत्यधिक आवश्यकता थी। राजाश्रय में अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत करने वाले चारण-बन्धुओं ने उस शक्ति-सूत्र का उन्मुक्त रूप से ग्रहण किया और अपनी ओजमयी वाणी द्वारा राजपूत जाति में नव शौर्य का जागरण किया। यद्यपि अपने लक्ष्य की सिद्धि में उन्हें पूर्ण सफलता की प्राप्ति नहीं हो सकी, तथापि राष्ट्र की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये किये गये उनके समयोचित प्रयत्न को सराहनीय ही कहा जाएगा। वीरगाथा युग का वातावरण कुछ इस प्रकार का था कि उस समय वीररस को छोड़कर और किसी प्रकार की रचना नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि उस काल में नीति तथा शृंगार आदि के पदों का पर्याप्त अभाव रहा है। प्रायः वीर-काव्यों में कल्पना का आधिक्य, शृंगार का पुट तथा युद्धों का ओजस्वी वर्णन प्राप्त होता है। चारण कवि अपने वीर-काव्यों की रचना राजाश्रय में करते थे। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ राजकीय संग्रहालयों में सुरक्षित रहती थीं। इस युग के काव्य की रचना प्रायः प्रबन्ध काव्य के रूप में हुई है, तथापि मुक्तक काव्य की पद्धति के अन्तर्गत भी कुछ कवियों ने वीरगीतों एवं स्वतन्त्र छंदों को उपस्थित किया है।

वीरगाथा युग का सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रन्थ 'बीसलदेव रासो' एक वीरगीतात्मक काव्य है। इसके रचयिता कविवर नरपति नाल्ह ने राजा बीसलदेव की चारित्रिक महत्ता का पूर्ण प्रतिपादन करने की चेष्टा की है, परन्तु शौर्य एवं पराक्रम की अपेक्षा नायक की वासनात्मक प्रवृत्तियों को अधिक प्रश्रय देने के फलस्वरूप कवि का यह ग्रन्थ किसी भी दशा में पूर्ण प्रशंसा का अधिकारी नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से भी पुनरुक्ति तथा शैली-भग्नता आदि दोषों के कारण इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है। इसके उपरान्त हमारे समक्ष कविवर चन्दबरदाई की 'पृथ्वीराज रासो' नामक महत्त्वपूर्ण कृति आती है। अपने युग का विशालतम महाकाव्य होने के अतिरिक्त यह काव्य युग के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में भी प्रतिष्ठित है। कवि के वंशानुगतों द्वारा जीविकोपार्जन के साधन-रूप में व्यवहृत होने के कारण इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर प्रक्षिप्त सामग्री का समावेश हो गया है। इसी सामग्री के आधार पर अनेक विद्वानों ने इसके प्रामाणिक होने के विषय में सन्देह प्रकट किया है, परन्तु आधुनिकतम गवेषणाओं द्वारा इन सन्देहों का विलोप होता जा रहा है। वैसे ग्रन्थ की भाषा सुन्दर,

सरस तथा पूर्णतः वीररसानुकूल है। रचना-शैली की स्वाभाविकता एवं चमत्कारिता के कारण इसमें एक अपूर्व सौंदर्य का संचरण हो गया है। पद्मावती के रूप-सौंदर्य का एक सुन्दर उदाहरण देखिये :—

मनहुँ कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल-बंस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय॥
बिगसि कमल स्रिग भ्रमर, नैन-खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब, मोति नखसिख अहिघुट्टिय॥

कविवर जगनिक के 'आल्हा-खण्ड' में वीरगीतात्मक रूप में बनाफर शाखा के आल्हा तथा ऊदल नामक क्षत्रिय सामन्तों के शौर्य का उन्मेषकारी वर्णन किया गया है। इसका वर्तमान रूप प्राचीन गीतों के आधार पर निर्मित है, परन्तु समय के प्रभाव से भाषा तथा वस्तु में अन्तर आ जाने के कारण यह अपने मूल रूप से सर्वथा भिन्न हो गया है। ओज तथा स्फूर्ति को उत्थान देने वाली भावनाओं को इसमें विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। यथा :—

बारह बरिस लै कूकर जीएँ,
और तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ,
आगे जीवन को धिक्कार॥

वीरगाथा काल की प्रबन्धात्मक काव्य-रचनाओं में कविवर चन्दबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' और वीरगीतात्मक कृतियों में कविवर जगनिक का 'आल्हा-खंड' तथा नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' उल्लेखनीय रचनायें हैं। इस युग के अन्य कवियों में कवि श्री दलपति विजय, भट्ट केदार और शारङ्गधर का भी अच्छा काव्य प्राप्त होता है। कविवर नरपति नाल्ह के अतिरिक्त इन सभी कवियों ने अपनी रचनाओं में वीर रस को मुख्य स्थान प्रदान करते हुए शौर्य-भाव की अभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया है। यद्यपि भाषा तथा छन्द-प्रयोग की दृष्टि से इन कृतियों का स्थान गौण ही है, तथापि वीर-भावों की दृष्टि से ये अप्रतिम हैं और इनका चिरकालीन महत्व है।

भक्ति काल

वीरगाथा युग के पश्चात् हमारे समक्ष भक्ति युग का शांत वातावरण आता है। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रहीम एवं रसखान जैसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने इसी युग में काव्य-रचना की है और अपनी उपासना को कविता के माध्यम से अत्यन्त रसमयी रीति से अभिव्यक्त किया है। इस युग के कवियों ने साधना-प्रणाली के भेद से अपनी भावनाओं को चार रूपों में उपस्थित किया है। भक्ति के 'निर्गुण' एवं 'सगुण' नामक दो रूपों को स्वीकार करते हुए इस युग में निर्गुण भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने वाले कवियों ने अपनी भावनाओं को ज्ञान-प्रणाली एवं प्रेम-प्रणाली के आधार पर विभाजित किया है और सगुण भक्ति-शाखा की ओर प्रवृत्त कवियों ने भगवान् राम और कृष्ण की पृथक् उपासना द्वारा अपने भावों को द्वयोन्मुखी अभिव्यक्ति प्रदान की है।

निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी पक्ष का समर्थन करने वाले कवि ब्रह्म को ज्ञान-साधना द्वारा प्राप्त करने की विधि पर बल देते थे। उनके काव्य में सामान्यतः ऐकेश्वर-वाद, धार्मिक मत-मतान्तरों की रूढ़ियों का विरोध, अन्धविश्वासों का परिहार, संसार की क्षणिकता और हिन्दू-मुसलिम-प्रेम आदि विषयों की चर्चा हुई है। इस धारा के कवि प्रायः अशिक्षित थे और उन्होंने सज्जन-सत्संग एवं हृदय की एकनिष्ठता के आधार पर भक्ति-भावों का प्रतिपादन किया है। उनके काव्य में कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष विशेष समृद्ध रहा है। इस धारा के कवियों में महात्मा कबीर का स्थान सर्व-प्रमुख है और उनके पदों तथा दोहों का संग्रह 'बीजक' नामक ग्रन्थ में हुआ है। उन्होंने अपने काव्य में समन्वयवादी तथा विश्लेषणात्मक विचार-धारा का प्रतिपादन किया है। आत्म-विश्वास एवं स्वतन्त्र प्रवृत्ति से परिपूर्ण इस कलाकार के हृदय में एक अभूत-पूर्व बन्धुत्व की भावना का वास था। जाति एवं वर्ग के भेदों से उन्हें उत्कट घृणा थी। वह विश्व के कण-कण में सर्वात्मा की लय का दर्शन करते थे। आत्मनिरीक्षणात्मक तथा शान्तिपरक भावनाओं का उनके काव्य में विशेष स्थान है। भौतिक वस्तुओं के प्रति उन्होंने सर्वत्र तिरस्कार एवं निषेध की भावनाओं का प्रतिपादन किया है। माया के प्रभाव के कारण मानव के हृदय में जिस अहंकार का पोषण होता है वह उसे प्रभु के दर्शनों से वंचित रखता है। कबीर के अनुसार सर्वप्रथम इसी अहम्मन्यता के त्याग की आवश्यकता है :—

तूं तूं करता तूं भया, मुझमें रही न हूं।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं॥

उनके अतिरिक्त सर्व श्री धर्मदास, दादू दयाल, मलूकदास, गुरु नानक, सुन्दरदास और पीपा आदि कवियों ने भी साधारणतः श्रेष्ठ नीतिपरक तथा भक्तिमय काव्य की रचना की है। इस धारा के काव्य के सामान्य परिचय के लिए महात्मा कबीर के काव्य का अध्ययन पर्याप्त है।

निर्गुण भक्ति में प्रेम-पक्ष का समावेश करने वाले कवियों में जायसी का प्रमुख स्थान है। कविवर जायसी के हृदय में प्रेम-भावना का विशेष प्रतिष्ठान रहा है। वह समस्त सृष्टि को उसी ईश्वरीय ज्योति के आलोक से प्रकाशित देखते हैं। भारतीय गार्हस्थ्य जीवन को उन्होंने अपने प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' में अत्यन्त सुन्दरता से चित्रित किया है। ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति होने पर उनका हृदय सर्वत्र आनन्द के एक अदम्य प्रवाह में पूर्ण हो उठा है, परन्तु काल-प्रभाव के कारण जब उन्हें उसके असह्य वियोग का अनुभव करना पड़ा है तब वह अत्यन्त करुण स्वर में कह उठे हैं :—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव॥

यद्यपि यह सत्य है कि 'पद्मावत' में उपर्युक्त भावों का कथन नागमती ने अपने पति रत्नसेन को लक्षित कर किया है, किन्तु रूपक-कृति होने के कारण इस रचना में लौकिक अर्थों के अतिरिक्त अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक अर्थों की व्यंजनाएँ उपलब्ध होती हैं।

इस आधार पर प्रस्तुत दोहे में भी जायसी के ईश्वर के प्रति विरह-निवेदन के संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं।

कविवर जायसी के अतिरिक्त इस धारा को विकासमग्न रखने में कुतबन, मंझन, शेख नबी, नूर मुहम्मद आदि अन्य कवियों ने योग प्रदान किया है। उन्होंने निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन करते समय उसमें ज्ञान-तत्व के समावेश के स्थान पर प्रेम-तत्व को स्थान दिया है। सामान्यतः उन्होंने आत्मा की पति तथा परमात्मा की पत्नी के रूप में कल्पना करते हुए अपने काव्य में एक आध्यात्मिक रूपक की स्थापना की है और इस प्रकार प्रचलित हिन्दू-जन-कथाओं के माध्यम से अध्यात्म-तत्व का स्पष्टीकरण किया है। इन काव्यों की रचना अवधी भाषा में चौपाई तथा दोहा नामक छन्दों में हुई है। प्रेम-तत्व से समन्वित होने के कारण ये कृतियाँ साधारण जन-समुदाय के लिए अधिक बोधगम्य हो गई हैं। इनमें 'पद्मावत', 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'इन्द्रावती' उल्लेखनीय हैं और इनके अध्ययन से भारतवर्ष की दार्शनिक विचार-धारा के अतिरिक्त फारसी प्रेम-काव्य का साधारण परिचय भी मिल जाता है।

सगुण भक्ति-धारा को भी सामान्यतः राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है। कृष्ण-भक्त कवियों में कविवर सूरदास का सर्वश्रेष्ठ स्थान है और उनके अतिरिक्त अष्टछाप के नन्ददास, कृष्णदास, छीत-स्वामी, परमानन्ददास आदि अन्य कवियों तथा मीरा एवं रसखान ने भी उत्कृष्ट सरस भक्ति-पदों की रचना की है। इन सभी कवियों का काव्य मुख्यतः मुक्तक-रूप में लिखित है और इन्होंने ब्रजभाषा को अत्यन्त रम्य रूप में उपस्थित किया है। इस धारा की कृतियों में सूरदास की 'सूर-सागर' तथा नन्ददास की 'रास पंचाध्यायी' एवं 'भँवरगीत' नामक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इस धारा के कवियों ने श्रीकृष्ण के चरित्र के वात्सल्य, शृंगार एवं शान्त नामक रसों से सम्बद्ध पक्षों को अत्यन्त सरस रूप में उपस्थित किया है।

ब्रजभाषा के अमर कवि सूरदास का काव्य लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की बाल छवि से अंकित है। उनका 'सूर-सागर' वात्सल्य एवं शृंगार की प्रवहमान सरिताओं का संगम-स्थल है। शैशव-काल के प्रेम, स्पर्द्धा एवं रोष आदि कितने ही भावों का इसमें अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया गया है। कृष्ण के मथुरा-गमन पर विरह-विदग्धा गोपियों की करुण अभिव्यक्तियों में रस अपने स्वाभाविक रूप में छलछला उठा है। गोपी-उद्धव-सम्वाद में जिन भावनाओं का संकलन है वे यह प्रमाणित कर देती हैं कि कवि के हृदय में सच्ची भावुकता एवं स्नेह का वास है। विनय के पदों में कवि ने सख्य भाव को अत्यन्त मधुर रूप में ग्रहण किया है। 'सूर-सागर' का प्रत्येक पद स्वतन्त्र, आत्माभि-व्यंजक तथा कोमल-कान्त-पदावली से युक्त है। गोपियों की विरहोक्तियों में जिस मार्मिक अन्तःसलिला सरिता का प्रवाह है, वह दर्शनीय है :—

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन, पाछे करत बुरी॥

मुरली मधुर चेंप कर कांपो, मोरचंद्र ठटवारी ।
बक बिलोकनि लूक लागि बस, सकी न तनहिं सम्हारी ।।
तलफत छाँड़ि चले मधुबन को, फिरि कै लई न सार।
सूरदास वा कलप-तरोवर, फेरि न बैठी डार ।।

अष्टछाप से इतर कवियों में मध्ययुगीन कवयित्री मीरा का हृदय जिस संवेदना का आगार था, वह महादेवी के अतिरिक्त वर्तमान युग में अन्य किसी में सुलभ नहीं है । आत्म-साधना एवं गम्भीर चिन्तन से युक्त जिस अनन्य भक्ति-भावना का दर्शन उनकी कविता में होता है वह वास्तव में स्तुत्य है । विश्व के समस्त बन्धनों का त्याग कर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कृष्ण-भक्ति के लिए अर्पित कर दिया था ।

राम-भक्ति-शाखा के कवियों में गोस्वामी तुलसीदास का प्रमुख स्थान है और उनके सहयोगी कवियों ने प्रायः उनका ही अनुकरण किया है । गोस्वामी जी की रचनाओं में 'रामचरितमानस', 'विनय-पत्रिका', 'गीतावली' और 'कवितावली' प्रमुख हैं तथा उन्होंने राम-भक्ति में शील और मर्यादा का समावेश करते हुए उसे अत्यन्त आदर्श रूप प्रदान किया है । उनके काव्य में शान्त रस का भव्य रूप प्राप्त होता है । भावना के अतिरिक्त कला-क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है तथा अवधी और ब्रज-भाषा, दोनों पर अपने समान अधिकार की स्थापना की है । उन्होंने अपने हृदय की अनन्यता को 'रामचरितमानस' में पूर्णतः प्रतिबिम्बित कर दिया है । मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र का यह विश्लेपण निश्चय ही युग-युग तक विश्व-भावनाओं को प्रतिपादित कर मानवात्मा को परितृप्ति प्रदान करता रहेगा । इसका अध्ययन चिर-काल तक मानव-हृदय में श्रेप्ठ सात्विक भावों को उत्थान प्रदान करता रहेगा । स्वान्तः सुखाय रचना होने के कारण कवि का यह ग्रन्थ काव्य एवं कला, सभी की दृष्टि से एक अनुपमेय रचना है । रचना-कौशल, प्रवन्ध-पटुत्व तथा प्रकृति की अनेकरूपता, सभी को इसके कलेवर में उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है । ज्ञान और भक्ति का ऐसा समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है । कवि की द्वितीय महत्वपूर्ण कृति 'विनय-पत्रिका' में भक्त की दीनता एवं प्रभु की क्षमता का जो महान् दिग्दर्शन कराया गया है, वह प्रशंसनीय है । दर्शन-शास्त्र के विविध प्रचलित सिद्धान्तों को इसमें सुगमतापूर्वक प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है । विनय के पदों का इसमें बाहुल्य है । यथा :—

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम-कृपा-भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं ।।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन-मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति युग की कृतियों में सन्त कबीर का 'बीजक,' जायसी का 'पद्मावत', सूरदास का 'सूर-सागर', गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित-

मानस' और मीराबाई का पदावली-साहित्य प्रमुख हैं । इन सभी रचनाओं में भक्ति और नीति के स्वर प्रमुख रहे हैं और प्रायः भापा तथा भावना में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की गई है ।

रीति काल

भक्ति युग के अनन्तर हमारे समक्ष रीति युग का शृंगारिक वातावरण आता है । इस अवधि में कवि-कर्म के साथ-साथ काव्य-निर्णय, काव्य-रचना के नियमों और काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा करने का कार्य भी समानान्तर रीति मे हुआ है और प्रायः एक ही व्यक्ति ने कवि और आचार्य, दोनों रूपों में उपस्थित होने की चेप्टा की है । इस प्रकार के कवियों में सर्व श्री केशवदास, भूपण, देव, चिन्तामणि, मतिराम एवं भिखारी-दास प्रमुख हैं । इन कवि-आचार्यों ने अपनी-अपनी रुचि के आधार पर रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय आदि में मे किसी एक का अपने काव्य-शास्त्रों तथा कविताओं में समर्थन किया है । प्रायः रस, अलंकार और नायिका-भेद ही इस युग के प्रमख विचारणीय विपय रहे हैं ।

इसके अतिरिक्त केवल कवि-कर्म में लीन व्यक्तियों में कविवर बिहारीलाल, वृन्द, घनानन्द और लाल के नाम मुख्य है । बिहारी की 'सतसई' रीति काल के शृंगार-काव्य में सर्वश्रेष्ठ रचना है । शृंगार रस के अतिरिक्त इसमें कतिपय भक्ति और नीति-सम्बन्धी दोहों द्वारा शान्त रस का भी समुचित समावेश हुआ है । वीर रम की दृष्टि से इस युग में महाकवि भूपण ने 'शिवराजभूषण', 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल दशक'; लाल ने 'छत्र-प्रकाश' और सूदन ने 'सूदन-रत्नावली' नामक ग्रन्थ उपस्थित किये हैं । इस युग के प्रमुख काव्य-शास्त्रों तथा काव्य-ग्रन्थों में महाकवि केशवदास के 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया'; देव के 'सुजान-बोध' और 'भवानी-विलास'; घनानन्द का 'घनानन्द-ग्रन्थावली'; वृन्द की 'वृन्द-सतसई' और भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' उल्लेखनीय हैं ।

आधुनिक काल

रीति युग के उपरान्त हमारा प्रवेश सीधे आधुनिक काल में होता है । काल-क्रम की दृष्टि से इस युग का प्रारम्भ सम्वत् १९०० से होता है और इस प्रकार विशेष बृहत् न होने पर भी भावों की विभिन्नता और व्यापकता की दृष्टि मे इस युग का अपना पृथक् महत्व है । इस अवधि की काव्य-रचनाओं को हम मूलतः भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग, और प्रसादोत्तर युग में विभाजित कर सकते हैं । इस श्रेणी-विभाजन के अनुसार विचार करते समय सर्वप्रथम हमारे समक्ष भारतेन्दु-युग आता है । काव्य-धारा की दृष्टि से विशेष नूतन तथ्य प्रदान न करने पर भी इस युग का यही महत्व है कि इसमें शृंगार रस की तीव्रता का विरोध करते हुए उसका भक्ति के साथ सह-भाव स्थापित कर दिया गया और राष्ट्र-प्रेम की कविताओं की रचना की आवश्यकता के संकेत उपस्थित किये गये । इस युग के कवियों में सर्व श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र और सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रमुख

हैं। इन सभी कवियों ने प्रायः कृष्ण-भक्ति, शृंगार रस, राष्ट्र-प्रेम और हास्य रस को लेकर काव्य-रचना की है।

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय काव्य-धारा को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और कविगण व्रजभाषा के क्षेत्र से विमुख होकर खड़ी बोली में काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त होने लगे। भावनाओं की दृष्टि से भी इस युग में प्राचीन विचार-धारा अर्थात् रूढ़िवादिता का परित्याग कर नवीन विचारों के प्रति उत्साह प्रदर्शित किया गया। इस युग में स्फुट कविताओं के अतिरिक्त अनेक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्यों तथा खण्ड-काव्यों की भी रचना की गई। इन कृतियों में 'साकेत', 'जयद्रथ-वध', 'प्रिय-प्रवास', 'वैदेही बनवास', 'पथिक', 'मिलन', 'कादम्बिनी' और 'भारत-भारती' मुख्य हैं। इस युग के कवियों में श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पण्डित रामचरित उपाध्याय, पण्डित लोचनप्रसाद पाण्डेय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और गोपालशरणसिंह उल्लेखनीय हैं और इनमें से कुछ कवि आज भी अनवरत काव्य-साधना में लग्न हैं। यह स्पष्ट है कि इस युग में राष्ट्रीय जागरण और सामाजिक सुधार की भावना को मूल स्थान प्राप्त हुआ और प्राचीन रूढ़िवाद तथा अति शृंगारिक भावना का यथासम्भव परिहार कर दिया गया। इसके लिए इन कवियों ने भारत की प्राचीन सांस्कृतिक एकता का विशिष्ट आधार ग्रहण किया और वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिये उसी भव्य वातावरण से आदर्श ग्रहण किये। इनमें से भी श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त की चिंतन-प्रधान प्रणाली मुख्य रही और वह आज भी उसी प्रकार हिन्दी-काव्य का पथ प्रशस्त कर रहे हैं।

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी-काव्य का इतिहास वाद-परम्परा की ओर उन्मुख हो गया। उसके तुरन्त बाद ही हमारे समक्ष छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद का क्रमिक आविर्भाव हुआ। छायावाद में प्रकृति-सौंदर्य के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया गया और कविगण कल्पना के आधार पर अव्यक्त को भी व्यक्त रूप प्रदान करने के लिए सचेष्ट रहने लगे। छायावादी कवियों ने अचेतन में चेतन के दर्शन किये और सृष्टि के प्रत्येक तत्व को मधुर रूप में सस्वर किया। इस सूक्ष्म भाव-लहरी का उद्भावन करने वाले कवियों में श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद', सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुश्री महादेवी वर्मा का स्थान मुख्य रहा और उनसे प्रेरणा ग्रहण कर नरेन्द्र शर्मा, आरसीप्रसादसिंह आदि अनेक अन्य कवियों ने भी इसमें उल्लेखनीय योग प्रदान किया। इन कवियों ने अपनी काव्य-रचनाओं में इतर विषयों का समावेश करने के अतिरिक्त छायावाद को प्रमुखतम अभिव्यक्ति प्रदान की है। 'प्रसाद' जी का 'कामायनी' नामक महाकाव्य भी इसी युग में प्रणीत हुआ और पन्त जी ने अपने 'पल्लव' तथा 'निराला' जी ने अपने 'परिमल' की रचना भी इसी समय की। इसी युग के आस-पास सुश्री महादेवी वर्मा ने अपनी 'यामा' नामक काव्य-रचना द्वारा तथा डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी विभिन्न कविताओं के माध्यम से छायावाद के साथ-साथ रहस्यवाद की भी सरस व्याख्या उपस्थित की है।

रहस्यवादी कवियों ने आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर अपने काव्य में सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत उपस्थित किये हैं और इस प्रकार जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति के चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करने का उत्कृष्ट प्रयास किया है। इस दिशा में श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद', डा० रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा ने विशेष कार्य किया है। प्रगतिवादी कवियों ने एकतन्त्र और पूँजी के संग्रह से उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन करते हुए शोषित वर्ग का समर्थन किया है। इस धारा के प्रवर्तकों की चेतना मूलतः रूसी क्रान्ति की ओर उन्मुख रही है और वे भारतीय संस्कृति का विस्मरण कर केवल उग्र भावाभिव्यक्ति में लीन रहे हैं। इतना होने पर भी इसके कुछ कवियों ने गम्भीर रचनाएँ उपस्थित की हैं और इसे हिन्दी-काव्य के इतिहास में स्थान दिलाया है। इन व्यक्तियों में कविवर सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामधारीसिंह 'दिनकर' और शिवमंगलसिंह 'सुमन' मुख्य हैं। प्रगतिवाद के सामान्य स्तर का स्पर्श करने वाले अन्य कवियों में श्रीयुत रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', नरेन्द्र शर्मा और रामावतार त्यागी के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय मध्यवर्ती धारा के रूप में हालावाद का जन्म हुआ। इसके प्रवर्तन का श्रेय कवि श्री हरिवंशराय 'बच्चन' को प्राप्त है। इस प्रवृत्ति का अनुसरण करने वाले कवियों ने फारस की प्रेममय कविता का अध्ययन करने के उपरान्त उन्हीं रेखाओं पर काव्य-रचना की है। इस प्रकार उनके काव्य-विषयों में मधु, मधुशाला, मधु-चषक और मधुबाला को ही मूल महत्व प्राप्त हुआ है। हिन्दी के नव प्रतिभाशाली कवियों में श्रीयुत चिरंजीत ने इस ओर विशेष सफलता प्राप्त की है। अभी कुछ समय पूर्व हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में प्रयोगवाद के नाम से एक नई भाव-धारा का आरम्भ हुआ है। इस धारा के कवियों का रूप के प्रति विशेष आग्रह है और वे कल्पना पर आवृत सूक्ष्म भाव कथन की प्रणाली को सर्वथा अनावश्यक मानते हैं। इन कवियों में श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', श्री गिरिजाकुमार माथुर, श्री प्रभाकर माचवे और श्री धर्मवीर 'भारती' मुख्य हैं। इनमें से प्रगतिवाद को पर्याप्त समय तक प्रमुख स्थान प्राप्त रहा, किन्तु वर्तमान समय में वह मरणोन्मुख हो गया है अर्थात् अब उसकी ओर कवियों का अधिक ध्यान नहीं रह गया है। शेष दोनों काव्य-धाराओं (हालावाद तथा प्रयोगवाद) का कुछ आलोचकों द्वारा समर्थन किया गया है और कुछ ने उनके प्रति विरोध प्रदर्शित किया है।

प्रसादोत्तर युग के अधिकांश कवि प्रसाद-युग से ही सम्बन्धित रहे हैं अर्थात् उनका काव्य-रचना-काल उसी युग में प्रारम्भ हो गया था, तथापि इस युग में सर्व श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी, हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा और मोहनलाल द्विवेदी आदि अनेक नवीन कवियों ने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वर्तमान हिन्दी-कविता के भाव-क्षेत्र में राष्ट्रीयता, सामाजिकता और प्रकृति-प्रेम का अधिक व्यापक आधार पर समावेश किया गया है और कला-क्षेत्र में छन्दोबद्ध कविताओं के अतिरिक्त काव्य में प्रबन्धात्मकता, गीति-तत्व, मुक्त-छन्द-प्रणाली और अतुकान्त रचना का समावेश किया

गया । नवीन कवियों द्वारा प्रतिपादित नवीन काव्य-विषयों में सबसे अधिक उल्लेखनीय विषय कविताओं में ग्राम-गीतों की भावनाओं का समावेश करना है । भारतीय ग्राम-गीतों में विविध पारिवारिक आदर्शों तथा मानवीय स्नेह का जो सहज समावेश उपलब्ध होता है, उससे समन्वित होने पर हिन्दी-कविता निश्चय ही विशेष गौरव को प्राप्त कर सकेगी । विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के काव्य के हिन्दी-अनुवाद और उससे प्रेरित काव्य-सृजन की भी आज अत्यन्त आवश्यकता है ।

: २ :

चन्द की काव्य-चेतना

कविवर चन्दबरदाई हिन्दी की वीरगाथाकालीन काव्य-धारा के प्रमुख प्रवर्तक और समर्थक थे। युग की आवश्यकता का अनुभव करते हुए उन्होंने अपने काव्य में वीर रस को प्रमुख अभिव्यक्ति प्रदान की थी और अपने काव्य की विशालता के द्वारा प्रत्येक प्रकार से यह प्रयत्न किया था कि तत्कालीन अन्य कवि भी उनका अनुकरण करते हुए आत्मा के शौर्य-प्रेरित उन्नयन में सहयोग प्रदान करें। 'पृथ्वीराज रासो' जैसे विशाल ग्रन्थ का प्रणयन उन्होंने निश्चित रूप से इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया था। यद्यपि यह सत्य है कि समानान्तर आधार पर इस कृति में शृंगार रस को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि शृंगार का यह सम्पूर्ण वैभव श्रेयात्मक है, प्रेयात्मक नहीं। वस्तुत: उक्त रस की सम्पूर्ण चेतना वीर रस के कार्य-क्षेत्र को और भी अधिक सूक्ष्म बनाने में प्रयुक्त हुई है। इतने वृहत् ग्रन्थ में वीर रस से भिन्न अन्य रसों का गौण संग्रहण कोई बहुत अधिक असमानता का विषय भी नहीं है। अत: यह नितान्त स्पष्ट है कि महाकवि चन्दबरदाई ने अपने काव्य में वीर रस की प्राणमयी स्फुरणात्मक शौर्य-धारा को मूर्धन्य पर अभिषिक्त किया है और उसके द्वारा राष्ट्रवाद की पुण्य आत्मा को और भी अधिक बल प्रदान किया है।

चन्द का पूर्ववर्ती युग अध्यात्म-चेतना की सजग आन्तर अभिव्यक्ति का युग था और अस्थिरता के फलस्वरूप उसके मूल में शनै: शनै: जिस अवचेतनात्मक अध्यात्म का प्रतिपादन प्रारम्भ हो गया था, उससे भी चन्द का गम्भीर परिचय था। वर्णन की प्राचीन प्रणाली का पूर्ण परित्याग कर नवीन को व्यापक प्रश्रय प्रदान करने की भावना उनकी मौलिकता और स्वतन्त्र चिन्तन की सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। किसी युग-कवि के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें सजग समाज-दर्शन की क्षमता हो और वह अपने सबल आत्म-दर्शन से समग्र सामाजिक गतिरोध का निराकरण करने में समर्थ हो। सन्तोष का विषय है कि चन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व, दोनों में ही इन गुणों का उपयुक्त समावेश हुआ है और वह अत्यन्त सन्तुलित आधार पर अपने वर्ण्य का संयोजन करने में समर्थ हो सके हैं।

महाकवि चन्दबरदाई का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि जन-समाज के एक विशिष्ट वर्ग ने उनकी कृति की प्रशंसा करते हुए भी उसे अपनी जीविका का साधन बनाया है। चारण-बन्धुओं ने स्वयं निर्व्यक्त रहकर प्रच्छन्न रूप से इस महाकवि की जो साहित्यिक हत्या की है, वह सम्भवत: सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र विरल ही है। उनके शान्त

विष-दंशन का प्रथम फल तो उसी समय दृष्टिगत हो जाता है, जब हमें 'पृथ्वीराज-रासो' के समान राष्ट्रीय ग्रन्थ की किसी भी प्रति में एकरूप्य प्राप्त नहीं होता। पूर्वाग्रहों को पृथक् रखकर जब हम इस कृति का साहित्यिक मूल्यांकन करने की दिशा में प्रवृत्त होते हैं तब हमें उसके पाठ की विविधता सबसे अधिक चिन्तनीय लगती है। यथार्थ समीक्षण के लिए यह अनिवार्य है कि हम उसके संकलित रूप के दर्शन करें। अतः हमारा यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि स्थूल दृष्टिकोण का परित्याग कर 'रासो' के वर्तमान रूप का सूक्ष्म धरातल पर अध्ययन किया जाये और इसी चेतना के आधार पर उसके प्रक्षिप्त अंशों का सहज निवारण कर दिया जाये।

चन्द ने अपने काव्य में राजस्थान की परम्पराओं और उनके गौरवशाली निर्माताओं के प्रति अपने हृदय की समस्त श्रद्धा अर्पित कर उनका अत्यन्त ओजस्वी वाणी में स्तव-गान किया है। उन्होंने अपनी रचना में स्थान-स्थान पर देश की मध्यकालीन संस्कृति का अत्यन्त पक्ष और क्रान्तिकारी वर्णन किया है। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण कवि-प्रतिभा का उपयोग कर राजस्थानी लोक-जीवन के तत्कालीन स्वरूप को अत्यन्त स्वस्थ आधार पर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। यह सत्य है कि वर्ण्य विषय का संयोजन करते समय कतिपय स्थलों पर उन्होंने वस्तु-चेतना का उपयुक्त आधार पर संग्रहण नहीं किया है, किन्तु इतना निश्चित है कि उनके काव्य में अनेक स्थलों पर राष्ट्र की आत्मा में वीर-भाव का स्फुरण करने की शक्ति सन्निहित है। सम्भवतः प्रक्षिप्त अंशों के अत्यधिक समावेश ने भी तथ्य के वैपरीत्य में मुख्य योग प्रदान किया होगा।

कविवर चन्दबरदाई अत्यन्त समर्थ और शक्तिवान साहित्यिक थे। उनके काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनमें एक विशिष्ट प्रकार की वर्णन-प्रतिभा थी और वह श्रोता अथवा अध्येता की चेतना को अपनी ओर आकर्षित करने में पूर्णतः कुशल थे। वीर रस से सम्बद्ध वातावरण उन्हें विशेष प्रिय था और यही कारण है कि उनके तद्विषयक वर्णन हृदय पर तुरन्त प्रभाव डालते हैं। वास्तव में उन्होंने युद्ध-भूमि के समस्त प्रभावोत्पादक और प्रेरणाशील दृश्यों का अत्यन्त ओजस्वी शैली में विस्तृत वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त वीर रस के अनुकूल ओज-सौष्ठव से संयुक्त भाषा का प्रयोग करने में भी वह अग्रणी रहे हैं और इस दिशा में अपने परवर्ती कवियों का उन्होंने पर्याप्त पथ-प्रदर्शन किया है। इस प्रकार वीर रस उनकी आत्मा का एक अभिन्न अंग बन गया है और अपने साहित्य में उन्होंने सर्वत्र इससे संयुक्त वातावरण में ही श्वास ग्रहण किये हैं। निम्नलिखित शब्द उनकी तत्सम्बन्धी अनुरक्ति के उत्कृष्ट प्रतीक हैं :—

जीविते लभ्यते लक्ष्मी, मृते चापि सुरांगणा।
क्षणे विध्वंसिनी काया, का चिंता मरणे रणे॥

उपर्युक्त पद के अध्ययन से उनके उस विश्वास के भी स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं, जिसके अनुसार पुरातन काल से यह सम्पादित किया गया है कि अरि से प्रतिशोध लेते हुए रण में मरण भी उत्कृष्ट फल का दायक होता है और उससे स्वर्ग में सुन्दर रम-

णियों के साहचर्य की उपलब्धि होती है। इससे उनके चरित्र के राग-पक्ष पर भी उपयुक्त प्रकाश पड़ता है और उनके मन की अतिरिक्त रसात्मकता हमारे समक्ष पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। यही कारण है कि उन्होंने वीर रस के उन्मेषकारी वर्णन प्रस्तुत करने के साथ-साथ श्रृंगार रस के मनोरम चित्रों की भी अत्यन्त सरल अवतारणा की है। श्रृंगार रस के अन्तर्भूत समग्र शास्त्रीय अंगों का उनकी कविता में उपयुक्त स्थलों पर समावेश हुआ है। सौन्दर्य का चित्रण करते समय उन्होंने प्रायः उद्दीपन विभाव का ही अपने लक्ष्य में रखा है। इस दृष्टि से उन्होंने वयः सन्धि के अवसर पर पद्मावती के रूप का अत्यन्त मनोमुग्धकारी चित्रण किया है।

कविवर चन्दबरदाई ने अपने 'पृथ्वीराज रासो' में युग की परिस्थितियों का अनुगमन करते हुए वीर रस को ही प्रमुख स्थान प्रदान किया है, तथापि सहायक रस के रूप में उन्होंने स्थान-स्थान पर श्रृंगार रस का भी आश्रय ग्रहण किया है। श्रृंगार रस के इन वर्णनों में कवि को अधिकांशतः सफलता की ही प्राप्ति हुई है। यद्यपि कतिपय स्थलों पर उन्होंने रस का संयोजन करने के लिए ही भावों की अवतारणा की है, तथापि ऐसे स्थल उनके काव्य में कम ही हैं। आगे हम इन दोनों ही विधाओं का क्रमशः विवेचन करेंगे :—

मनहुँ कला ससिभान, कला सोलह सो बन्निय।
बाल बंस ससि ता समीप, अम्रित रस पिन्निय॥
बिगसि कमल-स्रिग भ्रमर, नैनु खंजन मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नख-सिख अहिघुट्टिय॥
छत्रपति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय सचै सचिय।
पद्मिनिय रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम कामिनी रचिय॥

—(पद्मावती समय)

यद्यपि उपर्युक्त उदाहरण में कवि ने परम्परागत उपमानों के माध्यम से ही रूप-चित्र को उपस्थित किया है, तथापि रस-निर्वाह की दृष्टि से इसमें उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। इसके अध्ययन से यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि कवि की दृष्टि विषय पर केन्द्रित रही है और उन्होंने अपनी मानसिक धारणाओं की पूर्ण व्याख्या उपस्थित करने का प्रयास किया है। तथापि इस स्थिति के विपरीत हमें इसके विलोम रूप में कतिपय अन्य छन्द भी उपलब्ध होते हैं। यथा :—

मनहु काम कामिनी रचिय, रचिय रूप की रास।
पसु पंछी सब मोहिनी, सुर नर मुनियर पास॥
सामुद्रिक लच्छन सकल, चौंसठि कला सुजांन।
जानि चतुरदस अंगषट, रति बसंत परमांन॥

—(पद्मावती समय)

इस उदाहरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमें रस-विधान के तत्वों की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इसमें भावात्मकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता के तत्व को ही अधिक

स्थान प्राप्त हुआ है और यही कारण है कि इसकी गति में स्वच्छन्दता का अभाव है। नख-शिख-वर्णन के उपरान्त इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति किसी भी अवस्था में उचित प्रतीत नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द ने 'रासो' में शृंगार रस को भी उचित स्थान प्रदान किया है। प्रस्तुत काव्य के अनेक अध्यायों में इस रस का अत्यन्त सुन्दर रीति से निर्वाह हुआ है। उनका अध्ययन करने पर सामान्यतः हमें कवि की चेतना के पूर्ण प्रकर्ष के दर्शन उपलब्ध होते हैं। रसात्मक बोध की दृष्टि से इन अध्यायों का अपना अन्यतम महत्व है। यद्यपि कहीं-कहीं शुष्क वृत्ति का संचरण भी इनमें हुआ है, किन्तु हिन्दी के उस आदिम युग में यह प्रवृत्ति सर्वथा क्षम्य है। रस-निर्वाह की पूर्णता की दृष्टि से चन्द के शृंगार-वर्णनों का अनुशीलन करने पर हम देखते हैं कि उनकी रचना करते समय कवि की मानसिक चेतना पूर्णतः उल्लासमग्न रही है। इस दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' के प्रमुखतम अध्याय 'पद्मावती समय' का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उसमें कवि को नायिका के सौन्दर्य का चित्र अंकित करने में पर्याप्त सफलता की उपलब्धि हुई है। इस प्रकार के चित्रों में पद्मावती की भावनाओं के विकास का अंकन करने का भी कवि ने प्रयत्न किया है। केवल सौन्दर्य का चित्र अपने में अतिभौतिक होने के कारण अग्राह्य हो सकता है, किन्तु शृंगार के मृदु स्वरूप से समन्वित होने के कारण चन्द के काव्य में वह पूर्ण निखार को प्राप्त कर चुका है। इस प्रकार के वर्णनों में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति के होने पर भी प्रकृत चित्रण की व्यंजना उपलब्ध होती है। इसी प्रकार का एक छन्द देखिए :—

मन अति भयो हुलास, बिगसि जनु कोक किरन रबि।
अरुन अधर तिय सुधर, बिंब फल जान कीर छबि॥
यह चाहत चष चकित, उह जु तक्किय झरप्पि झर।
चंच चहुट्टिक लोभ, लियो तब गहित अप्प कर॥
हरसत अनंद मन महि हुलस, लै जु महल भीतर गई।
पंजर अनूप नग-मनि जटित, सो तिहि महँ रुष्षत भई॥

—— (पद्मावती समय)

इस अवतरण में काव्य-गति के साथ-साथ क्रियाशीलता का भी एक निश्चित रूप में सन्निहन हुआ है और चमत्कार-प्रेरित होने पर भी यह पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इतना होने पर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि प्रस्तुत काव्य में कहीं-कहीं रस का तत्व शिथिल पड़ गया है। सौन्दर्य का चित्रण करने के अनन्तर कवि द्वारा उसका पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाया है। भाव का विकास अत्यन्त श्रेष्ठ रीति से होने पर भी अन्त में कहीं न कहीं खण्डित अवश्य हो जाता है। इस दृष्टि से नख-शिख के उपरान्त कवि का निम्नलिखित प्रतिपादन किसी भी भान्ति उचित प्रतीत नहीं होता :—

कीर कुँवरि-तन निरखि दिखि, नख-सिख लौं यह रूप।
करता करी बनाय कैं, यह पद्मिनी सरूप ॥

—(पद्मावती समय)

'पृथ्वीराज रासो' का अध्ययन करने पर इतना निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें शृंगार रस की सम्पूर्ण चेतना वीर रस के सम्यक् प्रतिफलन में सहायता देने की ओर प्रेरित रही है। इस दृष्टि से शृंगार रस का अपना महत्व प्रमाणित अवश्य होता है, किन्तु कवि का ध्यान वीर-भाव पर ही केन्द्रित रहा है और प्रस्तुत अध्याय का परिशीलन करते समय हमें इसे प्रमुख रूप से ध्यान में रखना चाहिए। तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके काव्य के शृंगार-प्रकरण रस-परिपाक की दृष्टि से पूर्णता की ओर नहीं जा सके हैं। वास्तव में संयोग-पक्ष की भाँति चन्द ने अपने काव्य में शृंगार रस के विप्रलम्भ-पक्ष का भी उपयुक्त चित्रण किया है। युद्ध और प्रेम के सम्मिलित वातावरण के कारण उस युग के कवि से यही अपेक्षित भी हो सकता था। इसी भावना के फलस्वरूप जहाँ उन्होंने एक ओर युद्ध-काल की विभीषिका का चित्रण किया है, वहाँ दूसरी ओर वीर-पत्नियों के विरह और विजयी होकर लौटने वाले पति के साथ उनके संयोग का भी उन्होंने सरस चित्रण किया है। बहुविवाह की प्रथा ने भी इसमें पर्याप्त योग प्रदान किया है और उसके फलस्वरूप सपत्नियों को प्रायः विरह की अनुभूति हुई है। चन्द ने विरह-भाव की इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए उसे अत्यन्त मार्मिक रूप में उपस्थित किया है। इस विषय में कवि का अध्ययन निरन्तर अत्यन्त सूक्ष्म रहा है और यही कारण है कि विरह-काल में नारी-जीवन के प्रत्येक सत्य का उद्भावन करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इसी के फलस्वरूप उन्होंने संयोगिता की वियोग-दशा का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि संयोग की स्मृतियाँ वियोग के अवसर पर विष-बाण का कार्य करती हैं और उनकी मधुर चेतना अन्तम् में एक तीव्र व्यथा को बरबस उद्भावित कर देती हैं। यथा :—

वही रत्ति पावस्स, वही मघवान धनुष्षं ।
वही चपल चमकंत, वही बगपंत निरष्षं ॥
वही घटा घनघोर, वही पप्पीह मोर सुर ।
वही जमीं असमान, वही रवि ससि निसि वासुर ॥
वेई आवास जुग्गिनि पुरह, वेई सहचरि मंडलिय ।
संजोगि पयंपति कंत बिन, मुहि न कछू लग्गत रलिय ॥

काव्य में उत्साह और स्फूर्ति का विधान करने के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें वीर रस की व्यापक आधार पर अवतारणा की जाये। चन्द और उनके समकालीन कवि इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे और यही कारण है कि जहाँ युगीन परिस्थितियों के फलस्वरूप उनके काव्य में वीर रस का समावेश सम्भव हो सका है, वहाँ इस आवश्यकता का अनुभव करते हुए उन्होंने उसकी योजना की है। चन्द इस दिशा में

विशेष सतर्क रहे हैं और उक्त रस के विभिन्न सूक्ष्म तथा स्थूल रूपों का उन्होंने विशेष उल्लेख किया है। यही कारण है कि रणोन्मुख सैनिक की मानसिक भावावस्था का उल्लेख करने के साथ-साथ उन्होंने युद्ध-भूमि की सामान्य परिस्थिति का वस्तुपरक चित्रण भी किया है। वीर रस के मूल में जिस गति और प्रवाह की आवश्यकता होती है, उसका संग्रहण करने में वह पूर्णतः सफल रहे हैं। वस्तुतः उक्त रस के वातावरण का निर्माण करते समय कवि ने ओज और शौर्य का अत्यन्त उपयुक्त आधार पर संचयन किया है और अपनी प्राणमयी रस-चेतना के कारण उनका तद्विषयक प्रत्येक वर्णन अध्येता की मनसा पर तत्कालीन प्रभाव डालता है। यथा :—

गिरद्दं उड़ी भाँन अंधार रैनं।
गई सूधि, सुज्झे नहीं मज्झि नैनं॥
सिरं नाय कम्मान प्रथिराज राजं।
पकरियै साह जिमि कुल्लिंग बाजं॥
लै चल्यौ सिताबी करी फारि फौजं।
परे मीर सै पंच तहँ षेत चौजं॥
रजं पुत्त पंचास जुज्झे अमोरं।
बजे जीत के नद्द नीसांन घोरं॥

—(पद्मावती समय)

काव्य-चमत्कार की योजना के साथ-साथ चन्द ने मानव-जीवन की गहन अनुभूति से व्याप्त नीतिपरक छन्दों का भी प्रचुर प्रणयन किया है। इस प्रकार के प्रकरण स्वतन्त्र रीति से अधिक प्राप्त न होने पर भी उनके विशालकाय वीर-काव्य 'पृथ्वीराज रासो' में अंगीभूत रूप में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। प्रायः कवि ने इनके अन्तर्गत जीवन के किसी एक मर्म का अत्यन्त स्वाभाविक रीति से सहर्ष उल्लेख कर दिया है। व्यक्ति के आन्तरिक भावों और उसके जीवन के सत्य का उद्घाटन करने के कारण इस प्रकार के छन्द साहित्य में सदैव समादृत होते आये हैं। कवि ने इनके द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी मनसा पूर्णतः राग-मुक्त है और वह जीवन तथा जगत् के विषय में अत्यन्त शान्त चित्त से शोध कर सकते हैं।

कला-पक्ष की दृष्टि से चन्द की काव्य-वस्तु की विवेचना करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने राजस्थानी भाषा को अपनी रचना के लिये माध्यम के रूप में ग्रहण किया है। यद्यपि एकत्व की दृष्टि से उनके सम्पूर्ण साहित्य में इसी भाषा का प्रयोग हुआ है, तथापि उन्होंने स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं से शब्द-चयन करने की प्रवृत्ति का भी परिचय दिया है। यही कारण है कि उनके काव्य में अनेक स्थलों पर संस्कृत और प्राकृत की काव्य-शैलियों के आधार पर अनुस्वारांत शब्दों की योजना हुई है। मुस्लिम संस्कृति के सूचक अरबी और फारसी शब्दों का भी उसमें प्रचुर व्यवहार हुआ है। शब्दों के इस विविध प्रयोग की स्थिति किसी भी दशा में चिन्तनीय नहीं है। वस्तुतः इससे सम्बद्ध कवि की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं और यह प्रतीत

होता है कि कवि का लक्ष्य साहित्य को समानता के एक विशिष्ट आधार पर संयोजित करना है ।

प्रक्षिप्त अंशों के समावेश के कारण कविवर चन्दबरदाई के काव्य में एकरूपता का प्राय: विशृंखलन हो गया है । इसके फलस्वरूप उनकी रचना में अनेक स्थलों पर हिन्दी के प्राचीन साहित्यिक स्वरूप के साथ-साथ उसके आधुनिक रूप का भी व्यवहार हुआ है । यह प्रयोग निश्चय ही अपने आप में अवांछित है और इसके द्वारा हमारे समक्ष सहसा एक अत्यन्त विषम परिस्थिति उपस्थित हो जाती है । उनकी भाषा का और भी अधिक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने प्राय: एक शब्द को विभिन्न रूपों में प्रयुक्त करने की स्थिति पर बल दिया है । वैविध्यपूर्ण होने पर भी यह प्रवृत्ति साहित्य की स्वाभाविकता के लिए नितान्त घातक है । यथा :—

(१) शैल, सैल, सयल, सइल ।
(२) दिल्ली, दिल्लय, ढिल्लिय ।
(३) एक, इक, इक्क, इकि, इकह ।
(४) द्रुग्ग, दुग्ग, द्रुग्गह, शुद्ध शब्द (दुर्ग) ।
(५) दीह, दिन ।
(६) सद्द, साद, शुद्ध शब्द (शब्द) ।

चन्द ने भाषा को ओजपूर्ण बनाने के लिए प्राय: प्राचीन शब्दों को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा की है, किन्तु कहीं-कहीं उनका यह प्रयत्न पूर्णत: निष्फल हो गया है । यथा :—

(१) दुज (शुद्ध संस्कृत-शब्द—द्विज) ।
(२) अभग्ग (शुद्ध संस्कृत-शब्द—अभग्न) ।
(३) परवेश (शुद्ध संस्कृत-शब्द—प्रवेश) ।

इसी प्रकार व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों के कारण उनके काव्य में यत्र-तत्र अस्वाभाविकता के दोष का संचार हो गया है । अप्रचलित शब्दों की प्रयुक्ति के फलस्वरूप भी उनकी भाषा की क्लिष्टता में वृद्धि हुई है । यथा :—

(१) माढ़— मनुष्य ।
(२) बाहल— बादल ।

चन्द की भाषा उनकी स्वयं की आविष्कृति है और यही कारण है कि उसमें उनकी रुचि का पूर्ण प्रतिबिम्ब दृष्टिगत होता है । रसानुकूल होने के साथ-साथ उनकी भाषा में गति और संगीत का गुण भी पूर्णत: वर्तमान है । अलंकारों के सुष्ठु प्रयोग और वर्णन-शैलियों के वैविध्यपूर्ण संयोजन द्वारा उन्होंने अपने काव्य के अधिकांश भाग में अत्यन्त रमणीय वातावरण की सृष्टि की है । छन्द-योजना में भी उन्होंने सचेत रहने की भरसक चेष्टा की है, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि छन्दों के परिवर्तन के कारण उनकी भाषा के प्रवाह में पर्याप्त अवरोध उपस्थित हुआ है ।

'रासो' पर प्रमुख आरोप यह है कि उसकी अनेक घटनाओं को कवि ने इतिहास के विरुद्ध अत्यन्त भ्रामक रूप में उपस्थित किया है, किन्तु कृति के अन्तर्साक्ष्य के आधार पर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि चन्दबरदाई ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार के अनैतिहासिक प्रकरणों का समावेश किया होगा। उन्होंने स्पष्ट ही यह प्रतिपादित किया है कि वह तथा महाराज पृथ्वीराअ आजीवन स्नेह-सूत्रों में आबद्ध रहे और उनके इस कथन पर विश्वास करने के अनन्तर कोई कारण नहीं रह जाता कि हम यह न मान लें कि पृथ्वीराज के वैयक्तिक तथा राजनैतिक जीवन से उनका पूर्ण परिचय था। इस स्थिति के अनुसार यही अधिक सम्भव है कि चन्द के उत्तरकालीन कवियों ने ऐतिहासिक वीर-पुरुष पृथ्वीराज के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए उनकी स्तुति में जिन छंदों का निर्माण किया, वे ही शनैः शनैः अज्ञान में 'रासो' में सन्निविष्ट हो गए। इतिहास के क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध न होने के कारण इन कवियों का पृथ्वीराज-विषयक ज्ञान निश्चित रूप से अधूरा ही था और इसी कारण इनके द्वारा वर्णित विषयों में सत्य की अपेक्षा प्रक्षेप का परिमाण ही अधिक रहा। इस विषय में हमारी सम्मति यही है कि 'पृथ्वीराज रासो' अपने मूल रूप में तथ्यों पर ही आधारित था। कवि-कल्पना के कारण उसमें कुछ अतिरंजना की स्थिति हो सकती है, किन्तु इतिहास-विरुद्ध घटनाओं का उल्लेख चन्द ने कभी न किया होगा और इस प्रकार के सभी प्रसंगों के समावेश के लिए उनके परवर्ती कवि ही उत्तरदायी हैं।

'रासो' का महाकाव्यत्व

'साहित्य-दर्पण' के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमें आठ या आठ से अधिक सर्गों की स्थिति होनी चाहिए। उसके नायक को सात्विक गुणों से युक्त देवता, राजा अथवा कुलीन-वंशोत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए। उसमें शृंगार, वीर अथवा शांत नामक रसों में से किसी एक को मुख्य रूप में ग्रहण कर अन्य रसों को सहकारी रसों के रूप में स्वीकृत करना चाहिए। उसमें प्राचीन इतिहास अथवा पुराणों से संकलित अथवा किसी महापुरुष के आचरण से सम्बन्धित कथा को ग्रहण कर जीवन के विविध पक्षों के उद्घाटन का यत्न होना चाहिए। उसमें प्रासंगिक कथाओं का समावेश मुख्य कथा के अन्तर्गत होना चाहिए, किन्तु उनका परस्पर सम्बद्ध होना आवश्यक है। उसमें प्रकृति के रमणीय दृश्यों का अत्यन्द विशद वर्णन होना चाहिए। उसके प्रत्येक सर्ग में केवल एक ही छन्द होना चाहिए और उसे सर्ग के अन्त में अनिवार्य रूप से परिवर्तित हो जाना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर 'रासो' का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि उसमें इनमें से अधिकांश का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। उसकी कथावस्तु ६९ सर्गों में विभक्त है और उसके नायक महाराज पृथ्वीराज कुलीनवंशी तथा धीरोदात्त हैं। उसमें वीर रस को प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है तथा शृंगार, रौद्र एवं भयानक आदि सभी अन्य रसों को उसके सहकारी रसों के रूप में स्वीकृत किया गया है। उसमें इतिहास-

प्रसिद्ध कथानक को जीवन के विविध कार्य-क्षेत्रों के साथ समन्वित किया गया है। प्रासंगिक कथाओं का निर्वहन उसमें सदैव गौण रूप में हुआ है और वे कहीं भी मुख्य विषय से पृथक् नहीं हुई हैं। प्रकृति के साथ भी कवि का पर्याप्त तादात्म्य रहा है, परन्तु यह सब कुछ होने पर भी हम 'रासो' को एक महाकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि समष्टि रूप में वह हमारे मन पर उस प्रकार का लोकोत्तर प्रभाव नहीं छोड़ता जो एक महाकाव्य के लिए आवश्यक है। भारतीय साहित्य के 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति का जो संगुंफन उपलब्ध होता है, उसका यहाँ सामान्यतः अभाव है। कवि की दृष्टि अपने आश्रयदाता के शौर्य तथा उसकी अन्य क्रिया-वृत्तियों पर ही निर्भर रही है, जो इस तथ्य की प्रतीक है कि कवि के अध्ययन में व्यापक दृष्टिकोण को कोई विशेष गम्भीर स्थान प्राप्त नहीं हुआ है।

कवि ने अपने वर्ण्य विषयों का जीवन और जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता उपलब्ध नहीं हुई है। 'रासो' के कथानक का प्रवाह भी अनेक प्रकरणों में कुछ-कुछ अवरुद्ध हो गया है। किसी भी श्रेष्ठ महाकाव्य के लिए यह एक बहुत गम्भीर दोष की बात है। घटना-सम्बन्ध के इसी उचित परिपालन के महत्व की उद्घोषणा करते हुए कविवर माघ ने कहा था :—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥

'रासो' में प्रबन्ध की गति पूर्णतः स्वतन्त्र एवं नियमित नहीं रह पाई है। अवान्तर कथानकों की आयोजना करते समय भी कवि ने व्यापक आदर्शों के प्रतिष्ठान की ओर इतना अधिक ध्यान नहीं दिया है। वीररसात्मक काव्य होने पर भी उसमें युग का निर्माण करने वाली क्रान्तिकारी भावनाओं का अभाव है। इस सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'रासो' महाकाव्य न होकर एक विशालकाय वीर-काव्य ही है। इस ग्रन्थ की रचना राजपूताना के उस युग में हुई थी जब वहाँ सामन्तवाद की संकुचित मनोवृत्ति का प्राबल्य था। उस युग में कवि से इससे अधिक की आशा की भी नहीं जा सकती थी। कवि ने युद्धों की अतिशय आयोजना की है, किन्तु सन्तोष का विषय है कि उनसे हिन्दू-साम्राज्य के पतन का विधान करने वाली परिस्थितियों का संकेत अवश्य मिलता है।

'रासो' के प्रारम्भ की प्रशस्तियाँ और इसी प्रकार की अन्य विधाएँ इस बात की प्रमाण हैं कि कवि को काव्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान था। हमारी दृढ़ धारणा है कि यदि 'रासो' के प्रक्षिप्त अंशों का निवारण कर दिया जाए तो उसके सम्बन्ध में प्रचलित अनेक धारणाओं की अनियमितताओं का परिहार अवश्य हो जायेगा। महाकाव्य की दृष्टि से सफल न होने पर भी उसमें काव्य के उपादानों का स्तुत्य समावेश दृष्टिगत होता है। सन्दिग्ध प्रकरणों के हट जाने पर संभव है कि हम उसमें महाकाव्य के सौंदर्य के भी दर्शन कर सकें।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'रासो' का आकार प्रारम्भ में इतना बृहत् न रहकर सीमित ही रहा होगा। यदि हमारे समक्ष 'रासो' की वही शुद्ध तथा मूल प्रति आती तो हम चन्द के कृतित्व का कहीं अधिक स्वस्थ मूल्यांकन कर पाते। उसके अभाव में उत्तरवर्ती कवियों के रचना-समन्वय से कवि की कृति के अस्तित्व में ही सन्देह प्रकट कर उनके प्रति जो अन्याय हो रहा है उसके परिमार्जन की शीघ्र आवश्यकता है। वस्तुतः प्राचीन काव्य का अध्ययन करने पर हमारे समक्ष यही प्रक्षेप-मिश्रण सर्वाधिक बाधक तत्व के रूप में उपस्थित होता है। सन्तोष का विषय है कि वर्तमान समय में कतिपय साहित्यकार शोध के आधार पर 'रासो' की प्रामाणिक प्रति उपस्थित करने के प्रयास में संलग्न हैं।

: ३ :

विद्यापति की पदावली

विद्यापति हिन्दी-साहित्य के संधिकालीन कवि हैं। वीरगाथाकालीन और भक्ति-कालीन काव्य के मध्य उनकी स्थिति ठीक उसी प्रकार की है, जैसी भक्तिकालीन और रीतिकालीन कविता के मध्य कविवर केशव की है। विद्यापति ने अपने काव्य का प्रणयन करते समय किसी प्रकार के शास्त्रीय विधि-विधान का आश्रय ग्रहण नहीं किया है और यही कारण है कि उनकी प्रवृत्तियों का विकास अत्यन्त सहज-स्वाभाविक रीति से हुआ है। तथापि काव्य-भावनाओं की दृष्टि से उनके काव्य पर महाकवि जयदेव और चण्डीदास की भावनाओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, किसी न किसी रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है। उनके काव्य का मेरुदण्ड शृंगार रस है और यही कारण है कि भक्ति का अवलम्बन लेते समय भी उन्होंने उसके माधुर्य-पक्ष को ही प्राथमिकता प्रदान की है। उनकी उपासना का यह स्वरूप दाम्पत्य-भक्ति के अन्तर्गत ही स्वीकृत किया जाएगा। महर्षि नारद ने भी अपने 'भक्ति-सूत्र' में दाम्पत्य भक्ति के अन्तराल में सर्वाधिक निकटता के भाव का आभास प्राप्त किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्यापति ने अपने अन्तर की भाव-राशि का शृंगार की मादक स्वर-लहरी के आधार पर अत्यन्त कुशल संयोजन किया है। उन्होंने अपने काव्य में मानव और विश्व के मध्य एक सहज रागात्मक सम्बन्ध की अवतारणा की है।

रीतिकालीन कवियों से दृष्टि-भेद

विद्यापति ने अपने काव्य में रूप-चित्रण के तत्व को प्रधानता दी है। यद्यपि उनके सौन्दर्य-चित्रों में स्थूल सौन्दर्य की यथार्थ अभिव्यक्ति को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है, तथापि उसके तत्सम्बन्धी उद्भावन कहीं भी हमारे मनोविकारों अथवा अवचेतन वासना को उद्बुद्ध नहीं करते। उन्होंने सौन्दर्य का अंकन करते समय अपनी अभिव्यंजना प्रणाली को यथाशक्य स्वच्छ, स्वच्छन्द, परिष्कृत और निर्भ्रान्त रखा है। उनके सभी शृंगार-चित्र प्रायः अपने में एक अत्यन्त कलामय मनोजगत् का सन्निहन रखते हैं। रीति-काल की ऊहात्मकता अथवा अस्वाभाविकता का आभास प्रदान करने वाली शैली का उनके काव्य में सर्वथा विलोप है। वास्तव में उनके सभी सौन्दर्य-चित्र अत्यन्त सहज और प्राकृतिक रूप से अंकित होते चले गए हैं। परवर्ती रीतिकालीन कवियों के साहित्य में इस दृष्टिकोण का अधिकांश में अभाव है। उनका तत्सम्बन्धी निर्धारण मनोविकारों की सृष्टि करने के कारण पूर्णतः अस्वस्थ ही कहा जाएगा।

रीतिकालीन कवियों ने अपने काव्य के वस्तु-शिल्प का आयोजन करने के लिए जिन उपकरणों का आश्रय ग्रहण किया है, वे प्रायः अपने में अत्यन्त कलुष हैं। अतृप्त आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के कारण उनके वर्णनों में एक विशेष विलास-प्रेरणा का समावेश हो गया है और इसी कारण उनके चित्र आवश्यकता से अधिक कामोद्दीपक हो गये हैं। इसके विपरीत विद्यापति के भावों का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि वे अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ और नयनाभिराम हैं और उनमें अतिवादी वर्णन-प्रणाली का समावेश नहीं हुआ है। विद्यापति ने सौन्दर्य की अनुभूति को अत्यन्त पवित्र और स्वच्छ रीति से ग्रहण किया है। इसके विलोम रूप में रीतिकालीन कवियों ने राधा-कृष्ण की दिव्य एवं अलौकिक शक्तियों का सर्वथा विस्मरण कर स्थूल सौन्दर्य के माँसल चित्र उपस्थित करने में जितना योग प्रदान किया है, उतना सूक्ष्म सौन्दर्य की प्रतिकृति प्रस्तुत करने में नहीं। इसका एक प्रत्यक्ष कारण यह है कि विद्यापति को शृंगार की जितनी पावन और परिष्कृत परम्परा उपलब्ध हुई थी, रीतियुगीन कवि उससे सर्वथा वंचित थे। विद्यापति ने अपनी शृंगार-विषयक मनोभावना को उपस्थित करते समय उसको अभिव्यक्त करने के लिए संस्कृत-साहित्य से प्रमुख रूप में प्रेरणा ग्रहण की है। उनके परवर्ती रीतिकालीन कवियों को भी यह विभूति सहज-प्राप्त थी, किन्तु उन्होंने उसका उपयोग नहीं किया। यही कारण है कि विद्यापति अपनी कवित्व शक्ति के आधार पर जिस वर्ण्य विषय में कला और आकर्षण के भाव का विशिष्ट संचार कर सके थे, उसे रीतिकालीन कवि उतने मनोयोग से ग्रहण न कर सके और उनके सभी भावों में वासना के काලुष्य का संचरण हो गया।

विद्यापति का सौन्दर्य-वर्णन

विद्यापति के काव्य में भक्ति अथवा शृंगार के उपादानों की खोज करने में विद्वानों ने अत्यन्त परिश्रम किया है। इस सम्बन्ध में अनेक बातें विवादपूर्ण भी हैं, किन्तु हमारी अपनी मान्यता है कि विद्यापति ने अपने काव्य में शुद्ध रूप से शृंगार का ही आख्यान किया है। उनके पदों में आध्यात्मिक भाव-धारा का सन्धान करने वाले व्यक्तियों के तर्क केवल कुछ शब्दों के प्रयोग-विशेष पर आधारित हैं। वास्तव में विद्यापति के काव्य की मूल चेतना शृंगार ही है और इन विषयों की ओर ध्यान देने का अवकाश उनके पास नहीं रहा है। कतिपय श्लिष्ट शब्दों के आधार पर उनके काव्य में किसी अन्य वृत्ति की कल्पना करना अनुचित ही है। वास्तव में इस प्रकार के प्रयत्न हठ अथवा आग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इनमें अपने मत की स्थापना करने के लिए समीक्षक को प्रकरण से कुछ न कुछ हटना अवश्य पड़ता है। उनके पदों का सीधा और सहज सम्बन्ध शृंगार से ही है और उसके स्थान पर किसी अन्य अर्थ का ग्रहण करने पर पद की वह स्वाभाविकता नष्ट हो जायेगी और वह अपने में पूर्णतः बोझिल प्रतीत होने लगेगा। कवि के प्रति भी यह अन्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जायसी अथवा अन्य सूफी कवियों के काव्य में शब्दों का प्रतीकों के रूप में ग्रहण

किया गया है तथा उन्होंने सांसारिक शब्दावली में ही अध्यात्म का चित्रण किया है, किन्तु भारत की परम्परा के विपरीत होने के कारण अन्य कवियों ने इसे ग्रहण नहीं किया है और विद्यापति के काव्य के भी ऐसे दुहरे अर्थ लेना असंगत ही है। उन्होंने शुद्ध शृंगार का ही वर्णन किया है और आध्यात्मिक वृत्ति से उनकी कविता पर्याप्तत: शून्य है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके कतिपय संयोग-शृंगार-सम्बन्धी पदों तथा अधिकांश विरह-पदों में आध्यात्मिक अर्थ को निरूपित किया जा सकता है, किन्तु उनके काव्य का समग्रत: अध्ययन करने पर हमारे मन पर जो छाप अंकित होती है, वह स्पष्ट ही इस प्रकार के अर्थ-ग्रहण का अनुमोदन नहीं करती। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद में व्याप्त संयोग शृंगार की चेष्टाओं में आध्यात्मिकता की खोज करना निश्चय ही व्यर्थ होगा :—

ए धनि रंगिनि कि कहब तोय,
आजुक कौतुक कहल न होय।
एकलि सुतल छलि कुसुम सयान,
दोसर मनमथ कर-धनुबान॥
नूपुर झुन-झुन आओल कान,
कौतुक मुँदि हम रहल नयान।
आओल कान्हु बइसल मझु पास,
पास मोड़ि हम लुकाओल हास॥
कवि विद्यापति एह रस भान,
तुहु रसिका पहु रसिक सुजान!

—(विद्यापति की पदावली, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, पद-संख्या १६६)

विद्यापति ने शृंगार के सुन्दर और सुष्ठु चित्र अंकित किये हैं। ऐसा करते समय उन्होंने उसकी परम्परागत भाव-विभूति से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। उनके काव्य में शृंगार के लिए आवश्यक सभी प्रकार के उपादान प्राप्त होते हैं और इस विषय में अपनी सहज प्रतिभा का उपयोग करते हुए उन्होंने अनेक मौलिक उपकरणों का भी संग्रह किया है, किन्तु अध्यात्म के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। यदि कुछ समय के लिए हम ऐसा मान भी लें कि उन्होंने अध्यात्म से सम्बन्धित जिस शब्दावली का कहीं-कहीं प्रयोग किया है, वह उन्हें उसी रूप में इष्ट थी तब भी हम उस दृष्टिकोण को उनके सम्पूर्ण काव्य में प्रतिफलित होते हुए नहीं पाते और कवि की चेतना को उस ओर विशेष प्रेरित नहीं देखते। इस प्रकार उचित यही है कि विद्यापति के काव्य में शृंगार के परिपाक का अन्वेषण करने का प्रयत्न किया जाये। वास्तव में उनके शृंगार-काव्य में नागर और नागरी की सामान्य प्रेम-चेष्टाओं का ही वर्णन किया गया है तथा केवल माध्यम-रूप में उन्होंने कृष्ण और राधा के नाम दे दिये हैं। सम्पूर्ण रीतिकालीन काव्य में भी यही है और क्या तब हम उस युग के कवियों में अध्यात्म की कल्पना करने लगें? केशव और बिहारी के काव्य में अध्यात्म का अनुसन्धान करना निरी मूर्खता ही होगी। यदि कवि को शृंगार रस का वर्णन ही अभीष्ट है तो उसकी आलोचना भी उसी दृष्टिकोण से करनी

चाहिए। यही उसके प्रति हमारा उचित व्यवहार होगा और इसी से उसकी अन्तर्वृत्तियां हमारे सम्मुख अपने शुद्ध और स्वस्थ रूप में उपस्थित होंगी।

विद्यापति के काव्य में दाम्पत्य भाव की ही अभिव्यंजना की गई है। उन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग, दोनों ही पक्षों का अत्यन्त हृदयहारी चित्रण किया है और अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी वृत्तियों से उसका गम्भीर विवेचन किया है। उन्होंने अपनी पदावली में वस्तुपरक सौन्दर्य-चेतना का उपयुक्त विश्लेषण करने के अनन्तर ही भावपरक शृंगार-दशाओं का विधिपूर्ण अंकन किया है। उनके सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का प्रथम प्रमाण यही है कि उन्होंने कृष्ण और राधा, दोनों के ही सम्बंध में शृंगार की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति की है। प्रचलित परम्पराओं के अनुसार नायक की उपेक्षा कर, केवल नायिका की ही संयोग अथवा वियोगमयी अवस्थाओं का चित्रण करने का एकांगी दृष्टिकोण उनका नहीं रहा है। उन्होंने राधा की भांति अपने शृंगार-काव्य में कृष्ण के महत्व को भी स्वीकृत किया है और विविध अनुराग-दशाओं के अनुसार उनके भाव-परिवर्तन का उचित उल्लेख किया है। यह निश्चित रूप मे कवि के व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है और इसके द्वारा उनकी भावाभिव्यंजना में एक सरस और सौन्दर्यवादी मनोवृत्ति का उत्कृष्ट समावेश हो गया है।

विद्यापति सूक्ष्मद्रष्टा कवि थे। उन्होंने शृंगार के प्रत्येक हाव-भाव का पहले विस्तृत अध्ययन किया है और फिर उसमें एक नूतन सौन्दर्य का स्फुरण करते हुए उसे अपनी ही रीति से उपस्थित किया है। शृंगार के क्रमिक विकास का उन्होंने अत्यन्त कलापूर्ण अंकन किया है और अवस्था-भेद मे उसकी विविध स्थितियों का यथा-तथ्य वर्णन किया है। विद्यापति सौन्दर्य और शृंगार के कवि थे और जहां कही भी उन्होंने रम्य विषय के दर्शन किये, वही उसे अपनी काव्य-वस्तु में समाहारित करने के लिए सतर्क रहे। मानवीय अनुभूतियों में विश्वास रखने वाले कवि होने के कारण वह किसी भी स्थल पर सौन्दर्य की उपेक्षा नही कर सके हैं। प्रत्येक चेतन व्यक्तित्व से हम यही अपेक्षा रखते हैं और विद्यापति ने भी सौन्दर्य को अत्यन्त सहृदयतापूर्वक ग्रहण किया है। सौन्दर्य का विश्लेषण करते समय अथवा शृंगार को उसके पूर्ण पुष्ट रूप में उपस्थित करते समय विद्यापति ने सदैव सरल तथा स्वाभाविक परिस्थितियों को ग्रहण किया है। उस अवस्था में आध्यात्मिक रूपक-योजना द्वारा उन्होंने अपनी भावनाओं को जटिल बनाने का प्रयास नहीं किया है। इसी प्रकार व्यर्थ के संकोचपूर्ण व्यवहार का परित्याग कर उन्होंने सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपनी अनुभतियों को ज्यों का त्यों चित्रित कर दिया है।

सौन्दर्य और शृंगार का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विद्यापति के काव्य में शृंगार का शुद्ध स्फुरण हुआ है और यही कारण है कि पार्थिव सौन्दर्य के सभी तत्व उनकी कविता में पूर्ण रूप मे विद्यमान हैं। उनके सौन्दर्य-चित्र अत्यन्त स्वाभाविक तथा रमणीय हैं। उनके नख-शिख तथा वयः संधि के वर्णन निश्चित रूप से सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिकृति उपस्थित करते हैं। वस्तुतः सौन्दर्य की स्थिति ही शृंगार को जन्म देती है और

चित्त-वृत्तियों को आकर्षित करने के कारण सौन्दर्य का तत्व ही सर्वप्रधान है। विद्यापति के निम्नलिखित वयः सन्धि-वर्णन में सौन्दर्य की रसमयी चेतना ही शृंगार रस को प्रेरणा प्रदान कर रही है :—

खने खन नयन कोन अनुसरइ,
खने खन वसन धूलि तनु भरइ।
खने खन दसन-छटा छुट हास,
खने खन अधर आगे गहु वास॥

विद्यापति का गीति-काव्य

काव्य के अन्तःकरण से रुक्षता का निराकरण कर उसे पूर्णतः सरस और रागात्मक स्वरूप प्रदान करने के कारण संगीत के अंचल का प्रारम्भ से ही उससे ग्रन्थि-बन्धन रहा है। कवियों ने अपनी भावनाओं को और भी अधिक प्रखर, तेजोमय तथा प्रभावशाली बनाने के लिए अनादि काल से संगीत की मनोमय चेतना का आधार ग्रहण किया है और कृष्ण तथा राधा के अविरल स्नेह-बन्धन की रम्य गाथा का गान करने वाले विद्यापति भी इससे विमुख नहीं रहे हैं। उन्होंने अपने मन की प्रत्येक भावना को शब्दों की मधु-रेखाओं से चित्रित किया है और सर्वत्र यही चेष्टा की है कि उनकी विचार-धारा रस की दृष्टि से घनीभूत होकर अध्येता के अन्तस् में पैठती चली जाए। वास्तव में उनकी पदावली में भाषा एवं भावना के मध्य एक ऐसे सामंजस्य-सम्बन्ध की स्थापना हुई है कि हमें पद-पद पर ऐसा प्रतीत होता है मानो उनकी कविता के प्रत्येक अंश ने मूर्त रूप धारण कर लिया हो और अपनी पृथक् वैयक्तिक अन्तर्चेतना को लेकर वह हमारी सौन्दर्य-वृत्ति का आह्वान् कर रही हो।

प्रगीत काव्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें अनुभूति और भावना के तत्त्व अथ से इति तक सूत्र-रूप में अनुस्यूत रहते हैं। यद्यपि कविवर विद्यापति को अपने वर्ण्य की स्पष्ट अनुभूति तो नहीं थी, किन्तु कल्पना के माध्यम से उन्होंने अपने हृदय में उस अनुभूति को साकार अवश्य कर लिया था। भावना और व्यंजना की दृष्टि से हिन्दी के उस आदिम युग में उनका काव्य निश्चय ही अप्रतिम है। उन्होंने अपने काव्य-विषय के प्रत्येक कोण का स्वतन्त्र और अधिकृत रीति से स्पर्श किया है और किसी भी स्थल पर यह परिलक्षित नहीं होने दिया है कि उनकी चेतना मूल से हटकर किसी अन्य दिशा की ओर प्रवृत्त हो गई है अथवा वह अपने प्रतिपाद्य की वास्तविकता से कुछ विलग हो गये हैं। यह निश्चय ही एक शुभ चिन्ह है और किसी भी कवि को प्रगति का अमर सन्देश प्रदान करने वाला है। भावना की यह अमिट और व्यापक छाप ही काव्य-सृजन के लिए सर्वाधिक अभीप्सित होती है और सन्तोष का विषय है कि विद्यापति के चतुर्दिक् इस प्रकार का वातावरण निरन्तर वर्तमान रहा है।

गीति-काव्य में प्रणेता और पात्र, दोनों के ही व्यक्तित्वों का स्वतन्त्र और सहज उद्भावन होता है। उसके मूल में मन की सभी वृत्तियों का उन्मुक्त उद्घाटन होता

हैं और किसी भी प्रकार के दुराव-छिपाव की स्थिति शेष नहीं रहती। इसका कारण यही है कि उसके प्रणयन के समय कवि की और अनुशीलन के समय अध्येता की मानसिक गति भावनात्मक अंशों के प्राधान्य के फलस्वरूप कुछ-कुछ मादकता और निश्चिन्तता की ओर उन्मुख हो जाती है। कविवर विद्यापति ने अपनी पदावली में इस उभयात्मक व्यक्तित्व-बोध को पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। जहाँ उनकी कृति में एक ओर उनका स्वयं का व्यक्तित्व बोल रहा है, वहाँ दूसरी ओर उनके पात्र भी अनभिव्यंजित नहीं रहे हैं। सत्य तो यह है कि प्रणेता की अपेक्षा पात्रों का व्यक्तित्व उसमें कहीं अधिक व्यक्त रहा है। व्यक्तित्व-कथन की दोनों प्रणालियों को भी विद्यापति ने स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण किया है। उनकी अभिव्यक्ति कहीं सूक्ष्म रही है तो कहीं अपेक्षाकृत स्थूल और वह प्रायः व्यक्त, अर्धव्यक्त और अव्यक्त व्यक्तित्वों के मध्य भ्रमण करते रहे हैं।

विद्यापति ने अपनी पदावली का सृजन जयदेव के 'गीत-गोविन्द' की शैली का अनुकरण करते हुए किया है। संस्कृत-गीति-काव्य के क्षेत्र में जयदेव की इस कृति को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है और यही कारण है कि विद्यापति ने इसे आदर्श के रूप में ग्रहण करते हुए रम्य-मधुर पद-विन्यास को विशेष महत्व प्रदान किया है। अभिव्यक्ति के इस उपकरण के साथ-साथ उन्होंने विषय-प्रतिपादन करते समय भी अपने आदर्श का अनुकरण किया है और यही कारण है कि साहित्य-मनीषियों ने उन्हें सहज ही 'अभिनव जयदेव' की सम्मान्य संज्ञा प्रदान की है। वास्तव में उनकी पदावली में संगीत के तत्वों की ऋजु-सरल समष्टि हुई है और इस सांगीतिक अन्तर्चेतना के फलस्वरूप उनके प्रत्येक पद में माधुर्य के एक विशेष स्रोत का समावेश हो गया है।

विद्यापति के प्रगीत काव्य में आत्मा की रागात्मिका वृत्ति के उल्लासमय वेग के परिपूर्ण दर्शन होते हैं। उन्होंने संयोग और वियोग, दोनों को ही अपने काव्य में उपयुक्त स्थान प्रदान किया है और विषय की गहनता के अनुकूल दोनों में ही संगीत के तत्वों का यथोचित विधान किया है। वास्तव में उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से राधा-कृष्ण की प्रणय-चेष्टाओं को हमारे समक्ष पुनः सजीव-साकार कर दिया है। उनकी भावनाओं का प्रवाह अकूल रसमय है और विशृंखल विचार-धारा के फलस्वरूप किसी प्रकार के अवरोध अथवा अटकाव का संचार उनमें नहीं हुआ है। कवि की चेतना प्रारम्भ से अन्त तक पूर्णतः जाग्रत रही है और यही कारण है कि वह अपने पात्रों के प्राणों में स्वस्थ आत्मा का प्रतिष्ठान कर सके हैं। प्रणेता और प्रणीत की इस स्वस्थ मनस् अवस्था का काव्य की सांगीतिक मधुर गति पर भी अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। यथा :—

काहे डरसि सखि चलु हम संग,
माधव नहिं परसब तुअ अंग।
इह रजनी फुल-कानन माझ,
के एक फिरत साजि बहु साज॥
कुसुम क घोर धनुष धरि पानि,
मारत सर बाला-जन जानि।

अतए चलह सखि भीतर कुंज,
जहाँ रह हरी महाबल पुंज ॥
एक कहि आनल धनि हरि पास,
पूरल बल्लभ सुख-अभिलास !

विद्यापति के गीतों में भावुक की चेतना का स्पर्श करने की असीम अनुरागमयी क्षमता है। इसका कारण यही है कि उन्होंने काव्य के सौन्दर्य के साथ-साथ संगीत के माधुर्य पर भी पर्याप्त बल दिया है और किसी भी पद की रचना करते समय इन दोनों के समन्वयात्मक रूप को उपस्थित करने की भरसक चेष्टा की है। इनके उपयुक्त सम्मिश्रण से उनकी भावनाओं में स्वभावतः अधिक प्रवाह का विधान हो सका है और उनके पद अध्येता को कहीं अधिक मानसिक शान्ति प्रदान कर सके हैं। माधुर्य की इसी भावमयी सत्ता के फलस्वरूप चैतन्य महाप्रभु उनकी पदावली में भक्त की आत्म-विह्वलता के दर्शन किया करते थे और उसके गान में रत होकर प्रायः चेतना-शून्य हो जाते थे। राग की इस अवस्था तक पहुँचा देने वाला काव्य निश्चित रूप से साधारण नहीं हो सकता। उसकी इस असाधारणता का सम्पूर्ण रहस्य गीति-काव्य की सहज संवेदनशील प्रसरणशीलता में है और सन्तोष का विषय है कि विद्यापति के काव्य में इसे सर्वत्र मूलाधार के रूप में परिगृहीत किया गया है।

विद्यापति के प्रगीत काव्य का सम्यक् अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें संगीत की विधाओं का अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान था। वह उसके शास्त्रीय और व्यावहारिक, दोनों ही पक्षों से पूर्णतः परिचित थे। यही कारण है कि उनका प्रत्येक पद संगीत के एक विशिष्ट आरोह-अवरोह से युक्त है। संगीत की इस व्यापक गति का उन्होंने इतने सफल आधार पर संयोजन किया है कि उन्हें अनायास ही 'मैथिल कोकिल' की पदवी प्राप्त हो गई है। इस प्रकार उन्हें सहज ही मिथिला प्रदेश के श्रेष्ठतम कवि के रूप में स्वीकृत कर लिया गया है। फिर भी इतना निश्चित है कि इस विषय में उनकी प्रतिभा को इस प्रकार सीमित नहीं किया जा सकता। वह सम्पूर्ण भारतवर्ष के कवि हैं और गीति-काव्य के क्षेत्र में भी अपने समग्र परवर्ती कवियों में अप्रतिम हैं। वास्तव में उनके काव्य के स्वरों में कोकिल के पंचम स्वर की प्रेषणीयता अनिवार्यतः समाहारित हो गई है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित काव्य-खण्ड देखिए :—

बिरह व्याकुल बकुल तरुतर,
पेखल नन्दकुमार रे ।
नील नीरज नयन सयं सखि,
ढरइ नोर अपार रे ॥

विद्यापति अत्यन्त ऋजु-सरल प्रकृति के व्यक्ति थे और यही कारण है कि उनके काव्य में स्थान-स्थान पर लोक-गीतों की सहज भावमयी वृत्ति का सन्निहन हुआ है। इस समन्वय को और भी अधिक सम्भव बनाने के लिए उन्होंने युग की कृत्रिम परिस्थितियों

का पूर्णतः परित्याग कर दिया है और प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि काव्य का प्रणयन करते समय वह अपने अन्तस् को जन-जीवन के अधिक से अधिक निकट रख सकें। इस प्रकार जन-सम्पृक्त रहने के फलस्वरूप ही मिथिला, भोजपुर और संयुक्तप्रान्त के प्रदेशों में आज भी जन-समूह में किसी भी सांस्कृतिक उत्सव के अवसर पर उनका गायन होता है। इस दिशा में उनकी चेतना ने अत्यधिक रमण किया है और अपने गीतों के माधुर्य के कारण वह जनता के हृदय में पूर्णतः पैठ गये हैं। इसका सब से स्पष्ट प्रमाण यही है कि लोक-गीत-साहित्य के अधिकांश परवर्ती कवियों ने उनके नाम से अनेक प्रक्षेपमय स्वतन्त्र पदों की सृष्टि कर ली है और उनके नाम से अपनी रचना को प्रचारित होते हुए देखकर पर्याप्त सन्तोष का अनुभव किया है। आगे हम कृष्ण के विरह-भाव को व्यक्त करने वाले उनके एक अत्यन्त उत्कृष्ट पद को उद्धृत करते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके काव्य में जन-गीतों के प्रवाह और सारल्य का अत्यन्त मधुरिम अंकन हुआ है :—

रामा हे, से किए बिसरल जाई !
कर धरि माथुर, अनुमति मंगइत,
ततहि परल मुरझाई ॥
किछु गदगद सरे लहु-लहु आखरे,
जे किछु कहल बर रामा ।
कठिन कलेवर तेईं चलि आओल,
चित्त रहलि सोइ ठामा ॥
से बिनु राति दिवस नहिं भावए,
ताहि रहल मन लागी ।
आन रमनि सयँ राज सम्पद मोयँ,
आछिए जइसे बिरागी ॥
दुइ एक दिवस निचय हम जाओब,
तुहु परबोधबि राई ।
विद्यापति कह चित्त रहल तहिं,
प्रेम मिलाएब जाई ॥

विद्यापति की पदावली गीति-काव्य की दृष्टि से चिर-प्रशंसित और चिर-प्रशंस्य है। इस विषय में प्रायः सभी परवर्ती कवियों और समीक्षकों ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। वास्तव में इस कृति में कवि की अन्तर्चेतना की जिस सूक्ष्म रूप में परिव्याप्ति हुई है वह अत्यन्त मर्मस्पर्शी और संप्रेषणीय है। इन दोनों ही श्रेष्ठ गुणों के संयोजन में रसात्मक आनन्दानुभूति ने विशेष योग प्रदान किया है। इसके फलस्वरूप आलोच्य कृति में सौन्दर्य के जिस स्वरूप की रम्य उद्भावना हुई है, वह निश्चित रूप से अपने आप में एक युगान्तरकारी प्रभाव लिये हुए है। विद्यापति का मूल गुण यह है कि उन्होंने काव्य की भावुकता के वशीभूत होकर किसी भी स्थल पर परिस्थिति को विरूप अवस्था में उपस्थित नहीं किया है। इससे हमारा तात्पर्य स्पष्टतः यही है कि गीति-

काव्यत्व की रक्षा के लिए उन्होंने कहीं भी भाव-वस्तु के संयोजन में शिथिलता को संचरण नहीं होने दिया है।

विद्यापति के गीति-काव्य में अनुभूति और कल्पना को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इन दोनों से समन्वित होने के कारण उनकी भावनाओं में हृदय का स्पर्श करने की पूर्ण क्षमता आ गई है। वास्तव में उनका काव्य-पक्ष सूक्ष्म अन्तर्दर्शन की शक्ति से समृद्ध है और उसके फलस्वरूप उसमें सौन्दर्य और गाम्भीर्य का कहीं अधिक अन्तर्भाव हुआ है। इन उपकरणों से गीति-तत्व को भी निरन्तर सहायता उपलब्ध हुई है और उसमें चेतना का अधिक सविस्तार समावेश होता गया है। कवि का मूल गुण यह है कि उन्होंने अपने काव्य का सृजन करते समय जहाँ भाव-पक्ष के लिए बंगला-साहित्य के प्रसिद्ध कवि चण्डीदास की गम्भीर अनुभूति को ग्रहण किया है, वहाँ कला-पक्ष की दृष्टि से संगीत के लालित्य का समावेश करने के लिए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि जयदेव की रम्य कला का मधुर संयोजन किया है। आगे हम उनके काव्य से एक ऐसे ही काव्य-सौन्दर्य-सम्पन्न पद को उद्धृत करते हैं :—

सैसव जौवन दरसन भेल,
दुहु दल-बले दन्द परि गेल।
कबहु बाँधय कच कबहु बिथारि,
कबहु झाँपय अँग कबहु उघारि॥
अति थिर नयन अथिर किछु भेल,
उरज-उदय-थल लालिम देल।
चंचल चरन, चित चंचल भान,
जागल मनसिज मुदित नयान॥
बिद्यापति कह सुनु बर कान,
धैरज धरह मिलायब आन!

—(विद्यापति की पदावली, सं० रामवृक्ष बेनीपुरी, पद ५)

प्रस्तुत पद में कवि ने नायिका के वयःसन्धिकालीन शारीरिक विकास का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। हिन्दी में इस प्रकार के सौन्दर्य-चित्र अधिक नहीं हैं। गेयत्व से युक्त होने के कारण इस पद का आकर्षण और भी अधिक बढ़ गया है।

गीति-काव्य की विशेषताओं की उपयुक्त स्थिति और सम्यक् विकास के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें मन के रागात्मक अंश का पूर्ण अन्तर्निहन हो और जीवन का व्यापक सत्य वहाँ एकबारगी ही साकार हो उठे। अन्तस् के इस मूर्त विधान के लिए यह आवश्यक है कि कवि बाह्य दर्शन का परित्याग कर अपने मनस् लोक की विभूति के दर्शन करे और इस प्रकार प्राप्त अनुभूति को साहित्य के श्रेय से सज्जित कर पूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करे। सन्तोष का विषय है कि विद्यापति की चेतना निरन्तर इस ओर आकृष्ट रही है और उनकी सम्पूर्ण पदावली मन के रम्य और भावन अंश पर आधृत है। वास्तव में उन्होंने जीवन और जगत् का अत्यन्त निकट से अध्ययन करने

के अनन्तर उसे अपनी आत्मा में समाहारित कर लिया है और प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि कोई भी वस्तु स्थूल और असम्बद्ध रूप में उपस्थित न हो। यही कारण है कि उनके काव्य में सौन्दर्य का इतने व्यापक आधार पर समावेश हो सका है और गीति-काव्य की उपयुक्त प्रगति की सम्भावनाएँ उसमें आ सकी हैं।

'पदावली' के माध्यम से विद्यापति को यह गौरव प्राप्त है कि वह हिन्दी-गीति-काव्य के प्रणेताओं में अग्रणी कहे जा सकें। हिन्दी का इतर प्रगीतात्मक काव्य स्वभावत: उनकी कृति के पीछे आता है और इस प्रकार वह निभ्रान्ति रूप से हिन्दी के प्रथम प्रगीतकाव्यकार ठहरते हैं। वस्तु-स्थिति तो यह है कि उनके एतद्विषयक काव्य में अनुभूति की तीव्रता, मन की रागात्मकता और कला की रम्य चारुता का इतनी विस्तृत सीमा तक समावेश हुआ है कि हम उन्हें सहज ही आत्मा के कवि कह सकते हैं और गीति-काव्य के प्रथम प्रणेता के रूप में उनका सम्मान तो फिर असंदिग्ध हो ही जाता है। उनकी इसी गीति-चेतना से प्रभावित होकर युगचेता महाप्राण कवि 'दिनकर' ने रस-विह्वल होकर अत्यन्त करुणा और भावना-सहित गण्डकी की प्रवहमान धारा से निम्नलिखित प्रश्न किया है :—

वैशाली के भग्नावशेष से,
पूछ लिच्छवि धान कहा ?
ओ री उदास गण्डकी बता,
कवि विद्यापति के गान कहाँ ?

अन्त में हमें यही कहना है कि गीति-काव्य के क्षेत्र में विद्यापति का नाम अमर है। साहित्य के इस अंग को समृद्ध बनाने के लिए इस महाकवि ने जितना गहन अध्यवसाय किया है, उसे देखते हुए यह नितान्त असम्भव प्रतीत होता है कि साहित्य के अध्येता और व्याख्याता उनका शीघ्र विस्मरण कर बैठेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि समय के प्रभाव से आज उनकी भौतिक स्वर-लहरी का हमारे समक्ष प्रत्यक्ष अस्तित्व नहीं रह पाया है और स्थूल अर्थों में वह पूर्णत: लुप्त हो गई है, तथापि इतना भी निश्चित है कि मन के सहज उद्भावन के कारण उनकी वाणी चिर अनश्वर है। नि:सन्देह उनका प्रगीत काव्य आज भी परोक्ष और सूक्ष्म रूप में मिथिला की रस-सुन्दर अमराइयों में मधुर प्रवाह के साथ गुंजायमान है।

: ४ :

कबीर की आत्मानुभूति

संत कबीर का जन्म सम्वत् १४५६ में और मृत्यु सम्वत् १५७५ में हुई थी। वह काशी में वास करते थे और जुलाहे का काम करते हुए अपने जीवन को अत्यन्त शांत रीति से व्यतीत करते थे। अपने जुलाहा होने का उन्हें तनिक भी संकोच न था और वह प्राय: अत्यन्त गर्व से कहा करते थे :—

तू बाम्हन, मैं कासी क जुलाहा।
बूझहु मोर गियाना ॥

कबीर ऐकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे और मूर्ति-पूजा तथा अन्य आडम्बरों से उनका कट्टर विरोध था। उनका लक्ष्य यही था कि विश्व में राम और रहीम की एकता के मन्त्र का प्रचार करें। वह हिन्दू-मुस्लिम-विरोध को घातक मानकर जनता को उससे पृथक् रहने का उपदेश देते थे। इन दोनों ही सम्प्रदायों के व्यक्तियों को समझाते समय वह स्पष्ट कथन का आधार ग्रहण करते थे और यही कारण है कि अन्त में उन्हें अपने कार्य में पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई।

कबीर हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल के एक प्रमुख कवि हैं। वह उसके निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक थे और इसी के फलस्वरूप उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में साधना के तत्त्व पर अधिक बल दिया है। वह गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व देते थे और सज्जनों के मध्य बैठकर अपनी साधना को और भी प्रौढ़ बनाने का प्रयत्न करते थे। निरक्षर होते हुए भी उनकी इतनी विराट् सफलता का यही रहस्य है। वैसे उन्हें भाषा और काव्य-रचना के नियमों का विशेष ज्ञान नहीं था और वह केवल तानपूरे के संगीत के आधार पर अपने पदों की रचना किया करते थे। फिर भी उनके अधिकांश पद्य-खण्डों में पर्याप्त सौन्दर्य विराजमान है। इन सभी पदों को उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने 'बीजक' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत संकलित कर दिया। आगे हम उनकी माया-विषयक विरोध से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं :—

माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥

कबीर सहज प्रतिभा से युक्त कवि थे और उनके काव्य का अध्ययन करते समय हमें पद-पद पर इस इस तथ्य के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। उन्होंने अपनी समीपवर्ती सृष्टि का पूर्णत: निरवग्राहिक रूप से पर्यवेक्षण किया है और बाह्य वातावरण से अपनी भावनाओं का संकलन करते समय उन्हें आत्म-निर्णयन के तत्व से परिपुष्ट करने का

अत्यन्त गम्भीर प्रयास किया है। यही कारण है कि उनका काव्य अत्यन्त निसर्ग परिस्थितियों से अनुवेष्टित है और हमारे समक्ष एक असाधारण मानसिक भाव-भूमि का प्रतिमान उपस्थित करने में समर्थ है।

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकालीन सन्त-कवियों की परम्परा में महात्मा कबीर का अपना एक पृथक् एवं विशिष्ट स्थान है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम तथा सोलहवीं शताब्दी के प्रथम त्रि-चरणों में उन्होंने अपनी मौलिक भावनाओं द्वारा विश्व को जिस सत्य से अवगत कराया,वह निश्चय ही उनकी चिरन्तन साधना का प्रतीक है। यद्यपि यह सत्य है कि साहित्य-रचना की अपेक्षा कबीर के चिन्तनमय संस्कार अधिक प्रबुद्ध थे,तथापि उन्होंने अपने इसी विश्व-दर्शन से काव्य को जिस नवीन चेतना की प्रतीति कराई, वह निश्चय ही अप्रतिम है। कबीर ने मानवता का एक नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन किया है और इस सम्बन्ध में अपनी समग्र अनुभूतियों को काव्य के अन्तर्गत अत्यन्त कौशल-पूर्वक संचित किया है। इस प्रकार उन्होंने हमारी सात्विक वृत्तियों का विशेष रूप से संरक्षण किया है और हमें एक सरल तथा स्वच्छ मार्ग पर चलने की मौलिक अनुप्रेरणा का सम्बल प्रदान कर हमारे आत्म-विश्वास को कहीं अधिक जागृत किया है।

महात्मा कबीर ने पौराणिक प्रसिद्धियों तथा प्रचलित अन्धविश्वासों के मायात्मक वातावरण को निःशेष कर अपने जीवन-दर्शन की नवीन विधा को अत्यन्त स्वस्थ रूप में प्रतिपादित किया है। उन्होंने दुःख तथा संघर्ष से निराश प्राणी को जीवन-यापन के एक अवरोध-रहित तथा सहज-ग्राह्य पथ का दर्शन कराया है और उसे मर्त्य लोक के सामान्य विग्रहणात्मक स्तर-बिन्दु से ऊपर उठाकर उनसे पृथक् रहने का सन्देश प्रदान किया है। भक्ति और साधना के मूलवर्ती सत्य से अपना विश्वास प्रकट करते हुए उन्होंने आत्मा को प्रणव शक्ति के अनन्त रस-लोक में स्थापित करने का परामर्श दिया है। उनकी यह युगान्तरकारी प्राण-चेतना दर्शन के क्षेत्र में परम्परागत होते हुए भी हिन्दी-साहित्य के लिए उस समय एक नवीन वस्तु थी।

कबीर ने अपने काव्य का सृजन मानवीय संस्कृति के शून्य आदर्शवाद की पृष्ठ-भूमि में किया था। सृष्टि के विनाशशील उपस्थानों ने उनके धैर्य को विचलित कर दिया था और उनके प्रभाव को क्षीण करने की आकांक्षा उनके अन्तर को निरन्तर आलोड़ित करती रहती थी। वह मूलतः कवि नहीं थे, किन्तु उनके अन्तस् में कवि की चेतना अवश्य थी। वस्तुतः एक मनीषी के अनुरूप सभी गुण उनमें वर्तमान थे और मानव को ज्ञान के वास्तविक अधिकारी के रूप में स्वीकार करते हुए उसे ह्रास के तन्तुओं से मुक्त करना ही उनका प्रथम लक्ष्य था।

सन्त कबीर व्यष्टि को समष्टि में लीन कर देने की भावना के समर्थक थे। उन्होंने व्यक्ति के दर्शन कभी भी एक पृथक् इकाई के रूप में नहीं किये और यही कारण है कि उन्होंने ज़न-हित के विचार को प्राथमिकता दी है। 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' में श्रद्धा ने मनु की एकान्त स्वार्थपरता को देखकर 'कर्म' सर्ग में अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक कहा है :—

औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सबको सुखी बनाओ॥

कबीर ने सम्प्रदायवाद का विरोध करते हुए मानव-मात्र को जो उपदेश प्रदान किये हैं, वे निश्चित रूप से इसी के समकक्ष हैं। उनके द्वारा उन्होंने चेतना के विस्तार की आकांक्षा को ही प्रकट किया है और इसी कारण वह कह सके हैं :—

दुइ जगदीश कहाँ ते आये, कहु कौने भरमाया,
अल्ला राम करीम केशव हरि, हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गहना, तामें भाव न दूजा,
कहन सुनन को दुइ कर थापे, एक नेवाज एक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए,
कोइ हिंदू कोइ तुरुक कहावै, एक जमीं पर रहिए।
वेद किताब पढ़ें वे कुतबा, वे मौलाना वे पाँडे,
बिगत-बिगत कै नाम धरायो, एक माटी के भाँडे॥

कबीर व्यक्ति के सीमित दृष्टिकोण का मूलोच्छेद कर उसकी भावना को प्रगति की एक सर्वतोमुखी दिशा की ओर उन्मुख करना चाहते थे। वास्तव में अपने इसी उद्देश्य को सम्यक् रीति से पूर्ण करने के लिए उन्होंने काव्य के प्रसरणशील उपकरणों का आश्रय ग्रहण किया था। भौतिक सुखों की क्षणिक् परिस्थितियों द्वारा अपने भावों को अनुरंजित करने की अपेक्षा उन्हें इष्ट का एकाग्र चिन्तन कहीं अधिक प्रिय था और इसी तत्व के प्रमुख होने के कारण उन्हें साहित्य तथा समाज, दोनों ही के क्षेत्रों में पर्याप्त सीमा तक सफलता की उपलब्धि हो सकी है। उनके काव्य में सूक्ष्म अनुभूति और अन्तर्दर्शन की भावनाओं को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। रहस्यवाद की मूल भावना को स्पष्ट करने का उन्होंने सर्वत्र प्रयत्न किया है। ब्रह्म के रहस्य का भेदन करना ही वह साधक और विचारक का प्रमुख लक्ष्य मानते हैं। उनके अनुसार जिस समय हृदय में ईश-प्रेम का संचरण होता है, उस समय आत्मा साक्षात्कार की मृदु आकांक्षा लिये हुए वांछित पथ की ओर अग्रसर होती है और अन्त में परमात्मा के अभीप्सित दर्शन प्राप्त कर उन्हीं में लीन हो जाती है। यथा :—

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥

एक अन्य छन्द में आत्मा को परमात्मा के एक अंश के रूप में स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है :—

यह तत वह तत एक है, एक प्राण दुइ गात।
अपने जिय से जानिए, मेरे जिय की बात॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वह साधक और साध्य में भेद करके चलना टीक नहीं समझते। उनके अनुसार साधक का यह कर्तव्य है कि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे और इस विषय में कभी भी विमुखता का परिचय न दे। वस्तुतः एकान्त साधना का स्वरूप ही सर्वाधिक फल प्रदान करने वाला होता है और साधना-मार्ग की दुरूहताओं का परिचय प्राप्त होने पर अन्ततः साधक को ब्रह्म-ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है। इस साधना के लिए आवश्यक क्षमता को साधक तभी प्राप्त कर सकता है जब उसके हृदय में सत्-तत्व के प्रति पूर्ण आस्था हो।

युग की परिस्थितियों के अनुकूल ही महात्मा कबीर ने अपने काव्य में भक्ति के तत्व को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। रागात्मिका वृत्ति से युक्त होने पर भी उनकी विचार-धारा बौद्धिक जगत् की ओर अधिक उन्मुख थी और यही कारण है कि भक्ति के अन्तर्गत भी भावपूर्ण सगुण-पक्ष की अपेक्षा उन्होंने निर्गुणात्मक आधार में अधिक विश्वास प्रकट किया है। यद्यपि उनके काव्य के प्रारम्भिक अंशों में साकार की उपासना से सम्बन्धित सिद्धान्तों का अनुमोदन भी परिलक्षित होता है, तथापि उनकी वृत्तियाँ इस दिशा में अधिक रमण नहीं कर सकी हैं। अपने कवि-जीवन के मध्य-काल में सत्वादि गुणों से युक्त सत्ता की उपासना का निराकरण कर वह निश्चित रूप से निर्गुण की ओर प्रवृत्त हो गये थे। अपनी तत्सम्बन्धी भावनाओं को उपस्थित करते समय उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट रूप में कहा है :—

(१) **जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।**
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

(२) **हैं परम जोति औ गुन निराकार है,**
तासु को नाम निरंकार मानी।
रूप बिन रेख बिन निगम अस्तुति करै,
सत्त की राह अनकथ कहानी॥

कबीर अपने युग के एक गहन विचारक तथा आत्म-चिन्तक थे। किसी भी धारणा का सिद्धान्त-रूप में ग्रहण करने से पूर्व वह उसका भली प्रकार अध्ययन-विश्लेषण करने में विश्वास रखते थे। अनुभव और ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ उनकी यह प्रवृत्ति भी निरन्तर प्रगतिशील रही थी। इसी के फलस्वरूप काव्य-सृजन के उत्तर काल में उन्होंने सतत परिमार्जन द्वारा अपनी ब्रह्म-सम्बन्धी मान्यताओं को और भी अधिक प्रशस्त कर लिया था। जिस प्रकार जन-समत्व सम्बन्धी सूत्रों का निर्धारण करते समय उन्होंने सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक प्रवृत्तियों को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया था, उसी प्रकार भक्ति-मार्ग की विविधताओं का चिन्तन करते समय भी वह सर्व प्रकार की संकुचित मनोवृत्तियों का परित्याग कर एक सर्वथा निर्भ्रान्त पथ की ओर अग्रसर हो गये थे। उनकी भावनाओं की क्रमिक प्रगति का और भी स्पष्ट परिचय प्राप्त करने के लिए हम उनके काव्य से निम्नलिखित उद्धरण उपस्थित कर सकते हैं :—

सर्गुण की सेवा करौ, निर्गुण का करु ज्ञान ।
निर्गुण सर्गुण के परे, तहँ हमारा ध्यान ।।

महात्मा कबीर की सम्पूर्ण साधना मानव-जाति की कल्याण-कामना के पृष्ठाधार पर अंकित रही है । अपने काव्य की रचना के लिए भी वह अधिकांश में वहीं से प्रेरणा ग्रहण करते थे और यही कारण है कि उनके काव्य का एक विशिष्ट भाग सहजता तथा स्वाभाविकता के गुण को प्रमुख रूप से लिये हुए है । जन-हित की इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने प्राणी-मात्र के लिए भक्ति के एक समान संदेश को प्रसारित करने का निश्चय किया था । इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनका तत्सम्बन्धी काव्य कृत्रिमता के चिन्हों से सर्वथा पृथक् रहा है और उसमें भावनाओं की अत्यन्त सहज अभिव्यंजना हो सकी है । इस स्वस्थ प्रतिपादन के द्वारा उनके काव्य में माधुर्य तथा प्रसाद नामक गुणों को भी कुछ न कुछ उत्कर्ष प्राप्त हुआ है । इस प्रकार के पद-खण्ड अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति के कारण हृदय का तुरन्त स्पर्श करते हैं । आत्म-दर्शन की वृत्ति के प्रमुख होने के कारण कबीर के काव्य में इस प्रकार के अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं । साध्य ब्रह्म के वियोग में साधक जीवात्मा की जो अवस्था होती है, उसका निम्नांकित मर्मवेधी चित्रण करते समय वह कितने अधिक तल्लीन हो गये हैं :—

तलफै बिन बालम मोर जिया !
दिन नहिं चैन, रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफ के भोर किया ।।

स्वार्थ और अहम्मन्यता की भावनाओं के प्रमुख होने पर प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः ही अज्ञान तथा अविद्या की ओर उन्मुख होने लगता है । उस अवस्था में जन-कल्याण से सम्बन्धित उसकी समग्र आकांक्षाएँ क्रमशः धूमिल पड़ने लगती हैं और उच्च भाव-भूमि को प्राप्त करने के लिए उसके सभी प्रयत्न मुखर होते-होते रुक जाते हैं । साधक को इस प्रकार की हीन मनोग्रन्थि से ग्रस्त देखकर भी ब्रह्म उसकी आत्मा के प्रति अपने अपनत्व-सम्बन्ध को क्षीण नहीं करते । वह उसके भाव-विकास की सम्पूर्ण परिस्थितियों से अवगत होते हुए भी उसकी आत्मा से केवल चेतन और गम्भीर क्रियाओं को ही ग्रहण करते हैं । इस प्रकार की वृत्तियों के अत्यन्त अल्प होने पर भी वह उन्हें अपने अनुग्रह का पूरा प्रश्रय प्रदान करते हैं और उसके चरित्र के द्वितीय कल्मष-युक्त पक्ष को अधिकाधिक विस्मृत कर उसके उत्कर्ष का विधान करते हैं । ब्रह्म के इस असीम सौजन्यपूर्ण व्यवहार के प्रति कबीर ने अपनी कृतज्ञतापूर्ण श्रद्धांजलि को इस प्रकार प्रकट किया है :—

साहेब सा समरथ नहिं, गरुआ गहिर गम्भीर ।
औगुण छोड़ैं गुन गहैं, छिनक उतारैं तीर ।।

कबीर का विश्वास था कि विश्व के सभी अभावात्मक तत्व परमात्म-सत्ता की सन्निधि में लय हो जाते हैं । इसी कारण वह ईश-प्राप्ति के लक्ष्य को जीवन की चरम विभति के रूप में स्वीकार करते हैं । उनका मत है कि महत् उद्देश्य की प्राप्ति के

लिए जीवन में साधना के तत्व की गम्भीर परिव्याप्ति अनिवार्य है, इसी धारणा को और भी अधिक पुष्ट करते हुए उन्होंने भक्ति के अन्तर्गत श्रद्धा-भाव की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। वह ईश्वर की सर्व-व्याप्ति के सिद्धान्त का अनुमोदन करते थे, किन्तु इस विषय में उनकी निश्चित मान्यता यही थी कि मिथ्या उपासना-पद्धतियों के माध्यम से प्रणव-शक्ति का साक्षात्कार प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है। इसी कारण अन्तर के शुद्ध और निश्छल प्रेम को सर्वाधिक वांछनीय मानते हुए वह कहते हैं :—

पावक रूपी साइयाँ, सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागै नहीं, तातें बुझि-बुझि जाय ॥

कबीर ने परमेश्वर के प्रति इसी पुण्यमयी अनुराग-भावना को सर्वाधिक श्रेय प्रदान किया है। उन्होंने इस सहज मार्ग के सम्मुख भक्ति के विभिन्न विवादास्पद स्रोतों को सर्वथा हेय माना है। आत्मा को परमात्मा की प्रतीकमयी अभिव्यंजना के रूप में ग्रहण करते हुए वह उन दोनों मे एक शाश्वत स्नेह-सम्बन्ध की स्थिति को स्वीकार करते हैं। वास्तव में उन्होंने साधक को भी साध्य के अनुरूप अमर-तत्त्व से युक्त माना है और इसी धारणा के फलस्वरूप वह उपासक के सम्बन्ध में इतने विश्वास के साथ कह सके हैं :—

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समझाय ॥

कबीर ने ज्ञान का अर्जन करने के लिए किसी प्रकार के ग्रन्थों का अनुशीलन नहीं किया था। इस दृष्टि से सर्वथा शून्य होने पर भी उनके काव्य में अत्यन्त गम्भीर सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। वास्तव मे उनकी सभी मान्यतायें गुरु के पथ-निर्देशन और सज्जन-सत्संग पर आधारित रही हैं। वह अपने युग के एक श्रेष्ठ तत्वदर्शी थे और अनुभूतियों द्वारा ज्ञान के संकलन में उनका अपेक्षाकृत अधिक विश्वास था। यद्यपि उनके काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक जगत् से वह सांगोपांग रूप में परिचित न थे, तथापि उसके द्वारा हमें यह आभास भी प्राप्त होता है कि उसके मेरुदण्ड का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। इसी तात्विक बोध के आधार पर उन्होंने विश्व के क्रियाशील अस्तित्व में व्यक्ति को उसे पूर्णता की ओर ले जाने वाले एक साधन के रूप में स्वीकार किया है। अपने काव्य में किसी भी स्थान पर उन्होंने उसकी पृथक् व्यक्तिगत सत्ता पर प्रत्यय प्रकट नहीं किया है। इस विचार को पोषण प्रदान करते हुए विश्व की नश्वरता के सम्बन्ध में वह कहते हैं :—

पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
कबिरा जो था सो भया, अब कछु कहा न जाय ॥

साहित्य के क्षेत्र में कबीर का युग संस्कृत का अनुयायी था। यही कारण है कि उस समय लोक-भाषा-साहित्य की अवस्था अधिकांश में शोचनीय ही थी और कवियों को जन-भाषा का परिष्कार कर उसके किसी व्यवस्थित रूप का स्वयं ही निर्माण करना था। उद्देश्य की विभिन्नता के कारण कबीर ने सूर और तुलसी की भाँति इस ओर कोई

बहुत अधिक प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार निश्चेष्ट रहने के कारण उनकी भाषा प्रायः अपरिष्कृत और अपरिमार्जित ही रह गई है। वास्तव में उनके काव्य में व्याकरण और पिंगल के स्थान पर गेयात्मकता को कहीं अधिक प्रश्रय प्राप्त हुआ है। अपनी वाणी का मंगल-गान करने से पूर्व उन्होंने किसी काव्य-शास्त्र का मनन करने की आवश्यकता का अनुभव न किया था। वह नैसर्गिक विभूति से सम्पन्न कवि थे और काव्य के लिए आवश्यक सामान्य उपकरणों का उनकी कविता में स्वतः ही समावेश हो जाता था।

कबीर के काव्य में शृंगार एवं शान्त रसों के उपयुक्त परिस्थितियों का स्वतः ही संचरण हो गया था। शृंगार रस के अन्तर्गत उन्होंने उसके संयोग एवं वियोग, दोनों पक्षों का चित्रण किया है। संयोग-वर्णनों में उन्होंने ईश्वरीय तत्व का अत्यधिक स्पष्टीकरण किया है और इसके फलस्वरूप उनमें स्वाभाविकता की मात्रा का अपेक्षित रीति से समावेश न हो सका है। इसके विपरीत विप्रलम्भ पक्ष में उनके विरह-निवेदन सहज होने के कारण अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं। उनके मूल मे मीरा की-सी अन्तर्वेदना के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं। उपास्य प्रियतम के दर्शन प्राप्त करने के लिए उनकी आत्मा अत्यन्त विकल हो उठी है और उनके तत्सम्बन्धी भाव-चित्रों में एक अलौकिक तथा स्पृहणीय माधुर्य का संचरण हो गया है। वह कहते हैं :—

येहि तन का दिवला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यौं, कब मुख देखौं पीव॥

कबीर ने सृष्टि के विभिन्न तत्वों को नश्वरता से ग्रस्त माना है और यही कारण है कि उनके काव्य में क्षणिकवाद के सिद्धान्त का निराकरण कर प्रभु की शाश्वत सत्ता में विश्वास प्रकट किया गया है। इस विषय में उन्होंने अपनी भावनाओं को शान्त रस के माध्यम से व्यक्त किया है और यह सन्तोष का विषय है कि इस अभिव्यक्ति में आदर्श की अतिव्याप्ति प्रायः कहीं भी नहीं हुई है। इस प्रकार की परिस्थितियों का चित्रण करते समय यद्यपि कहीं-कहीं वह अपने परिचित पथ से भटक अवश्य गये हैं, तथापि समग्र रूप से उनकी शैली हमारे सम्मुख नितान्त मौलिक रूप में उपस्थित हुई है। यथा :—

वा दिन की कछु सुधि कर मन मां!
जा दिन लै चलु, लै चलु होई,
ता दिन संग चलै नहिं कोई॥
तात मात सुत नारी रोई,
माटी के संग दिया समोई।
सो माटी काटेगी तन मां!

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर के अन्तस् में कवि की शाश्वत प्रतिभा का पूर्ण समन्वय हो गया था और वह भाव-लोक की एक विशिष्ट तन्मय अवस्था को प्राप्त कर चुके थे उन्होंने अपने काव्य का सृजन सृष्टि के व्यापक प्रसार का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त अत्यन्त गहन अनुभूति के आधार पर किया था और यही कारण है कि उसमें भावना तथा चिन्तन के स्वर सबसे अधिक विकासगामी रहे हैं। साधना में विश्वास

रखने के कारण उन्होंने अपनी विचार-धारा को किसी भी अवस्था में व्यर्थ के आडम्बर-पूर्ण जगत् की ओर उन्मुख नहीं होने दिया है और सदैव एक क्रान्तिकारी तथा मूल्य-समन्वित भाव-विभूति को जन्म देने की चेष्टा की है। वास्तव में उनका काव्य समाज को एक नवीन शान्तिमय पथ का दर्शन कराकर उसे एक विशिष्ट सत्याधारित चेतना का परिचय देने में समर्थ है और यही कारण है कि मध्य युग की भाँति आज भी वह उतना ही प्रतिष्ठित और उपादेय है ।

: ५ :

'पद्मावत' का काव्य-सौष्ठव

जायसी ने अपने काव्य की रचना भक्ति काल की निर्गुण-भक्ति-शाखा के प्रेममार्गी पक्ष के अन्तर्गत की है। उनकी रचनाओं में 'पद्मावत' को शीर्ष स्थान प्राप्त है और उनकी प्रतिभा का मूल्यांकन करते समय 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' की अपेक्षा इसी काव्य का आश्रय लेना होगा। जायसी ने अपने अन्य सहयोगी कवियों की भाँति लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम की प्रतिपत्ति की है। इस प्रकार 'पद्मावत' में लोक-दर्शन और अध्यात्म-दर्शन का समन्वित रूप प्राप्त होता है। मुसलमान कवि होने के कारण जायसी को भारतीय साहित्य-शास्त्र का उचित ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष के रम्य प्रतिपादन पर अधिक ध्यान दिया है। प्रस्तुत निबन्ध में हम उनके काव्य की विशेषताओं का इन दोनों ही तत्वों के आधार पर विश्लेषण उपस्थित करेंगे।

भाव-पक्ष

किसी भी काव्य-कृति के मूल सौन्दर्य की खोज करने के लिए उसमें समाविष्ट विभिन्न भाव-तत्वों का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाव-तत्व काव्य-पुरुष के लिए आत्मा के समान है और विभिन्न कलात्मक उपकरण उसके शारीरिक अंगों के तुल्य हैं। यही कारण है कि काव्य का अध्ययन करने पर पाठक की दृष्टि सर्वप्रथम उसके भाव-तत्व पर केन्द्रित होती है और तदनन्तर वह उसके कला-पक्ष पर दृष्टिपात करता है। अतः काव्य में उत्कृष्ट भावों के प्रतिपादन की आवश्यकता निर्विवाद है। भाव-कथन करते समय कवि को साहित्यिक प्रतिभा के अतिरिक्त अपनी लौकिक अनुभूति का भी स्पष्टीकरण करना होता है। अतः उसके भावों को किसी एक विशिष्ट बन्धन में आबद्ध नहीं किया जा सकता। भाव असीम होते हैं और उनका स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि कवि द्वारा उन्हें अनुभूति, चिन्तन और कल्पना के आधार पर सुन्दर रीति से उपस्थित किया जाए।

कविवर जायसी के 'पद्मावत' का मूल सौन्दर्य उसके भावों में ही निहित है। सामान्यतः किसी भी रचना के भाव-तत्व का विश्लेषण करने के लिए उसमें रस, प्रकृति, मानव-चरित्र, आध्यात्मिकता, कल्पना आदि के समावेश का अध्ययन किया जाता है। जायसी ने अपने काव्य में इन सभी भावों का श्रेष्ठ संयोजन किया है। प्रेमाश्रयी भक्ति-धारा के प्रतिनिधि कवि होने के कारण उनके भावों का इस धारा के सभी

परकालीन कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जायसी के काव्य का महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। आगे हम उनकी विविध भावगत विशेषताओं का क्रमशः उल्लेख करेंगे।

रस-निरूपण

मानव-जीवन की विविधता के प्रतिपादन के लिए काव्य में रस की उचित समष्टि नितान्त आवश्यक है। प्रबन्ध काव्य में रस के समावेश के लिए अधिक अवकाश रहता है। जायसी ने 'पद्मावत' में शृंगार रस को मुख्य स्थान प्रदान किया है। और उसके अतिरिक्त वीर, शान्त, वात्सल्य, भयानक और वीभत्स आदि अन्य रसों को भी यथास्थान प्रयुक्त किया है। उन्होंने रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम को लेकर संयोग शृंगार का सुन्दर आयोजन किया है। उन्होंने 'पद्मावत' में प्रेम के स्थूल पक्ष की अपेक्षा उसके सूक्ष्म मानसिक पक्ष के वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने विवाह से पूर्व रत्नसेन और पद्मावती के पूर्व राग का कथन करने के उपरान्त पद्मावती की भावनाओं का सहज विकास अंकित किया है। इस स्थान पर कवि ने सखी-विनोद आदि प्रेम के प्रारम्भिक पक्षों का सुन्दर चित्रण किया है, तथापि कहीं-कही फारसी-प्रभाव के कारण पद्मावती के हृदय में रत्नसेन के प्रति अवज्ञा के भाव को दिखाया गया है। वैसे जायसी ने सतीत्व की मर्यादा का निर्वाह करते हुए भारतीय प्रेम-प्रणाली का परिचय दिया है। पद्मावती और रत्नसेन के प्रेम के अतिरिक्त जायसी ने व्यंजना द्वारा नागमती के प्रेम को भी प्रदर्शित किया है।

शृंगार रस के वियोग पक्ष की दृष्टि से जायसी ने विरह के निम्नलिखित तीन पक्ष रखे हैं :—

(क) रत्नसेन का पद्मावती के प्रति विरह-भाव।

(ख) पद्मावती का रत्नसेन के प्रति विरह-भाव।

(ग) नागमती का रत्नसेन के प्रति विरह-भाव।

इन तीनों पक्षों में से कवि ने नागमती की वियोगावस्था का अधिक मार्मिक वर्णन किया है। उन्होंने विरह-चित्रण के लिए निम्नलिखित दो प्रणालियों को अपनाया है :—

(१) स्वाभाविक चित्रण

इस प्रणाली के अन्तर्गत जायसी ने नागमती के विरह का सहज संवेदनमय चित्रण किया है। उन्होंने मानवीय भावनाओं का प्राकृतिक उपादानों से सहज सम्बन्ध स्थापित करते हुए नागमती के विरह में प्रकृति को दुःखी दिखाया है और इस प्रकार प्रकृति की संवेदना का भी मार्मिक चित्रण किया है। नागमती की विरह-दशा की मार्मिकता का निम्नलिखित पंक्तियों से सहज ही अनुमान किया जा सकता है :—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परैं, कंत धरैं जहँ पांव॥

(२) ऊहात्मक चित्रण

फारसी के प्रभाव के कारण जायसी ने ऊहात्मक प्रणाली को भी अपनाया है। इस प्रभाव के कारण जहां उन्होंने अनेक रम्य मधुर कल्पनायें उपस्थित की है, वहाँ उनके काव्य में अनेक अस्वाभाविकताओं का भी समावेश हो गया है।

शृंगार रस के अतिरिक्त जायसी ने जीवन की अनेकरूपता को स्पष्ट करने के लिए शोक, उत्साह और क्रोध आदि अन्य भावों को भी स्थान दिया है। वीर रस का वर्णन करते हुए उन्होंने गोरा-बादल के चरित्र की नितान्त सफल सृष्टि की है। आध्यात्मिक काव्य होने के कारण इसमे शान्त रस को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। कथा के अंतिम भाग में रत्नसेन की मृत्यु होने पर कवि ने करुण रस का भी सुन्दर आयोजन किया है। इसी प्रकार अन्य रसों का भी 'पद्मावत' में यथास्थान समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ पद्मावती की सौन्दर्य-चर्चा को सुनने के उपरान्त राजा रत्नसेन के चित्तौड़ गढ़ से प्रस्थान करने पर उनके परिवार के सदस्यों की निम्नलिखित करुण स्थिति देखिए :—

रोवहिं नागमती रनिवासू।
केइ तुम्ह कंत दीन्ह बनवासू ?
अब कों हमहिं करिहि भोगिनी।
हमहूँ साथ होब जोगिनी॥
की हम्ह लावहु अपने साथा।
की अब मारि चलहु एहि हाथा॥
तुम्ह अस बिछुरं पीउ पिरीता।
जहँवाँ राम तहाँ सँग सीता॥
जौ लहि जिउ सँग छाँड़ न काया।
करिहौं सेव, पखरिहौं पाया॥
भलेहि पद्मिनी रूप अनूपा।
हम तें कोइ न आगरि रूपा॥

× × ×

रोवत माय, न बहुरत बारा।
रतन चला घर भा अँधियारा॥
बार मोर जो राजहि राता।
सो लै चला सुआ परबता॥

—(पद्मावत, जोगि-खण्ड, छन्द-संख्या ६–८)

अध्यात्म-तत्व

'पद्मावत' में लौकिक प्रेम के चित्रण द्वारा अलौकिक प्रेम के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से इसमें पात्रों की स्थिति प्रतीकात्मक रही है और

मुख्य पात्रों में रत्नसेन को साधक तथा पद्मावती को ईश्वर के रूप में चित्रित किया गया है। जायसी ने आध्यात्मिक विचारों को स्पष्ट करने में पात्रों के रूपकात्मक संयोजन में अनेक असफलतायें दिखायी हैं तथापि अनेक स्थानों पर 'पद्मावत' में अध्यात्म-तत्व की सरल-स्पष्ट व्याख्या हुई है। उन्होंने भावनात्मक रहस्यवाद के चित्रण द्वारा 'पद्मावत' में प्रेम-तत्व को मूल स्थान प्रदान किया है। उन्होंने हठयोग-विषयक वर्णनों में रहस्यवाद के साधनात्मक स्वरूप का परिचय देते हुए 'राजा-गढ़-छेंका-खण्ड' में अपनी इस विषय की भावनाओं को भी स्पष्ट अवश्य किया है, किन्तु 'पद्मावत' में भावनात्मक रहस्यवाद ही मुख्य रहा है। भक्ति काल के सूफी कवियों में जायसी ने ही रहस्यवाद के इस स्वरूप का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन किया है और रत्नसेन की साधना का भावनात्मक आख्यान किया है।

'पद्मावत' के पूर्वार्द्ध में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का अधिक समावेश हुआ है और उसके उत्तरार्द्ध में इतिहास को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। इस काव्य में चित्तौड़ गढ़ के चिर-प्रसिद्ध कथानक को सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। जायसी ने अपने अन्य सहयोगी प्रेमगाथाकाव्यकारों की अपेक्षा इतिहास की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने 'पद्मावत' में घटनाओं और पात्रों को यथासंभव ऐतिहासिक रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है, तथापि उन्होंने निम्नलिखित कारणों से 'पद्मावत' में कल्पना का भी समावेश किया है :—

(१) कथानक में गति-आयोजन के लिए।
(२) नायक के व्यक्तित्व का उत्कर्ष प्रदर्शित करने के लिए।
(३) रस-सृष्टि के लिए।
(४) रूपक-निर्वाह के लिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'पद्मावत' में इतिहास का आधार ग्रहण करने पर भी जायसी ने कल्पना और इतिहास का मधुर मिश्रण उपस्थित किया है।

चरित्र-चित्रण

यद्यपि 'पद्मावत' घटना-प्रधान काव्य है और इसमें पात्रों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व नहीं दिया गया है, तथापि जायसी ने अपने विभिन्न पात्रों की स्थिति का मनो-वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है। उन्होंने पात्रों की हृदयगत भावनाओं को सफल अभि-व्यक्ति प्रदान की है तथा रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, अलाउद्दीन, गोरा, बादल और राघव चेतन आदि विभिन्न मनोवृत्तियों के पात्रों का सफल संयोजन किया है। इस प्रकार उन्होंने 'पद्मावत' में पात्रों की शारीरिक और मानसिक स्थितियों का उपयुक्त चित्रण किया है। रूपक-संयोजन के कारण इस कृति में चरित्र-चित्रण का कार्य कठिन था और यही कारण है कि प्रायः सफल होने पर भी रूपक के आग्रह के कारण कवि को कहीं-कहीं असफलता भी मिली है। उदाहरणार्थ जायसी ने नागमती को सांसारिक धन्धों की प्रतीक माना है, किन्तु उसका चरित्र वास्तव में वैसा नहीं है और उसके हृदय में सर्वत्र दया, स्नेह और ममता आदि उच्चतर मानवीय गुणों की समष्टि रही है।

प्रकृति-चित्रण

सूफी दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति में परमात्मा का प्रतिबिम्ब निहित रहता है। अतः 'पद्मावत' में प्रकृति के अनेक चित्र प्राप्त होते हैं। जायसी ने परम्परागत प्रणाली के अनुकूल प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त इस विषय में अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया है। उनके काव्य में प्रकृति-चित्रण के दो पक्ष रहे हैं :—

(१) प्रकृति का यथातथ्य चित्रण

इस प्रकार के चित्रों में जायसी ने प्रकृति का उसी रूप में वर्णन किया है जिस रूप में वह सामान्यतः दृष्टिगत होती है। हिन्दी-काव्य में प्रकृति-वर्णन का यह रूप पर्याप्त प्रचलित रहा है, किन्तु इस प्रणाली के द्वारा काव्य में मौलिकता का समावेश नहीं हो पाता है और प्रकृति के वर्णित स्वरूप का सामान्य परिचय प्राप्त करने पर भी पाठक उसके माध्यम से पूर्ण रस-ग्रहण नहीं करने पाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने प्रकृति-निरीक्षण करते समय अधिक श्रम नहीं किया है। यद्यपि जायसी ने इस प्रणाली का पूर्णतः आश्रय नहीं लिया है, तथापि 'पद्मावत' में हमें इस प्रकार के अनेक प्रकृति-चित्र प्राप्त होते हैं।

(२) प्रकृति का सूक्ष्म सौन्दर्य-चित्रण

प्रकृति के इस पक्ष को निरूपित करने में जायसी को अधिक सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने प्राकृतिक उपकरणों में मानवीय भावनाओं का समावेश करते हुए प्रकृति को मानवीय स्थिति से प्रभावित होते हुए दिखलाया है। उदाहरणार्थ रत्नसेन के चित्तौड़ लौटने पर नागमती की वेदना के अन्त के साथ-साथ उसके दुःख से व्याकुल प्रकृति की वेदना का भी अन्त हो जाता है :—

पलुटी नागमती कै बारी,
सोने फूल फूलि फुलवारी ।
जावत पंखि रहे सब दहे,
सबै पंखि बोले गहगहे ।।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जायसी ने प्रेम-गाथा-काव्य-धारा की विभिन्न विशेषताओं को 'पद्मावत' में समाविष्ट कर उसे अत्यन्त श्रेष्ठ रूप में उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि रूपक-निर्वाह के आग्रह के कारण 'पद्मावत' में कहीं-कहीं अस्वाभाविकतायें भी लक्षित होती हैं, तथापि प्रायः इसकी कथावस्तु का प्रवाह स्वाभाविक रहा है और कवि ने उसे इतिवृत्तात्मक रूप में उपस्थित करने पर भी रसात्मक रखा है। आगे हम उनके काव्य के कला-पक्ष की चर्चा करेंगे।

कला-पक्ष

सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए कवि अलंकार, गुण, शैली तथा शब्द-शक्ति आदि जिन विभिन्न उपकरणों का आश्रय ग्रहण करता है उन्हें कलात्मक उपकरणों की संज्ञा प्रदान की जाती है और किसी भी काव्य के कला-पक्ष का मूल्यांकन

करते समय हमें उसमें उपर्युक्त तत्वों का अन्वेषण और परीक्षण करना होता है, इन तत्वों की उपयुक्त समष्टि के लिए यह आवश्यक है कि कवि का शास्त्रीय अध्ययन अत्यन्त गहन हो। मुसलमान कवि होने के कारण जायसी को भारतीय साहित्य-शास्त्र का अधिक परिचय प्राप्त न था। इस कारण उनके काव्य में कला-तत्व के समावेश के लिए अधिक ठोस आधार-भूमि नहीं रही है, तथापि प्रबन्ध-रूप में रचित होने के कारण उनकी प्रतिनिधि काव्य-कृति 'पद्मावत' में कलात्मक सौन्दर्य का स्वतः सहज समावेश हो गया है। प्रेम-गाथा-काव्य-धारा के अपने अन्य सहयोगी कवियों की अपेक्षा उन्होंने इस विषय में अपने साहित्यिक ज्ञान का कहीं अधिक श्रेष्ठ परिचय दिया है। उनके काव्य में विभिन्न कलात्मक गुणों की स्थिति इस प्रकार है :—

भाषा

जायसी ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की है। उन्होंने 'पद्मावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' नामक तीन काव्यों की रचना की है, किन्तु इनमें भाषा-सौन्दर्य और अन्य साहित्यिक गुणों की दृष्टि से 'पद्मावत' को ही शीर्ष स्थान प्राप्त है। अवधी भाषा में काव्य-रचना का श्रेय हिन्दी के प्रेम-गाथा-काव्यकारों के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास जी को है। भाषा के प्रौढ़ स्तर-नियोजन की दृष्टि से अवधी की काव्य-कृतियों में तुलसी के 'रामचरितमानस' के उपरान्त जायसी के 'पद्मावत' को ही प्रतिनिधि स्थान प्राप्त है। जायसी की भाषा का स्वरूप सहज-सरल और व्यावहारिक रहा है। उन्होंने अपनी भाषा को कृत्रिमता से पृथक् रखकर वाक्य-संगठन को अधिकाधिक स्वाभाविक रखने का प्रयास किया है। भावानुकूल परिवर्तन के गुण से युक्त होने के कारण उनकी भाषा में और भी अधिक प्रवाह का विधान हुआ है और विभिन्न रसों के अनुकूल भाव-प्रतिपादन में वह पूर्णतः सक्षम रही है। भाषा में सजीवता का संचार करने के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में मुहावरों और लोकोक्तियों को भी यथास्थान प्रयुक्त किया है। मुहावरों में व्यंजना और लोकोक्तियों में अनुभूतिजन्य सत्य का समावेश करने में वह पूर्णतः सफल रहे हैं। यथा :—

(i) **मुहावरा—**

का वह पंखि कूट मुँह कूटे।
अस बड़ बोल जीभ मुख छोटे॥

('छोटे मुँह बड़ी बात' का प्रयोग)

(ii) **लोकोक्ति—**

का भा जोग कथनि के कथे।
निकसै घीउ न बिना दधि मथे॥

जायसी के काव्य में अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्द-शक्तियों का उपयुक्त समावेश हुआ है। गुण-समष्टि की दृष्टि से भी उन्होंने प्रसाद, ओज और माधुर्य नामक तीनों गुणों का सफल प्रयोग किया है। प्रसाद गुण की उनके काव्य के अधिकांश भाग में व्याप्ति रही है और अवधी के अप्रचलित साहित्य-भाषा होने के कारण

ही उनका काव्य हमें क्लिष्ट प्रतीत होता है। 'पद्मावत' में रूपक-तत्व के समावेश के कारण जहाँ कहीं कवि ने हठयोग की शब्दावली का प्रयोग किया है वहाँ प्रसाद गुण का अभाव रहा है। नागमती के वियोग-वर्णन और शृंगार रस के अन्य प्रकरणों में कवि ने माधुर्य गुण का उपयुक्त निर्वाह किया है। ओज गुण के समावेश में भी उन्हें आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त हुई है और 'पद्मावत' के विभिन्न युद्ध-वर्णनों में उन्होंने इस गुण का उचित प्रयोग किया है।

शब्द-चयन करते समय जायसी ने अपने काव्य में अवधी भाषा के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों का भी प्रयोग किया है। तद्भव और देशज शब्दों का उन्होंने इनकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रयोग किया है। मुसलमान कवि होने कारण उनकी रचनाओं में अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार उन्होंने कहीं-कहीं प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी प्रशंसनीय प्रयोग किया है। आगे हम उनकी शब्द-प्रयोग-विषयक विभिन्न प्रवृत्तियों के उदाहरण उपस्थित करते हैं :-

(i) **संस्कृत के तत्सम शब्द—**

अमर, मेघ, समुद्र, कुसुम आदि।

(ii) **अर्द्ध-तत्सम शब्द—**

कैलास, रतन, सायर, मारग, निरासा आदि।

(iii) **तद्भव शब्द—**

पिरीतम, दरसन, ईसर, उछाह आदि।

(iv) **देशज शब्द—**

राँध (निकट), अहक (लालसा), नीवई (स्त्री) आदि।

(v) **शाब्दिक अंग-भंग—**

सरह (शलभ), पुहुमी (पृथ्वी), इन्दू (इन्द्र) आदि।

(vi) **विदेशी शब्द—**

फारसी भाषा—ककनू ('ककनुस' पक्षी)।

(vii) **प्रान्तीय शब्द—**

(अ) बंगला भाषा के क्रियात्मक रूप—आछै (बंगला में 'आछे' क्रिया है), पारना (सकना)।

(ब) बंगला भाषा के शब्द— आदि ('बिल्कुल' के अर्थ में)।

(viii) **श्रवण-सुखदता के लिए शब्द-रूपान्तर—**

दर (दल), बर (बल), करा (कला), निरमरा (निर्मल) आदि।

(ix) **अप्रचलित शब्द-प्रयोग—**

चाहि (अपेक्षाकृत अधिक), बाज (रहित), बिसवासी (विश्वासघाती)।

(x) **व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग—**

दसन देखि कै बीजु लजाना।

(यहाँ 'लजानी' का प्रयोग होना चाहिए था)।

यद्यपि यह सत्य है कि जायसी ने अपने काव्य में ठेठ पूरबी अवधी भाषा का स्वाभाविक प्रयोग किया है, तथापि कहीं-कहीं उनके वाक्य-संगठन में विविध काव्य-दोष भी उपलब्ध होते हैं। यथा :—

(i) **न्यूनपदत्व शब्द—**

जायसी के काव्य में अव्ययों, विभक्तियों और सम्बन्धवाचक सर्वनामों का प्राय: लोप हुआ है और इस कारण उचित अर्थ की प्रतिपत्ति में बाधा उपस्थित हुई है तथा प्रसाद गुण का कुछ स्थलों पर अभाव हो गया है। यथा :—

कह सो दीप पतँग कै मारा।

(यहाँ 'पतँग' से पूर्व 'जेई' का लोप है।)

(ii) **अप्रयुक्तत्व दोष—**

इस दोष के अनुसार काव्य में उन शब्दों के प्रयोग का निषेध रहता है जो जन-साधारण में प्रचलित सामान्य अर्थ से भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। जायसी के काव्य से सामान्य परिचय के लिए हम इस प्रकार के दो शब्द उद्धृत करते हैं :—

(अ) बिसास ('विश्वासघात' के अर्थ में प्रयुक्त)।

(ब) निरास ('आश्रयहीन' के अर्थ में प्रयुक्त)।

(iii) **अनुचितार्थत्व दोष—**

इस दोष के अनुसार साहित्य-शास्त्रियों ने किसी विशिष्ट अर्थ को ग्रहण कराने वाले शब्द को किसी अन्य अनुचित अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयुक्त करने का निषेध किया है। इस दोष का समावेश होने पर साधारणत: कवि की अल्पज्ञता का ही भान होता है। इस दृष्टि से जायसी ने भी 'रावण' शब्द को 'रमणकर्त्ता' के अर्थ में प्रयुक्त कर एक गम्भीर भूल की है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि 'पद्मावत' की भाषा में कवि ने विविधता के संयोजन का उपयुक्त ध्यान रखा है, किन्तु हिन्दी-काव्य-शास्त्र की परम्पराओं से अपरिचित होने के कारण वह अनेक स्थानों पर भाषागत अशुद्धियाँ कर गये हैं। तथापि प्रेमगाथा-काव्य के अन्य रचयिताओं की अपेक्षा उनकी भाषा अधिक संतोषजनक है।

शैली

कविवर जायसी के काव्य में अन्य शैलियों के अतिरिक्त चित्र-शैली को भी स्थान प्राप्त हुआ है। चित्र-शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसमें कवि वर्ण्य को चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। जायसी ने अपने काव्य में इस शैली का आधार ग्रहण करते हुए प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य के सुष्ठु चित्र उपस्थित किये हैं। मानवीय सौन्दर्य का अंकन करते समय उन्होंने पात्रों के शरीर-सौन्दर्य का चित्रण करने के साथ-साथ भावनाओं को रम्य अभिव्यक्ति प्रदान की है और यथा-स्थान उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग द्वारा रूपक के वातावरण को भी सुरक्षित रखा है।

नागमती की वियोग-भावनाओं तथा गोरा-बादल की वीर-भावनाओं को कवि ने इसी चित्र-शैली के माध्यम से उपस्थित किया है।

जायसी ने सूक्ति शैली का उपयोग करते हुए अपनी रचनाओं में अनेक चमत्कारपूर्ण भाव भी उपस्थित किये हैं। इस प्रकार के भावों में भावुकता और वाग्वैदग्ध्य का सम्मिलित रूप वर्तमान रहा है और इनमें आकर्षण की पूर्ण क्षमता का समावेश रहा है। 'पद्मावत' में उन्होंने प्रेम, सत्य, उत्सर्ग, नम्रता और लोक-नीति आदि के विषय में सुन्दर चमत्कारपूर्ण उक्तियों का समावेश किया है। उदाहरणार्थ वृद्ध व्यक्ति के विषय में उनका निम्नलिखित कथन देखिए :—

मुहमद बिरध जो नइ चलै, काह चलै भुइँ टोइ।
जोबन रतन हेरान है, मकु धरती पर होइ॥

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त जायसी ने अपने 'पद्मावत' में सम्बोधन शैली, उद्बोधन शैली, संलाप शैली और विवरणात्मक शैली का भी प्रयोग किया है। सम्बोधन शैली के अन्तर्गत उन्होंने किसी एक पात्र द्वारा किसी अन्य पात्र अथवा प्रकृति को सम्बोधित कराकर भावाभिव्यक्ति की है। उद्बोधन शैली के अन्तर्गत उन्होंने 'पद्मावत' के अनेक दोहों में मानव-मन को उद्बोधित करने में समर्थ नैतिक अथवा भक्ति-विषयक भावनाओं का समावेश किया है। संलाप शैली के अन्तर्गत उन्होंने पात्रों के पारस्परिक सम्वादों को स्थान दिया है। विवरणात्मक शैली को भी 'पद्मावत' में पर्याप्त स्थान प्राप्त रहा है और उन्होंने भोजन, पक्षियों तथा क्रीड़ाओं आदि के विवरण उपस्थित किये हैं।

अलंकार-प्रयोग

जायसी ने अपने काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक आदि सादृश्य-मूलक अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। अलंकार-योजना करते समय उन्होंने प्रायः सहज-सरल भावों को अलंकृत किया है, किन्तु कहीं-कहीं गूढ़ अलंकार-योजना की प्रवृत्ति को भी उन्होंने अपनाया है। इस प्रकार के स्थलों पर उन्होंने एक ही पद में अनेक अलंकारों का साभिप्राय जटिल समावेश किया है। इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने काव्य में अलंकारों की योजना परम्परागत रीति से ही की है और उनके उपमान प्रायः कवि-प्रसिद्ध ही रहे हैं। तथापि फारसी-साहित्य के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं उन्होंने हिन्दी-काव्य की प्रवृत्ति के प्रतिकूल अलंकारों को भी प्रयुक्त किया है। शृंगार-वर्णन करते समय वीभत्स रस को पोषित करने वाली उनकी उत्प्रेक्षाएँ इसी प्रकार की हैं। उदाहरणार्थ हथेली का निम्नलिखित सौन्दर्य-वर्णन देखिए :—

हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा।
रुहिर भरी अंगुरी तेहि साथा॥

जायसी ने अर्थालंकारों का प्रयोग करते समय परम्परा-निर्वाह का ध्यान रखते हुए भी अपने अलंकारों को भावानुरूप रखा है। शब्दालंकारों का प्रयोग करने में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और उन्होंने अनुप्रास, यमक तथा श्लेष आदि शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग किया है। यथा :—

गई सो पूजि, मन पूजि न आसा ।
—(यमक अलंकार)

छन्द-योजना

जायसी ने प्रेम-गाथा-काव्य के अन्य कवियों की भाँति 'पद्मावत' में चौपाई और दोहे के क्रम का निर्वाह किया है और सात अर्द्धालियों अथवा साढ़े तीन चौपाइयों के पश्चात् एक दोहे की रचना की है। यह छन्द-योजना अवधी भाषा में भावाभिव्यक्ति के लिए नितान्त उपयुक्त रही है और कुछ अपवादों को छोड़कर जायसी अपने छन्दों की रचना में प्रायः सफल ही रहे हैं। आगे हम उदाहरण के लिए उनके 'पद्मावत' नामक काव्य से एक चौपाई और एक दोहा उद्धृत करते हैं :—

कहा मानसर चाह सो पाई ।
पारस रूप इहाँ लगि आई ।।
भा निरमल तिन्ह पायँन्ह परसे ।
पावा रूप, रूप के दरसे ।।
मलय-समीर बास तन आई ।
भा सीतल, गै तपनि बुझाई ।।
न जनौं कौन पौन लेइ आवा ।
पुण्य दसा भै पाप गँवावा ।।
ततखन हार बेगि उतिराना ।
पावा सखिन्ह चन्द बिहँसाना ।।
बिगसा कुमुद देखि ससि रेखा ।
भै तहँ ओप जहाँ जोइ देखा ।।
पावा रूप रूप जस चहा ।
ससि-मुख जनु दरपन होइ रहा ।।
नयन जो देखा कवँल भा, निरमल नीर सरीर ।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर ।।

जायसी के काव्य के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कला-नियोजन करते समय भारतीय आदर्शों के साथ-साथ फारसी-साहित्य के आदर्शों से भी प्रेरणा ग्रहण की है। अवधी भाषा के प्रयोग-सौष्ठव की दृष्टि से प्रेमगाथाकाव्यकारों की श्रेणी में उन्हें प्रथम श्रेणी प्राप्त है। कला की दृष्टि से उनके काव्य में जो दोष प्राप्त होते हैं, वे भी इसलिए क्षम्य हैं कि उनका उद्देश्य काव्य-कला से अलंकृत रचनाएँ उपस्थित करना नहीं था, अपितु उन्होंने जनता को अपने मत से अवगत कराने के लिए प्रचार की दृष्टि से काव्य-सृष्टि की थी ।

: ६ :

सूर के 'भ्रमरगीत' में रस-योजना

सन्त सूरदास का जन्म सम्वत् १५४० में ब्रज-क्षेत्र के रुनकता नामक ग्राम में हुआ था और मृत्यु सम्वत् १६२० में पारसौली ग्राम में हुई थी। उनके पिता का नाम रामदास था और वह एक निर्धन सारस्वत ब्राह्मण थे। सूरदास जी के विषय में कतिपय व्यक्तियों का मत है कि वह जन्मान्ध थे, परन्तु हमें यह सत्य प्रतीत नहीं होता। वह वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे और उन्होंने भक्ति काल की कृष्णोपासक शाखा के अन्तर्गत पर्याप्त साहित्य का सृजन किया है। यह साहित्य स्वतः इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने इसकी रचना प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर की होगी और सूर जन्म से अन्धे न होंगे।

सूर के इष्टदेव कृष्ण थे। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल से ही वह उनकी उपासना में लीन रहते थे। उनकी भक्ति मूलतः सख्य भाव की थी। वैसे उन्होंने विनय, वात्सल्य और शृंगार-विषयक पदों की मुख्य रूप से रचना की है। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी की भक्ति उन्हें कभी भी इष्ट नहीं रही और इसी कारण उन्होंने कहा भी है :—

अन्य देव सब रंक भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।

सूर के 'सूरसागर', 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' नामक तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से 'सूरसागर' ही सर्वाधिक प्रख्यात है। उन्होंने अपने काव्य में वात्सल्य रस को ही विशेष रूप से परिगृहीत किया है और एक प्रकार से वह इस रस के श्रेष्ठतम आचार्य रहे हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत उनका भ्रमरगीत-काव्य अपना अन्यतम महत्व रखता है। रस, माधुर्य और भावना का इतना उत्कृष्ट समन्वय साहित्य में प्रायः अत्यन्त विरल ही रहा है। अष्टछाप के कवियों में सूर सर्वश्रेष्ठ थे और तथ्यतः कृष्ण-भक्ति की अतिशय लोक-प्रियता का अधिकांश श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। उनके काव्य का अध्ययन करने पर पाठक श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए अनिवार्यतः व्यग्रता का अनुभव करने लगता है। इसका कारण यह है कि उन्होंने श्रीकृष्ण के लीला पुरुषोत्तम स्वरूप को मनोरंजक अभिव्यक्ति प्रदान की है। रस का यथाविध प्रतिष्ठान उन्हें सर्वत्र इष्ट रहा है और उनके पदों का अध्ययन करने पर किसी भी स्थल पर शुष्कता का आभास नहीं होता। वस्तुतः उनका काव्य भक्ति की पवित्रता और प्रेरणा से संयुक्त होने के कारण विशिष्ट रसदायी मूल्यों से युक्त रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में हम 'सूरसागर' के भ्रमरगीत-प्रकरण में समाविष्ट मुख्य रसों के स्वरूप की चर्चा करेंगे।

'भ्रमरगीत' में व्याप्त विषय-वस्तु के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि इसमें प्रमुख रूप से विप्रलम्भ शृंगार को और गौण रूप से करुण तथा वात्सल्य नामक रसों को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। तथापि कवि ने इस रस-त्रिक् को मात्र पृथक् इकाइयों के रूप में ग्रहण न कर उनमें उपयुक्त समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से करुण रस को सर्वत्र विप्रलम्भ शृंगार से परिपोष प्राप्त हुआ है और वात्सल्य रस शृंगार रस से ग्रथित न होने पर भी प्रकारान्तर से विप्रलम्भ-भाव से अवश्य सम्बद्ध है। इन रसों के अतिरिक्त कवि ने व्यंजनात्मक रूप में परोक्ष रीति से संयोग शृंगार को भी इसमें प्रतिनिधित्व प्रदान किया है। संयोग-भावना की यह मधुरिम और संकेतात्मक अभिव्यक्ति मूलतः गोपियों के अतिशृंगाराधृत व्यवहार में सिद्ध होती है और गौणतः यह कुब्जा के संक्षिप्त अनुरागमय वक्तव्यों में परिचालित हुई है।

'भ्रमरगीत' में प्राप्त होने वाला वियोग का समग्र वैह्वल्य गोपियों और उनके प्रियतम कृष्ण के मध्य सीमित रहा है। चिरकाल के लिए परस्पर वियुक्त होने के कारण इन दोनों ही पक्षों की वेदना अपनी चरम सीमा को पहुँच गई है और उसमें किसी भी प्रकार के शैथिल्य अथवा पराभव के दर्शन हमें किसी भी स्तर पर नहीं होते। करुण रस का परिपाक भी अवसर के उपयुक्त इसी वियोग-भाव पर अवलम्बित रहा है और समग्र आख्यान में उसकी प्रस्तोता केवल गोप-वधुएँ ही रही हैं। उद्धव के निर्मम और रस-शून्य भाव-प्रतिपादन से जहां शृंगार रस के वियोग पक्ष को गति प्राप्त हुई है, वहाँ उससे करुण रस को भी स्थायित्व प्राप्त हुआ है। वात्सल्य रस की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति उसके चरम अभावात्मक अथवा विप्रलम्भपरक पक्ष को लेकर हुई है। वह अपने आप में वियोगाधृत होने के साथ-साथ अतिशय करुण भी है और इस रीति से उसका उपर्युक्त दोनों रसों से सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस रस की सम्पूर्ण चेतना जननी यशोदा के चतुर्दिक् केन्द्रित रही है और व्यंजित अथवा स्पष्ट-कथित, दोनों ही रूपों में उसकी अभिव्यक्ति भाव की दृष्टि से अत्यन्त घनीभूत रही है। इस प्रकार कवि ने इन समग्र रस-दशाओं का संयोजन करते समय वातावरण से पर्याप्त सहायता ग्रहण की है और प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि उनका प्रतिपादन अपने में सर्वथा निर्भ्रान्त, स्वस्थ तथा पूर्ण रहे।

प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य के विभिन्न रचनात्मक अंगों का विवेचन करते समय रस को अनन्य महत्व प्रदान करते हुए उसे काव्य की आत्मा के पद पर प्रस्थापित किया है। यह सत्य है कि कतिपय परवर्ती आचार्यों ने अलंकार, रीति एवं वक्रोक्ति आदि इतर काव्यांगों को ही काव्यात्मा के रूप में स्वीकृत किया है, तथापि इतना स्पष्ट है कि रस के अकूल महत्व को सबने मुक्त कण्ठ से उद्घोष प्रदान किया है। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप में स्वीकृत हो चुका है कि कवि गुण एवं अलंकार आदि अन्य शोभा-धर्मों से नितान्त विरक्त रहकर भी काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है, किन्तु रस-तत्व का स्फुरण और परिग्रहण उसके लिए प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य है। वस्तुतः रसात्मक चेतना के अन्तः स्थित माधुर्य से परिप्लावित होने के उपरान्त ही काव्य को सौन्दर्यमूलक

शृंगार की उपलब्धि होती है और तभी वह अपने रम्य सौष्ठव को प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है। रसज्ञ कवि होने के कारण कविवर सूरदास इस तत्व से पूर्णरूपेण परिचित थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य का सृजन करते समय अलंकार एवं छन्द आदि के बाह्य बन्धनों का परित्याग कर रस एवं गति के आन्तरिक मूल्यों का विशेष समर्थन किया है।

सूर के काव्य का अध्ययन करने के उपरान्त हमारे समक्ष सर्वप्रथम जिस सत्य का उद्घाटन होता है, वह यह है कि उन्होंने अपनी कृति में पद-पद पर नवीन प्रणालियों से रस का उद्भावन करने का सुष्ठु प्रयत्न किया है। संगीत की मनोरम चेतना पर आधृत होने के फलस्वरूप भी उनके काव्य में रस-तत्व का किन्हीं विशिष्ट सीमाओं तक समावेश हुआ है। वस्तुतः हृदय का प्रतिनिधित्व करने वाली रम्य रागात्मक अन्तर्धारा का जितना सफल उद्भावन सूर ने अपनी प्रस्तुत रचना में किया है, उतना किसी भी अन्य तत्कालीन कवि ने अपनी कृति में नहीं किया। भाव-संयोजन करते समय उन्होंने सर्वत्र यह चेष्टा की है कि उनकी विचार-धारा स्थूल स्तरों से उठकर सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त हो। यही कारण है कि वह अपने काव्य में रस और भावना के सहयोग को इतने आग्रह के साथ स्थापित कर सके हैं।

रस की दृष्टि से 'भ्रमरगीत' में सर्वप्रथम हमारे समक्ष शृंगार रस के विप्रलम्भ पक्ष का उद्भावन होता है। वियोग की इस घनीभूत चेतना का अंकन करते समय कवि ने मनोविज्ञान का स्पष्ट आधार ग्रहण किया है और उसी के अनुकूल प्रिया तथा प्रियतम, दोनों ही की विरह-जनित मानसिक स्थिति का उल्लेख करने का प्रयास किया है। यद्यपि इस विषय में उनकी भावनाएँ पूर्णतः मुखरित न होकर कहीं-कहीं केवल दबकर रह गई हैं, तथापि इतना सत्य है कि केवल प्रेमिका की विरह-दशा का उल्लेख करने की परम्परागत प्रणाली के प्रति उन्होंने निश्चित विरोध का प्रदर्शन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भिक छन्दों में ही नायक कृष्ण की वियोग-जन्य आन्तर वेदना का उल्लेख उनकी इसी समन्वयात्मक भावना का प्रतीक है। इस विषय में वह किसी भी प्रकार के मिथ्या संकोच का आश्रय ग्रहण न कर अपनी भावनाओं की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति करते हैं और अनुराग-वृत्ति के सम्बन्ध में कृष्ण की प्रतिक्रियाओं का सत्याधृत विवेचन करते हैं। अपनी इसी इच्छा को पूर्ण करने के उद्देश्य से उन्होंने कृष्ण को देवत्व के साथ-साथ मानवीय दुर्बलताओं से भी सन्निविष्ट माना है और गोपियों के प्रति उनके आकर्षण का पूर्ण चित्रण किया है।

यद्यपि 'भ्रमरगीत' के कवि ने गोपियों की विरह-वेदना को मूल स्थान प्रदान किया है, तथापि कृष्ण की तद्विषयक अवस्था के अनेक सूक्ष्म संकेत भी उसमें बहुलता के साथ उपलब्ध होते हैं। शुष्कतर व्यक्तित्व से सन्निविष्ट और प्रेम-विषयक मानवीय संवेदनाओं से पूर्णतः रहित अपने सखा उद्धव के समक्ष इस प्रेम-दशा का कथन रस-तत्व की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इससे यही व्यंजित होता है कि विरह के उस दुस्सह दुःख का और अधिक वहन करने में कृष्ण नितान्त असमर्थ हो गये थे और उस

भार को हल्का करने के उद्देश्य से उन्हें उद्धव जैसे अनधिकारी और सांत्वना प्रदान करने में असमर्थ पात्र के समक्ष उसका कथन करने को विवश होना पड़ा था। इस प्रकार हमारे सन्मुख उनके वियोग की चरमावस्था का स्पष्ट उद्घाटन हो जाता है और इस विषय में किसी भी प्रकार के दुराव-छिपाव की स्थिति शेष नहीं रह जाती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पदों मे उनके भाव-प्रतिपादन की गहन शैली को देखिए :—

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपँग सुत मोहिं न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई ॥
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं, इहाँ नहीं मन लागत।
गोपी ग्वाल गाइ बन चारन, अति दुख पायौ त्यागत ॥

—(सूरसागर-सार, उद्धव-सन्देश, पद-संख्या ५)

× × ×

सखा ! सुनि एक मेरी बात।
वह लता-गृह संग गोपिन, सुधि करत पछितात ॥

—(सूरसागर-सार, उद्धव-सन्देश, पद-संख्या ७)

गोपियों के विरह-भाव का 'भ्रमरगीत' में प्रमुख रूप से अन्तर्व्यापन हुआ है। वस्तुतः इस ग्रन्थ की रचना करते समय कवि ने उन्हीं के विरह को पृष्ठाधार के रूप में ग्रहण किया है। कवि को उनकी इस करुण अवस्था के प्रति पूर्ण समवेदना है और यही कारण है कि वह उनकी मनोदशा का चित्रण करते समय अपनत्व की विशिष्ट भावना के फलस्वरूप रागात्मक तत्व का कहीं अधिक मात्रा में संयोजन कर सके हैं। रस के निर्वहन की दृष्टि से गोपी-विरह से सम्बन्धित यह सम्पूर्ण प्रकरण 'भ्रमरगीत' में निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट है। कवि की मानसी सृष्टि होने के साथ-साथ इस अंश की भावनाएँ अनुभूति के तीव्रतम रूप से संयुक्त हैं और इसके फल-रूप में उनमें प्रौढ़ता, गम्भीरता और प्रभावोत्पादन के तत्वों का कहीं अधिक निकट मे संगुम्फन हुआ है। वास्तव में गोपियों की यह भावना विरह-संकुल होने के कारण अपने आप में इतनी मर्मस्पर्शी हो गई है कि प्रत्येक सहृदय अध्येता इसके प्रति रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव करने लगता है। भ्रमरगीत-काव्य की सम्पूर्ण शृंखला में केवल सूर को ही इस दिशा में वास्तविक सफलता उपलब्ध हुई है और वही विरह की भावनात्मक सत्ता को यथार्थ अभिव्यक्ति प्रदान कर सके हैं। उनसे इतर अन्य कवियों में कविवर नन्ददास और श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ही इस ओर कुछ सफलता का लाभ कर सके हैं।

अनुभूतिपरक और संवेदनशील होने के कारण विश्व-साहित्य में विरह-भाव को सर्वत्र प्राथमिकता प्रदान की गई है। विदेशी साहित्य से तुलना करने पर हम देखते हैं कि भारतीय साहित्य इस दृष्टि से किसी भी दिशा में हीनतर नहीं है। सूर ने संस्कृत-साहित्य से चली आती हुई इस परम्परा का पालन करते हुए अपने काव्य में मानवीय भावनाओं के रागात्मक पक्ष की सहज प्रसरणशीलता को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयास किया है और प्रस्तुत कृति में उनकी यह भावना किसी भी स्थल पर क्षीण अथवा लुप्त नहीं हो पाई है। गोपियों की विरह-दशा का चित्रण करते समय

उन्होंने वातावरण के सजीव प्रवाह और रस के उपयुक्त निर्वहन द्वारा एक विशेष मधुर स्थिति का सृजन करने का प्रयास किया है और इन दोनों के पारस्परिक सामंजस्य से प्रत्येक प्रकार की अवरोधात्मक स्थिति को विनष्ट करने की चेष्टा की है। वस्तुतः जीवन की इन उभयवर्ती परिस्थितियों (रस और वातावरण; जीवन का आनन्द और समाज का दृष्टिकोण) के समष्टिगत संयोजन के फलस्वरूप उनकी भावनायें हमारे समक्ष कहीं अधिक मर्मस्पर्शी और सहजात्मक रूप में उपस्थित हो पाई हैं।

विरह के पूर्ण और हृदयग्राही स्फुरण के लिए यह आवश्यक है कि सम्बद्ध व्यक्ति की अन्तर्चेतना केवल उसी ओर उन्मुख हो अर्थात् उसकी समग्र वृत्तियाँ केवल उसी पर केन्द्रित हों। इस विषय में प्रणेता को किसी भी प्रकार का दिग्भ्रम होने पर रस की अन्विति में निश्चित रूप से अवरोध की प्रतीति होती है और काव्य के सौन्दर्यवादी मूल्यों की एक विशिष्ट सीमा तक हानि हो जाती है। रस की दृष्टि से पूर्ण परिपक्व और प्रगाढ़ होने के कारण 'भ्रमरगीत' में गोपियों की वियोगात्मक स्थिति क्रमशः अधिक व्यापक और गहन होती गई है। प्राकृतिक उपादानों से संयुक्त होने के कारण उनकी तद्विषयक विचार-धारा विश्व की सामान्य विरहिणी नारी की अपेक्षा कहीं अधिक आन्तरिक और रसाप्लावित हो सकी है। सृष्टि के चेतन और अचेतन, सभी पदार्थों के प्रति बन्धु-व्यवहार की प्रतीति के फलस्वरूप उनकी भावनाओं में नैसर्गिक नैश्छल्य और स्निग्ध आत्म-भाव का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उद्भावन हुआ है। उद्धव की उक्तियों के कारण उत्पन्न हुई विभिन्न समस्याओं का निराकरण करते समय उन्होंने उनके समक्ष अपनी प्रेम-भावना का प्रायः परिचय दिया है। यथा :—

ऊधो ! पा लागों भल आए।
तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रय ताप नसाए॥

× × ×

ऊधो ! कहत कही नहिं जाय।
मदन गोपाल लाल के बिछुरत, प्रान रहे मुरझाय॥

अवधि-विहीन होने के कारण गोपियों का विरह-प्रतिपादन सामान्य अवधिबद्ध विरह की अपेक्षा कहीं अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली रहा है। संयोग की समग्र अनुभूति और परितृप्ति प्राप्त होने के अनन्तर हृदय में इस प्रकार की वियोग-स्थिति जिस विह्वलता का संचार करती है, वह अतिशय गहन और व्यापक होने के कारण शाश्वत होती है। उसकी समाप्ति केवल प्रियतम के पुण्य दर्शन से ही हो पाती है। 'भ्रमरगीत' में गोपियों के साथ सर्वत्र यही समस्या रही है और यही कारण है कि चेष्टा करने पर भी वे इसका निराकरण करने में असमर्थ रही हैं तथा उद्धव के निर्गुण उपासना से सम्बन्धित वचन उन्हें विष-बाण के तुल्य प्रतीत हुए हैं। इसके फलस्वरूप अपनी मानसिक स्थिति का कथन करते समय उनकी वाणी प्रलापमयी हो गयी है और प्रायः वे अपनी विचार-धारा को किसी अन्य दिशा की ओर प्रेरित करने में अक्षम रही हैं।

साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत विरह-भाव को शृंगार रस के उपरान्त वात्सल्य रस की सीमाओं में विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। सूर ने इस प्रचलित सिद्धान्त का अनुशीलन करते हुए आलोच्य काव्य में यशोदा की पुत्र-वियोग-जन्य विह्वलता का उल्लेख करते हुए इसी आवश्यकता की पूर्ति की है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने इसके अन्तर्गत यशोदा की वियोग-वेदना को गोपियों के विरह-भाव की तुलना में अपेक्षाकृत कम स्थान प्रदान किया है, तथापि रस-निर्वाह के दृष्टिकोण से इन दोनों ही प्रकरणों में चेतना का समान आधार पर आविर्भाव हुआ है। वात्सल्यगत विरह की किंचित् उपेक्षा का मूल कारण यही है कि कवि का उद्देश्य केवल गोपियों के वियोग-संवेदन को स्पष्ट करना ही था और इससे इतर किसी अन्य विषय की ओर ध्यान देना उन्हें अभीष्ट नहीं था और न इसके लिए आवश्यक अवकाश ही उनके पास था। वैसे इन दोनों प्रसंगों में कोई विशेष विभेदक अन्तर लक्षित नहीं होता। भावना की दृष्टि से इनमें सर्वत्र एक ही प्रकार के रसात्मक सूत्र अनुस्यूत रहे हैं और यही कारण है कि अध्येता को इन दोनों ही पक्षों का अध्ययन करते समय समान भावना की अनुभूति होती है।

वात्सल्य रस की पूर्ण सिद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि एक ओर कवि को जहाँ बाल-हृदय की सरलता और चपलता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो, वहाँ दूसरी ओर मातृ-हृदय की भावनात्मक सत्ता का भी उसे यथेष्ट ज्ञान हो। 'भ्रमरगीत' के कवि ने मनोविज्ञान की इस आवश्यकता को पूर्णरूपेण हृदयंगम कर इनका संतुलित सामंजस्य उपस्थित करने की पर्याप्त चेष्टा की है और यही कारण है कि उनकी रचना में वक्ता का आन्तर्हेतु निर्व्यक्त अथवा अर्ध-व्यक्त न रहकर और भी अधिक सफलतापूर्वक स्पष्ट हुआ है। यशोदा ने मातृ-हृदय की स्नेहात्मक विचार-धारा के प्रत्येक पक्ष को ग्रहण करते हुए अपनी समस्या को हमारे समक्ष बिना किसी दुराव-छिपाव के अत्यन्त स्पष्ट तथा स्वाभाविक रूप में उपस्थित कर दिया है। सन्तान के प्रति उनका अक्षय ममत्व है और उसके कल्याण की वह चिर आकांक्षिणी है। इसी भावना के फलस्वरूप उन्होंने प्रत्येक प्रकार से यह चेष्टा की है कि कृष्ण को अपने प्रवास-काल में किसी प्रकार की वेदना की अनुभूति न हो और वह सदैव स्वस्थ तथा प्रसन्न रहें। यद्यपि परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण 'भ्रमरगीत' में वात्सल्य रस के इस स्वरूप का पूर्ण प्रतिपादन सम्भव नहीं हो सका है, तथापि व्यंजना के आधार पर हम इसके सहज संकेत प्राप्त कर सकते हैं। आगे हम उनके द्वारा प्रतिपादित विरह-वात्सल्य के दो अतिशय रम्य चित्र उद्धृत करते हैं :—

जो पै राखति हौ पहिचानि।
तौ बारेक मेरे मोहन कों, मोहिं देहु दिखाई आनि॥

× × ×

अब यह सूर मोहिं निसिबासर, बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लड़ैते, ह्वै हैं करत संकोच॥

शृंगार रस और वात्सल्य रस के पश्चात् सूर ने अपने 'भ्रमरगीत' में करुण रस को विशेष महत्व प्रदान किया है। इस रस के यथार्थ स्वरूप का बोध वास्तव में केवल उसी समय हो पाता है, जब हम गोपियों के चरित्र का विशिष्ट और विधिवत् अध्ययन करते हैं। इसका मूल कारण यही है कि उनकी वृत्तियों में सम्वेदनशीलता का कहीं अधिक मात्रा में समावेश हुआ है और वे परिस्थितयों के प्रवाह से अपेक्षाकृत अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित कर सकी हैं। प्राकृतिक पदार्थों से आत्म-सम्बन्ध की स्थापना करने के अनन्तर सामान्यतः सम्बद्ध व्यक्ति के लिए विश्व में कुछ भी अभीप्सित नहीं रह जाता और उसकी प्रत्येक समय यही इच्छा रहती है कि वह उनके साहचर्य में अपने जीवन को यथासम्भव मधुर रीति से व्यतीत करे। इससे विलग परिस्थितियों में वह अपने अन्तस् में किंचित् एकाकीपन का अनुभव करने लगता है और उसका मन शनैः शनैः बोझिलता से आक्रान्त होकर करुण तथा भावात्मक स्थिति की ओर उन्मुख होने लगता है। 'भ्रमरगीत' में हमें इस प्रवृत्ति की सामान्यतः अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उपलब्धि होती है अर्थात् गोपियों के चरित्र में जिस कारुण्य का समावेश हुआ है, उसके उभार के मूल में यही तत्व विद्यमान है—प्रकृति और जीव अथवा जड़ और चेतन के मधुर अथवा करुण समन्वय का यही रहस्य है।

करुण रस का वृत्त-बन्धन करते समय उसकी परिधि में अनुभूयात्मकता के तत्व को केन्द्र-रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। वस्तुतः अनुभूति और संवेदना में एक सहज और व्यापक अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की अनिवार्य स्थिति होती है और इन दोनों के योग में भावना के स्वर जिस समय गहन हो उठते हैं, उसी समय करुण रस की सुकुमार चेतना उद्बुद्ध हो जाती है। भावना की इस विशिष्ट रसमयी अवस्था में मन में किसी भी प्रकार की ग्रन्थि अवशिष्ट नहीं रह जाती और सम्बद्ध प्राणी अपनी आत्मा के सम्पूर्ण सत्य को शनैः शनैः अनावृत्त करने की ओर प्रवृत्त हो जाता है। उस समय चेतन-अचेतन अथवा उचित-अनुचित के पृथक् विवेचन की भावना उसकी मनसा से सर्वथा विलुप्त हो जाती है और वह जीव-मात्र का अपनी आत्मा में सहज समाहार कर लेता है। 'भ्रमरगीत' की निम्नलिखित पंक्तियों में गोप-वधुओं ने श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में गो-वंश की शोचनीय अवस्था का उल्लेख करते हुए उनमें जिस प्रकार के आत्मीय सम्बन्ध की स्थापना की है, वह स्पष्टतः हमारे इसी कथन का प्रतीक है :—

ऊधौ ! इतनी कहियौ जाइ ।
अति कृस गात भईं ये तुम बिनु, परम दुखारी गाइ ॥
जल-समूह बरसति दोउ अँखियाँ तें, हूँकति लीन्हे नाउँ ।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीन्हौ, सूँघति सोई ठाउँ ॥

—(सूरसागर-सार, उद्धव-सन्देश, पद-संख्या १५७)

सूर के 'भ्रमरगीत' की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें लोक-गीत की रसात्मक विधा के अनुकूल सहज प्रवहमान और गतिशील तत्वों का सर्वत्र अत्यन्त शोभन और उत्कृष्ट रूप में संचरण हुआ है। काव्य-सृजन के उस प्रारम्भिक युग में और

गोचारण युग की संस्कृति को व्यक्त करने की उस अवस्था में हम जनता के किसी भी प्रतिनिधि कवि से इससे अधिक की अपेक्षा नहीं रख सकते थे। जन-गीतों की सुकर अन्तर्धारा से तुलना करने पर हम देखते हैं कि आलोच्य कृति में उनसे समानता की पर्याप्त सम्भावनाएँ निहित हैं और यही कारण है कि इसमें रस का इतनी विशद रीति से समावेश हो सका है। जनपदों की मधुर गीत-पंक्तियों में नारी-हृदय की सम्पूर्ण कोमलता, रागात्मकता और स्निग्धता का आवास रहता है। इसी प्रकार उनके मूल में प्रकृति की चंचल और भावमयी क्रीड़ा का उपयुक्त स्थान रहता है। 'भ्रमरगीत' में हमें ये दोनों ही तत्व अत्यन्त स्पष्ट रीति से उपलब्ध होते हैं और इसमें इन दोनों का ही पर्याप्त विकास दृष्टिगत होता है। इस काव्य में गोपियों ने मुख्य पात्रों की भूमिका उपस्थित करते हुए अथ से इति तक अनेक व्यंग्य-चपल उक्तियाँ कही हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकरण में नूतन रस का विधान किया है। उनकी ऋजु-सरल अभिव्यक्तियाँ अपने में इतनी सशक्त और हृदयग्राही बन पड़ी हैं कि उनसे अध्येता को सर्वत्र नवीन प्राण-चेतना का सहज उन्मेष प्राप्त होने लगता है। इसी प्रकार नैसर्गिक उपादानों को व्यावहारिक रूप में ग्रहण करते हुए कवि ने उनके साथ भी मानवात्मा के आन्तरिक सम्बन्ध का स्पष्ट प्रतिष्ठान किया है। संक्षेप में प्रस्तुत काव्य में लोक-गीतों की भावनात्मक सत्ता की पूर्ण प्रतिकृति नहीं है तो कम से कम उसके अंकुर अवश्य विद्यमान हैं और इसी तथ्य के फलस्वरूप यह रसात्मक सौन्दर्य की इतनी निश्छल अभिव्यक्त करने में समर्थ हो पाया है।

इस प्रकार हमने देखा कि 'भ्रमरगीत' के कवि ने रस-तत्व के संस्थापन को काव्य के लिए आवश्यक मानते हुए अपनी कृति में उसके लिए पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। वह काव्य के मूल में सन्निविष्ट रस को मानवात्मा के सहज और वांछनीय विकास के लिए सर्वाधिक सहयोगी मानते थे और इसी चेतना के फलस्वरूप उन्होंने काव्य के रम्य सृजन को इतना अधिक महत्व प्रदान किया है। वर्ण्य के शुष्क और बोझिल होने पर भी उन्होंने अपनी मनसा को रसात्मक प्रकरणों की ओर उन्मुख रखने का यथाशक्य प्रयास किया है और इस प्रकार के अवसर कम ही आ पाए हैं जब वह बौद्धिकता के प्रभाव से अपनी कृति की इतिवृत्तात्मकता अथवा शुष्कता से रक्षा न कर पाए हों। यद्यपि यह आरोप अधिकांशतः सत्य ही है कि भ्रमरगीत-पदावली में रस-वैविध्य को अधिक स्थान उपलब्ध नहीं हुआ है, तथापि काव्य-सौन्दर्य को प्रकर्ष प्रदान करने लिए यह अनिवार्य भी नहीं है कि हम उसमें पद-पद पर रस की अनेकरूपता का ही ध्यान रखते रहें। इस दिशा में यह स्मरणीय है कि इसके अन्तर्गत सूर ने रसात्मक बोध की जिस विशिष्ट स्थिति अथवा प्रणाली को ग्रहण किया है, उसमें अथ से इति तक कहीं भी शैथिल्य के दर्शन नहीं होते और वह निरन्तर प्रगति की वरेण्य धारा की ओर उन्मुख रही है।

महाकवि सूरदास का सम्पूर्ण जीवन-क्रम कृष्णमय होने के कारण सदैव रस-चेतना से युक्त रहता था। आत्मानुभूति से प्रेरित होने के कारण काव्य में कवि द्वारा स्पष्टतः काव्य-पात्रों को भी उसी प्रकार की अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास किया

जाता है। सूर ने भी अपने पात्रों को श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व से अपने सम्बन्धों का त्याग करने का अवसर प्रदान नहीं किया है और उनके 'सूर-सागर' के सभी पद किसी न किसी रूप में श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध अवश्य रहे हैं। आगे हम उनके काव्य से गोप-वधुओं की वह उक्ति उपस्थित करते हैं जिसमें उन्होंने अपने अन्तर को कृष्णमय बताया है और व्यंजनात्मक रीति से आराध्य के प्रति एकाग्र निष्ठा का परामर्श दिया है:—

मन में रह्यौ नाहिंन ठौर।
नंदनंदन अछत कैसें, आनियै उर और॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति।
हृदय तें वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग लोभ दिखाइ।
कह करौं मन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समाइ॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित मृदु मुख हास।
सूर इनकैं दरस कारन, मरत लोचन प्यास॥

—(सूरसागर-सार, उद्धव-सन्देश, पद-संख्या ९७)

: ७ :

सूर के काव्य में नारी-जीवन

काव्य में मानव-चरित्र का अंकन चिर काल से प्रचलित रहा है। वस्तुतः अनुभूति से शून्य होने पर काव्य में रस-तत्व का पूर्ण प्रतिष्ठान सम्भव नहीं हो पाता। अतः काव्य-रचना के समय कवियों के लिए मानवानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करना सर्वाधिक आवश्यक हो जाता है। शरीर-रचना-भेद, अवस्था-भेद और मानसिक स्थिति के आधार पर मानव-जाति को अनेक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। मानव-चरित्र का कथन अधिकतर प्रबन्ध काव्य में ही सम्भव होता है, किन्तु मुक्तक काव्य में भी उसे यथास्थान अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है। महाकवि सूरदास ने अपने काव्य की रचना प्रगीत मुक्तक-प्रणाली के अनुसार की है, किन्तु उनके 'सूरसागर' के पदों में एक विशिष्ट कथा-सूत्र की स्थिति सर्वत्र वर्तमान रही है। अतः उनके पदों में मानव-जीवन को उपयुक्त अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है।

कविवर सूरदास का काव्य प्रायः श्रीकृष्ण के जीवन-वृत्त से सम्बद्ध रहा है। अतः उनके जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर उनके द्वारा वात्सल्य रस, शृंगार रस और शान्त रस को ग्रहण किया गया है। वात्सल्य रस के पदों के द्वारा उन्होंने श्रीकृष्ण के बाल-जीवन का अभिव्यञ्जन किया है, शृंगार रस के पदों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण तथा गोप-वधुओं के प्रेम का कथन किया गया है एवं शान्त रस के पदों में कवि ने अपनी भक्ति-भावना को स्पष्ट किया है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय सूर के काव्य में नारी-जीवन की अभिव्यक्ति की विभिन्न परिस्थितियों का अध्ययन करना है। अतः उनके काव्य में प्राप्त होने वाले शान्त रस से सम्बद्ध पद हमारे अध्ययन की परिधि में नहीं आते। वात्सल्य रस के छन्दों मे नारी-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अवकाश विद्यमान अवश्य रहता है, किन्तु सूर ने अपने अनेक पदों में केवल श्रीकृष्ण की व्यक्तिगत बाल-चेष्टाओं का ही वर्णन किया है। यही कारण है कि उनके काव्य में नारी-जीवन के चित्रण के लिए शृंगार रस को ही प्रमुख माध्यम के रूप में ग्रहण किया गया है और वात्सल्य रस से सम्बद्ध यशोदा के जननी-रूप को उसकी अपेक्षा अल्प अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। प्रस्तुत निबन्ध में हम सूर के भ्रमरगीत-प्रकरण में प्राप्त होने वाले विविध नारी-रूपों की चर्चा करेंगे, तथापि इतना स्मरणीय है कि उनके इतर वात्सल्यमय पदों में जहाँ यशोदा का जननी-रूप भ्रमर-गीत-प्रकरण के तत्सम्बद्ध पदों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से प्रस्फुटित हुआ है, वहाँ उन्होंने प्रासंगिक रूप में बलराम की माता रोहिणी के स्नेह-भाव की भी चर्चा की है।

'भ्रमरगीत' के कवि ने नारी-जीवन के आन्तर सत्य को अत्यन्त उत्कृष्ट और उपयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। काव्य को अधिक मधुर, सरस और संवेद्य

स्वरूप प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें नर-चरित्र के अधिकांशतः रुक्ष-परुष अंश के अतिरिक्त नारी के व्यक्तित्व के करुण-कोमल और सुन्दर भाग को भी प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए। वस्तुतः साहित्य के अन्तर्गत सृष्टि के इन दोनों ही प्राणियों की सन्तुलित स्थिति नितान्त वांछनीय है और उसका निर्माण उस अवस्था तक निश्चित रूप से अपूर्ण ही है, जब तक वह एकान्त चित्रण से इतर प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर इन दोनों जीवों को सामंजस्य के आधार पर उन्मुक्त हृदय से स्वीकार न करे। सूर ने कला को सामान्यतः प्रकर्षात्मक रूप प्रदान करने वाले इस तथ्य की व्यापक चेतना का अनुभव कर अपने काव्य की परिधि में इसका पूर्ण प्रतिष्ठान किया है और उद्धव के समान शुष्क व्यक्तित्व वाले पुरुष का चित्रण करने के साथ-साथ गोपियों के समान व्यंग्य-चपल नारी-पात्रों की भी सृष्टि की है। इस प्रकार वह इस विषय में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से प्रभावित नहीं रहे हैं और स्पष्टतः ही उन्होंने पुरुष एवं स्त्री-पात्रों के विशिष्ट व्यक्तित्वों की अत्यन्त सन्तुलित आधार पर सफल अवतारणा की है।

'भ्रमरगीत' में नारी-वर्ग का अभिरूपण करने वाली स्त्रियों के मुख्यतः तीन प्रकार हैं :—

(१) प्रियतम के विरह में क्षीण, यौवन-प्राप्त सहज-चपल राधा तथा गोप-बालाएँ।

(२) प्रिय-संयोग से उल्लसित तथा वक्र प्रकृति से युक्त कुब्जा।

(३) जीव-मात्र की मंगल-कामना करने वाली स्नेहमयी पुत्र-वत्सला माता यशोदा।

इस वर्ग-त्रिक् के अन्तर्गत कवि ने नारी के जननी और प्रेयसी के दो महत्वपूर्ण रूपों को प्रत्येक सम्भव रीति से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इसमें समाविष्ट नारी-पात्रों के व्यक्तित्व सरलता और वक्रता के उभय सीमान्तों के मध्य अवस्थित हैं और उनमें सर्वत्र स्वात्म अनुभूति की अभिव्यक्ति को महत्व प्रदान किया गया है। ये सभी पात्र भिन्न रुचि और भिन्न प्रकृति से युक्त हैं और इन्होंने सर्वत्र अपने से सम्बद्ध जीवन-सिद्धान्तों को पूर्णतः प्रतिफलित किया है। माता के सहज स्नेह, परकीया के उन्मुक्त प्रेम, प्रेयसी के अनुकूल गौरव और दाम्पत्य जीवन के विविध चित्रों को इसमें यथेष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। नारी की प्रेरक क्रिया-वृत्तियों और असीमित ममत्व का जितना उत्कृष्ट प्रतिपादन इस कृति में हुआ है, उतना अन्यत्र विरल है। इसमें उसकी भावनाओं को कहीं भी निष्क्रिय अथवा अकर्मण्य रूप में उपस्थित नहीं किया गया है और यही कारण है कि कवि ने जहाँ उसकी ग्रहणशीला मनोवृत्ति की चर्चा की है, वहाँ उसकी प्रदानशीला प्रवृत्ति की उपेक्षा उन्होंने किसी भी स्थल पर नहीं की है।

सूर ने गोपियों की चरित्रगत विशेषताओं का उद्भावन करते समय विस्तार का सर्वाधिक आश्रय ग्रहण किया है और उसी में उन्हें मूल सफलता प्राप्त हुई है। प्रस्तुत कृति में संयोग-सुख को पृष्ठभूमि के रूप में स्थापित किया गया है और कृष्ण के प्रवास-

जनित बिरह-दुःख को उपस्थित विषय के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है। इस प्रकार पृष्ठाधार के रूप में गृहीत होने के कारण प्रिय-संयोग के भाव को इसमें यत्र-तत्र अवान्तर रूप में ही चित्रित किया गया है। यह चित्रण अपने आप में सर्वथा पूर्ण और आधिकारिक कहीं भी नहीं रहा है। उद्धव के ब्रज-प्रवेश के अवसर पर हमें प्रकारान्तर से इसकी स्पष्ट सूचना उपलब्ध होती है। उस समय उन्हें भ्रमवश कृष्ण के रूप में अंगीकृत कर वे उनके स्वागतार्थ जिस आतुरता का प्रदर्शन करती हैं, वह हमारे कथन की सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। इसके साथ ही उसके माध्यम से हमें उनके पारस्परिक प्रेम की घनीभूत अवस्था की स्पष्ट व्यंजना भी उपलब्ध होती है। यथा :—

> **कोऊ आवत है तन स्याम।**
> **वैसेइ पट, वैसिय रथ-बैठनि, वैसिय है उर दाम॥**
> **जैसी हुति उठि तैसिय दौरीं, छाँड़ि सकल गृह-काम।**
> **रोम पुलक, गदगद भईं तिह छन, सोचि अंग अभिराम॥**

गोप-वधुओं का यह अनुराग नवीन न होकर अति पुरातन है और शैशव काल से ही इसकी नींव सतत रूप से दृढ़ होती चली गई है। प्रत्येक श्रेष्ठ पद्मिनी नायिका का यह स्वभाव होता है कि वह जीवन में केवल एक पुरुष से प्रेम करती है और प्रकृत आधार पर अवस्थित होने के कारण अपने उस प्रथम तथा अन्तिम प्रेम को प्रत्यक्षतः अथवा स्मृति-रूप में सदैव सुरक्षित रखती है। गोपियों ने इस मर्यादा का निर्वाह करते हुए अपने हृदय में केवल कृष्ण की प्रीति को स्थान दिया है और उन्हीं के समक्ष अपने सर्वस्व को अनावृत्त कर उनके प्रति समर्पित कर दिया है। उनके अन्तर के राग-पक्ष के सम्बन्ध में विचार-विश्लेषण करते समय हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि शिशु-जीवन में उद्भूत और किशोर वय में परिपुष्ट प्रेम का परित्याग करने में वे अपने को नितान्त असमर्थ पाती हैं और उनकी अन्तिम इच्छा निरन्तर यही रहती है कि वे अपने मन-रमण की श्रुति-मधुर वाणी का पुनः श्रवण कर सकें। यथा :—

> **लरिकाई को प्रेम, कहौ, अलि, कैसे करिकै छूटत ?**
> **कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित्र अब, अंतर गति यों लूटत॥**
> **चंचल चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुनि गावत।**
> **नटवर भेस नन्दनन्दन को वह, विनोद गृह-बन तें आवत॥**

वयः सन्धि की अवस्था के समय नारी के हृदय में अपने पुरुष सहचर के प्रति जिस स्नेह-मिश्रित आदर की भावना होती है, वही उसके उपरान्त यौवन के प्रादुर्भाव के समय रोमानी और मांसल प्रेम में परिवर्तित हो उठती है। युवती की यह प्रीति अपने आप में अत्यन्त स्पष्ट और विश्वास-समन्वित होती है तथा सामान्यतः उसे अपने समीप के आलोचनारत सामाजिक दृष्टिकोण की तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। इस अवस्था में प्रेम का स्वरूप अतीव प्रगाढ़ होता है और सम्बद्ध स्त्री समाज-भीरुता का परित्याग कर उसके उपभोग में पूर्णतः मग्न हो जाती है। संयोग-काल में इसका स्वरूप सहज-प्राप्त

होने के कारण रंगीन होते हुए भी किसी सीमा तक निश्चिन्त और बन्धन-मुक्त होता है, किन्तु वियोगावस्था में पार्थक्य के फलस्वरूप इसके सूत्र और भी अधिक दृढ़ हो जाते हैं तथा प्रेमी-युगल में किसी भी प्रकार का दुराव शेष नहीं रह जाता। 'भ्रमरगीत' में हमें इसी स्थिति का निर्भ्रान्ति परिचय उपलब्ध होता है और हमारे समक्ष गोपियों के शुद्ध चेतनामय प्रेम का स्वरूप नितान्त स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणस्वरूप उनकी निम्नलिखित उक्ति की निःसंकोच अभिव्यंजना-प्रणाली को देखिए :—

चलत चितवत दिवस जागत, स्वपन सोवत राति ।
हृदय तै वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति ॥

× × ×

स्याम गात सरोज आनन, ललित मृदु मुख हास ।
सूर इनकें दरस कारन, मरत लोचन प्यास ॥

गोपियों के लिए विरह-दशा का अनुभव अनिश्चित होने के कारण अतीव कटु-तिक्त रहा है। प्रारम्भ के अतिशय परिपक्व प्रेम का यह रूपान्तर उनके लिए नितान्त घातक सिद्ध होता है और मान, व्यंग तथा दैन्य आदि का आश्रय ग्रहण करने पर भी वे इसके लिए किसी निदान की खोज करने में अत्यन्त असमर्थ रहती हैं। इस अवस्था में केवल अभिव्यक्ति द्वारा प्रदत्त प्रबोध उनके लिए प्रायः निर्मूल्य ही ठहरते हैं और वे अपनी समस्या का स्वयं निराकरण करने के लिए विवश हो जाती हैं। केवल वचन-तोष प्रदान करने से सम्बद्ध इस प्रकार की स्थिति प्रत्येक विरहिणी के लिए अनिवार्यतः असह्य हो उठती है और गोपियाँ इसकी अपवाद कदापि नही हैं। सामान्य नारी की भाँति वे भी विह्वलता का अनुभव कर इस विषय में खेद प्रकट करती हैं कि उनका समाधान करने वाले व्यक्ति युक्तिपूर्वक मिलन की सम्भावना के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रकाश नहीं डालते, अपितु केवल प्रबोधात्मक वार्ता के आख्यान द्वारा ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं। यथा :—

बातन सब कोउ समुझावै ।
जेहि बिधि मिलन मिलें वै माधव, सो बिधि कोउ न बतावै ॥

विरहावस्था की मार्मिक वेदना नारी के लिए सर्वथा असह्य हो उठती है। स्वकीयत्व अथवा परकीयत्व के भाव का इस विषय में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता और दोनों ही दशाओं में सम्बद्ध पात्र का मानसिक उद्वेलन समान रहता है। गोपियों की प्रीति निश्शंक, स्थायी और परकीयत्व भाव पर आधृत है। यही कारण है कि वे कृष्ण के दीर्घ प्रवास पर असंतोष प्रकट करते हुए उन्हें उपालम्भ देती हैं और उद्धव को समस्या का निराकरण उपस्थित करने के लिए प्रेरित करती हैं। उनकी वेदना अनुभूतिपरक होने के कारण अधिक करुण ह और किसी भी स्वतन्त्र अध्येता के चित्त का तुरन्त स्पर्श करने में सक्षम है। इस विरह-भार का और अधिक वहन करने में वे नितान्त असमर्थ हो गई हैं और यही कारण है कि उद्धव के समक्ष उनके हृदय की रस-स्निग्धता और असीमित व्यथा बरबस ही प्रकट हो गई है। यथा :—

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं, काहे न दुःख होय ?
कपट करि करि प्रीति कपटी, लै गयो मन गोय ।।
काल-मुख तें काढ़ि आनी, बहुरि दीन्हीं ढोय ।
मेरे जिय की सोइ जानै, जाहि बीती होय ।।
सोध, आँखि-मँजीठ कीन्हीं, निपट काँची पोय ।
सूर गोपी मधुप आगे, दरकि दीन्हीं रोय ।।

स्त्री और पुरुष के प्रेम में नैरन्तर्य भाव की स्थिति और बाध्य-बाधक भाव की विलुप्ति दाम्पत्य जीवन के दो एकान्त सत्य हैं । गृहस्थाश्रम के अन्तर्गत उनकी पारस्परिक भेद-बुद्धि सर्वथा विलुप्त हो जाती है और वे एक दूसरे पर विश्वास करते हुए अपने जीवन की घड़ियों को अत्यन्त मधुर रीति से व्यतीत करते हैं । उस अवस्था में यदि प्रियतम अपनी प्रेयसी का परित्याग कर किसी अन्य युवती से प्रेम-सम्भाषण करता है तो उसकी पूर्व-प्रेमिका की स्थिति अनिवार्य रूप से अत्यन्त दयनीय हो जाती है । यद्यपि लोक-दृष्टि में वह अब भी उस व्यक्ति की मनोनीत प्रिया रहती है, किन्तु वस्तु-स्थिति की भिन्नता के कारण सम्बद्ध नारी की अवस्था अतिशय शोचनीय हो उठती है । वस्तुत: नारी के दाम्पत्य जीवन का एक स्वीकृत तथ्य यह है कि वह अपने मानस में उल्लास का उसी समय तक अनुभव करती है, जब तक उससे प्रेम करने वाला व्यक्ति उसके प्रति पूर्ण निष्ठावान रहता है, अन्यथा उसकी स्थिति सहज-परिवर्तनीय होने के कारण अनिश्चित, सन्दिग्ध और भ्रान्त हो जाती है । उदाहरणार्थ प्रिय द्वारा उपेक्षित गोपिकाओं की निम्नांकित उक्ति देखिए :—

जीवन मुँह चाही को नीको ।
दरस-परस दिन-रात करति हैं, कान्ह पियारे पी को ।।

उद्धव के प्रति गोपियों के व्यवहार में विनय और व्यंग्य, दोनों का अत्यन्त उपयुक्त समीकरण हुआ है । नारी की परम्परा-प्राप्त प्रकृति के अनुकूल ही जहाँ वे एक ओर अपने विरह-जन्य अवसाद का उल्लेख करती हैं, वहाँ दूसरी ओर कृष्ण तथा उद्धव के प्रति स्पष्ट दोषारोपण भी करती हैं । उनके लिए यह वचन-वैदग्ध्य उतना ही सहज-साध्य है, जितना पुरुष के लिए शारीरिक परिश्रम का कोई भी कठोर कार्य । निर्गुण के सटीक विवेचन में प्रवृत्त उद्धव को निरुत्तर और पराभूत करने की अनेक युक्तियाँ उनके पास हैं, और वे समय के अनुकूल उनमें से किसी का भी प्रयोग कर उसे सहसा किंकर्तव्यविमूढ़ कर देती हैं । नारी के स्वभाव की यह विशेषता उसके दैनिक जीवन की एक अंगभूत प्रवृत्ति है और विवाह, पान-गोष्ठी आदि सामूहिक समारोहों के अवसर पर हम इसका स्पष्ट परिचय प्राप्त कर सकते हैं । उस समय उनका निःसंकोच व्यंग्य-तिक्त व्याख्यान और श्रोता पुरुष का अति विभ्रममय व्यवहार उपहासास्पद न होने पर भी एक सजीव कौतूहल का विषय अवश्य बन जाता है । गोपियों की एतद्विषयक दक्षता से सम्बन्धित कतिपय उत्कृष्ट उदाहरण देखिए :—

ऊधो ! जाहु तुम्हें हम जाने ।
स्याम तुम्हें ह्यां नाहिं पठाए, तुम हौ बीच भुलाने ॥
× × ×
ऊधो ! भली करी तुम आए ।
यह बातें कहि-कहि या दुःख में, ब्रज के लोग हँसाए ॥

कुब्जा की स्थिति कृष्ण-साहित्य में ठीक वही है, जो राम-साहित्य में कैकेयी की ! अन्तर केवल यही है कि कैकेयी को उसके चरित्र का उन्नयन करने वाले गुप्त जी जैसे समर्थ कवि मिल गये हैं और कुब्जा का व्यक्तित्व इस दृष्टिकोण से अन्य साहित्यिकों द्वारा सर्वथा उपेक्षित ही रहा है। उसे स्पष्टतः सिद्धि की उपलब्धि मे बाधक तत्व के रूप में स्वीकृत किया गया है और उसके द्वारा लाभ की अपेक्षा हानि की ही सम्भावना अधिक प्रदर्शित की गई है। 'भ्रमरगीत' में वह प्रकट रूप मे वक्र और छल पूर्ण प्रकृति से युक्त रही है तथा यही कारण है कि वह वस्तु-स्थिति का अपनी वृत्तियों के अनुकूल एक भिन्न ही दृष्टिकोण से अध्ययन करती है। सामान्य लोक-व्यवहार में इस प्रकार के प्रवंचनापूर्ण कार्यों को सम्पादित करने वाली नारियाँ कम ही दृष्टिगत होती हैं और साहित्य में भी उनकी स्थिति अपवादस्वरूप ही होती है।

अशिक्षित और असंस्कृत नारी-वर्ग की एक सर्व-प्रचलित प्रवृत्ति यह होती है कि वे उपालम्भ देते समय उचित-अनुचित का विचार त्याग कर अपने हृद्गत भावों का निस्संकोच आख्यान करने लगती हैं। क्षुद्र परिधि में समाहित होने के कारण यह अभिभाषण अपने आप में इतना चपल और तीव्र-गति-संयुक्त होता है कि साधारणतः किसी भी सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए उसका उत्तर देना असंभव नहीं तो श्रम-साध्य अवश्य हो जाता है। यद्यपि स्त्री-वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण गोपियाँ कुब्जा के आरोपों का उत्तर भली प्रकार दे लेती हैं, तथापि इतनी कुटिल और असंयमित प्रवृत्ति उनकी कदापि नहीं है। कुब्जा ने अपने व्यवहार में स्पष्ट रूप से भेद-नीति का आश्रय ग्रहण किया है और वह अपने निर्मम तथा कटु व्याख्यान द्वारा एकबारगी ही सीधे रूप में गोपियों को स्तब्ध कर देना चाहती है। निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में हमें उसकी इसी इच्छा के सहज संकेत प्राप्त होते हैं :—

समुझौ बूझौ अपने मन में, तुम जो कहा भलो कीन्हो ।
कहँ बालक, तुम मत्त ग्वालिनी, सबै आप बस कीन्हो ॥
× × ×
अरु बृषभानु सुता जो कीन्हीं, सो तुम सब जिय जानो ।
याही लाज तजी ब्रज मोहन, अब काहे दुख मानो ॥

नारी-समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली तृतीय पात्रा जननी यशोदा हैं। स्त्री-जीवन के पुत्री, भगिनी, जाया और जननी आदि चारों रूपों में उनका जननी-रूप ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और इसी के अन्तर्गत उनके व्यक्तित्व का उभार गति प्राप्त करता है। माता के रूप में वह अपने समग्र जीवन की सार्थकता का अनुभव करती हैं और अपनी

सन्तान के माध्यम से सर्वभूत के प्रति वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति करती हैं। यशोदा इस दृष्टिकोण से नितान्त सफल जननी हैं और उन्होंने मातृत्व की मर्यादाओं के परिपालन को सर्वत्र प्राथमिकता प्रदान की है। यद्यपि तथ्यतः कृष्ण उनके पुत्र नहीं हैं, तथापि उनका पोषण उन्होंने ही किया है और यही कारण है कि उनके वात्सल्य की अजस्र धारा देवकी-पुत्र के प्रति इतने गहन रूप में प्रकट हुई है। यही व्यवहार दूसरे रूप में उनके व्यापक विश्व-प्रेम का अनन्य प्रतीक है। यद्यपि 'भ्रमरगीत' में यशोदा के भाव-विकास का पूर्ण प्रतिफलन नहीं हुआ है, तथापि उसके जितने अंश का प्रतिपादन सूर ने किया है, वह अपने आप में नितान्त सक्षम है। जननी के रूप में नारी के लिए जिस पारिवारिक भावना की आवश्यकता होती है, उसका यशोदा ने अन्तिम सीमा तक निर्वाह किया है और पुत्र के भोजन-क्रम तथा स्वास्थ्य के प्रति सतत चिन्ता व्यक्त की है। इस स्थल पर उस एकान्त मनोवैज्ञानिक सत्य का उल्लेख आवश्यक है, जिसके अनुसार सन्तान के विगत कार्यों का स्मरण कर माता अतुल उल्लास का अनुभव करती है और जिनके कथन द्वारा उसे प्रकारान्तर से एक अव्यक्त मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है। इसी सिद्धान्त का अनुकरण करते हुए आलोच्य पद-प्रकरण में यशोदा ने भी उद्धव के समक्ष पुत्र की बाल-लीलाओं का स्मृत्याधारित पुनर्व्याख्यान किया है और देवकी को सन्देश-प्रेषण द्वारा कृष्ण को उसी रूप में पोषित करने की प्रेरणा प्रदान की है।

माता के हृदय में पुत्र-वियोग के अवसर पर स्वभावतः ही एक गहन वेदना का संचार हो जाता है। इस वैह्वल्य में स्थायित्व के साथ-साथ एक निरन्तर विकासगामी प्रवृत्ति भी विद्यमान रहती है और उसके प्रभाववश सम्बद्ध पात्र के मनस् उद्वेलन में कभी भी क्षीण भाव का संचार नहीं होता। उस समय प्रतिवेशियों तथा इतर व्यक्तियों द्वारा मानसिक प्रतीति कराने के जो प्रयास किए जाते हैं, वे नितान्त सामयिक ही रहते हैं और कुछ काल के अनन्तर स्मृति के उपकरणों के कारण विरह की पूर्व दशा पुनः उद्बुद्ध हो जाती है। यशोदा को इस अवस्था का पूर्ण अनुभव है। उन्हें सामान्यतः सन्तान के प्रति अपने स्नेह पर अटूट विश्वास है और यही कारण है कि वह दो क्षण के लिए भी उन्हें अपने से पृथक् अवस्था में सुखी मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उनके अन्तस् में यह शंका निश्चित रूप से वर्तमान रहती है कि ग्रामीण सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार परिपालित होकर उनका पुत्र मथुरा के नागरिक और राजकीय वैभव में किस प्रकार मार्ग-सन्धान कर सकेगा ? इसी कारण वह स्थान-स्थान पर कृष्ण को ब्रज लौटा लाने के लिए आतुरता प्रकट करती हैं। यथा :—

यदपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि कै, मोहन के मुख-जोग॥
प्रात समय उठि माखन-रोटी, को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को, छन-छन आगे लैहै ?
कहियो जाय पथिक ! घर आवैं, राम स्याम दोउ भैया।
सूर वहाँ कत होत दुखारी, जिन के मो-सी मैया॥

'भ्रमरगीत' के स्रष्टा ने अथ से इति तक अपनी कृति की रचना नारी-जीवन के दुःख-आवेग के आधार पर की है और संयोग-सूचक दृश्यों तथा घटनाओं की योजना पृष्ठभूमि के रूप में की है। इसका मूल कारण यही है कि पूर्ण आध्यात्मिक होने के नाते इसके कथानक में रंगीन वातावरण की भूमिका उपस्थित करने के लिए अधिक अवकाश कवि के पास कदापि नहीं था और रागात्मक दृष्टिकोण से चेतना को उद्बुद्ध करने के लिए यह आवश्यक था कि अनुभूयात्मक विरह-भाव को अधिक उत्साहपूर्वक ग्रहण किया जाये। सामान्य जन-व्यवहार द्वारा प्राप्त प्रमाणों का अनुसरण करने पर भी हम देखते हैं कि नारी विरहावसर पर जिस भावोद्रेक का अनुभव करती है, वह संयोग-काल के हर्ष-भाव से कही अधिक घनीभूत होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना का विषय-तत्व नारी-जीवन से सामान्यतः अत्यन्त नियमित रीति से सम्बद्ध रहा है और किसी प्रकार की अतिवादी मनोवृत्ति के दर्शन इसमें नहीं होते।

महाकवि सूरदास ने सर्वत्र परुष की अपेक्षा कोमल तत्वों के प्रस्थापन को अधिक महत्व प्रदान किया है और प्रस्तुत कृति में यह प्रवृत्ति उनके इतर काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक बलवती रही है। इसका स्पष्ट निदर्शन हमें उस समय उपलब्ध होता है, जब वह इसमें परुष भाव के प्रतिनिधि उद्धव की पराजय और कोमल तत्व की अधिकारिणी गोपियों की विजय प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार इसमें निश्चित रूप से कवि का नारी के प्रति अधिक ममत्व दृष्टिगत होता है। इस तथ्य के विरोधात्मक स्वरूप की प्रतीति हमें केवल उस समय होती है, जब हमारे समक्ष कुब्जा का शील आदि गुणों से विहीन चरित्र उपस्थित होता है। इस विषय में सर्वाधिक हृदयंगम करने योग्य तत्व यही है कि प्रस्तुत रचना में जहाँ पुरुष द्वारा प्रदर्शित लौकिक प्रेम में अनेक छिद्रों का अन्वेषण हुआ है, वहाँ नारी द्वारा प्रत्युत्तरित प्रीति में नितान्त निश्छल तथा सरल परिस्थितियों की उद्भावना की गई है।

भारतीय अनुश्रुति के अनुसार विधाता ने नारी-शरीर की रचना करते समय जहाँ पुष्प आदि कोमल पदार्थों मे अंश-ग्रहण किया था, वहाँ चित्रक आदि हिंसक जन्तुओं से कुटिलता का भी संकलन किया था। यही कारण है कि साहित्य में स्त्री-चरित्र का अंकन करते समय नैयायिक के दृष्टिकोण से यह अनिवार्य है कि कवि सन्तुलन स्थापित रखने के लिए उसमें नारी के सारल्य और कौटिल्य, दोनों का समष्टिगत चित्रण करे। इनमें से केवल एक ही पक्ष का समर्थन करना निश्चित रूप से असंगति अथवा अराजकता का द्योतक है। सूर ने इस तत्व को हृदयस्थ करने के अनन्तर ही अपने काव्य में नारी-जीवन की प्रतिकृति उपस्थित की थी और यही कारण है कि उन्होंने सरल हृदया गोपियों के अन्तस् में वक्र-भावना का प्रस्थापन किया है और अराल-पथ-गामिनी कुब्जा को प्रिय-प्रेम में विह्वल और उनके स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित दिखाया है। विधि का यह विधान सामान्यतः दाम्पत्य जीवन का निर्वहन करने वाले नारी-समाज पर ही चरितार्थ होता है और जाया-रूप से आगे इसकी स्थिति अधिक सुरक्षित नहीं है। यही कारण है कि हम जननी यशोदा को इससे सर्वथा मुक्त पाते हैं।

प्रचलित जन-सिद्धान्तों के अनुसार नारी को प्रायः इतर नारियों के सौभाग्य के प्रति ईर्ष्या रहती है। यही कारण है कि किसी भी पुरुष की दो स्वकीयायें कभी शान्तिपूर्वक जीवन-निर्वाह नहीं कर पातीं। परकीयत्व की दशा में यह स्थिति इतनी विषम तोनहीं रहती, किन्तु इसका सर्वथा विलोप भी नहीं होता। जिस समय तक वे इस तथ्य से अनभिज्ञ रहती हैं कि उनका प्रेमी एक ही पुरुष है, तब तक तो उनका जीवन समान गति से परिचलित रहता है और उसके अनन्तर वे परस्पर एक दूसरी को कम से कम सशंकित दृष्टि से अवश्य देखने लगती हैं। इसके अपवाद दैनिक जीवन में नितान्त अल्प ही दृष्टिगत होते हैं और गोपियों की गणना इसी प्रकार की अपवाद-रूपिणी नारियों में सहज ही की जा सकती है। वे सभी केवल एक पुरुष (कृष्ण) के प्रति अनुरक्त हैं, तथापि उनकी भावना सर्वथा निष्कलुष है और पारस्परिक भेद-बुद्धि की स्थिति तो उनमें कदापि नहीं है। यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट तथा स्तवन-योग्य प्रसंग है और इसके इतने सफल आयोजन के लिए सूर निश्चय ही बधाई के पात्र हैं। नारी-जीवन का चित्रांकन करते समय सूरने एक गम्भीर दोष यह किया है कि उन्होंने गोपियों से सम्बद्ध प्रकरण को आवश्यकता से अधिक विस्तार प्रदान किया है और कुब्जा तथा यशोदा की नितान्त उपेक्षा की है। इस विषय में उनकी मान्यता निश्चय ही सन्तुलन-बाह्य रही है और वह उपेक्षित पात्रों के प्रति पूर्ण न्याय न कर सके हैं, यदि उनके व्यक्तित्व को उद्भावित करते समय कवि ने तनिक अधिक विस्तार का आश्रय ग्रहण किया होता तो निश्चित रूप से उनके काव्य में अधिक गम्भीरता का समावेश हो पाता और वह अपनी काव्य-दृष्टि को अधिक उज्ज्वल बना पाते। इस विषय में यह कहना ठीक नहीं है कि सूर का इष्ट केवल गोपियों के दाम्पत्य जीवन और विरह-भाव का स्पर्श करना था। यदि वस्तु-स्थिति यह थी तब आधिकारिक कथा के पार्श्व में प्रासंगिक कथा और उसके पात्रों के पृथक् उद्भावन की आवश्यकता ही क्या थी? वस्तुतः यह प्रसंग-उद्भावन अपने आप में अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण काव्य-रीति के विरुद्ध है और अध्येता की चेतना का स्पर्श करने में नितान्त अक्षम है।

अन्त में हमें केवल यही कहना है कि 'भ्रमरगीत' में नारी-जीवन के विविध पहलुओं को स्पर्श करने का कवि-प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय है। यद्यपि यह अपने में सीमा-बद्ध और संकुचित है, तथापि सूर ने इसका जिस सीमा तक स्पर्श करना चाहा है, उस सीमा तक उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। नारी का इतना सजीव चित्रण उस युग में ही नहीं, इस युगमें भी नितान्त विरल है। जिस रूपमें गोपियाँ हमारे समक्ष तुरन्त साकार रूप धारण कर लेती हैं, उस रूप में पात्रों का संयोजन करना निश्चय ही एक कुशल कवि का कार्य है और सूर ने इस दिशा में हमारे सम्मुख एक व्यवस्थित आदर्श उपस्थित किया है। नारी-जीवन के दैन्य, स्नेह, और मान आदि से सम्बन्धित सभी चित्र इस कृति में बहुलता से उपस्थित रहे हैं, और काव्य-युग अर्थात् वर्ण्य से सम्बन्धित तत्कालीन देश-काल के नारी-समाज की इसमें सर्वथा सफल प्रतिकृति उपस्थित की गई है।

: ८ :

सूर की भाषा-शैली

यद्यपि यह सत्य है कि काव्य-सौन्दर्य की स्थिति मूलतः उसके भाव-तत्व में होती है, तथापि उसका कला-तत्व भी उपेक्षणीय नहीं है। वस्तुतः कला-सौन्दर्य से संयुक्त होने पर काव्य के भाव-सौन्दर्य में और भी अधिक प्रभाव का समावेश हो जाता है। काव्य-शिल्प की श्रेष्ठता का विधान करने के लिए सामान्यतः भाषा, शैली, अलंकार तथा छन्द को उसके अनिवार्य उपकरणों के रूप में मान्यता प्रदान की गई है। इन चारों कलात्मक उपकरणों के विषय में साहित्य-शास्त्रियों ने समय-समय पर अनेक मन्तव्य उपस्थित किए हैं और काव्य-शास्त्र में इनकी परिसीमायें लगभग निश्चित की जा चुकी हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हम सूर के काव्य में इन चारों उपकरणों के समावेश का अध्ययन न कर केवल उनकी भाषा और शैली-प्रयोग की चर्चा करेंगे। उनके काव्य में इन्हीं दोनों तत्वों का अधिक महत्व है। शेष तत्वों में से अलंकार-योजना के क्षेत्र में उन्होंने स्वाभाविकता पर पूर्ण ध्यान दिया है और छन्दों को उनके काव्य में अत्यल्प स्थान प्राप्त हुआ है।

भाषा

महाकवि सूरदास ने अपनी काव्याभिव्यक्ति को समृद्ध बनाने के उद्देश्य से ब्रजभाषा की सामान्य जन-पदों में व्यवहृत रम्य-मधुर पदावली को माध्यम के रूप में स्वीकृत किया है। उनसे पूर्व सशक्त प्रयत्न के अभाव के कारण ब्रजभाषा की साहित्यिक गति-विधि में किसी प्रकार के स्थैर्य का विधान न हुआ था और वह नितान्त खण्डित अवस्था में जीवन-ग्रहण कर रही थी। सूर ने लोक-चेतना के व्यापक क्षेत्र की ओर उन्मुख हो कर अपनी सहज काव्य-प्रतिभा के आधार पर सर्वप्रथम वहाँ से विपुल शब्दों को ग्रहण किया और इस प्रकार ब्रजभाषा का संस्कार करने वाले कवियों की परम्परा में अत्यन्त शाश्वत महत्व के कार्य का सम्पादन किया। उनके भाषा-सम्बन्धी विविध प्रयोग उनकी काव्य-सृजन-विषयक क्षमता के सर्वश्रेष्ठ परिचायक हैं।

सूर की भाषा का मूल गुण यह है कि प्रौढ़ होने के साथ-साथ वह प्रायः एक-रूप रही है और केवल वर्ण्य के अन्तर से ही उसमें यत्र-तत्र प्राप्त होने वाले किसी भी प्रकार के भेद का विधान हो पाया है। इस एकरूपता और सूत्रबद्धता के फलस्वरूप उनके काव्य में रसात्मक वातावरण का एक उत्कृष्ट स्तर पर उद्भावन हुआ है। भाषा में कृत्रिम परिस्थितियों के संचरण को वह उसके लिए सर्वाधिक हानिकारक मानते थे और यही कारण है कि संस्कृत, अरबी, फारसी एवं जन-साधारण के प्रयोग-क्षेत्रों से

पर्याप्त शब्द ग्रहण करने के अनन्तर भी उन्होंने अपनी भाषा को यथासम्भव नैसर्गिक स्तर पर स्थापित रखने का प्रयास किया है।

सूर भाषा की अपेक्षा अपनी दृष्टि को भाव-सौष्ठव पर अधिक परिमाण में केन्द्रित रखने का प्रयास करते थे। उनका विश्वास था कि भावनाओं के श्रेष्ठ और सम्यक् संयोजन से काव्य की भाषा और शैली का स्वतः उचित रीति से परिष्कार हो जायेगा। भाषा एवं भाव-संपादन में वह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की अनिवार्य स्थिति मानते थे और उनका निश्चित मत था कि सहयोग-भावना पर आधृत होने के कारण वे परस्पर एक-दूसरे के दुर्बल अंग की पूर्ति करते हैं। यही कारण है कि उनके काव्य में प्रायः भाषा और भाव, दोनों का ही सर्वत्र स्वाभाविक चरम उत्कर्ष दृष्टिगत होता है।

सूर ने अपनी भाषा का नियोजन करते समय उसमें अधिक शक्ति का विधान करने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों को ग्रहण करने के साथ-साथ तद्भव शब्दों का भी प्रभूत मात्रा में प्रयोग किया है। केवल तत्सम शब्दों का एकाधिकार 'भ्रमरगीत' में अत्यन्त विरल है। वास्तव में सूर ने मूल संस्कृत पदावली और उससे उद्भूत जन-भाषा की शब्दावली में उचित सामंजस्य स्थापित करते हुए अपनी भाषा को अत्यन्त सहज और आकर्षक रूप प्रदान किया है। संस्कृत के 'संधान', 'कैतव', 'वह्नि', 'मम' और 'बलाहक' जैसे अनेक शब्दों को प्रयुक्त करने के साथ-साथ उन्होंने उसकी अर्द्ध-स्वर (ऽ) के प्रयोग की प्रवृत्ति को भी कतिपय स्थलों पर स्वीकृत किया है। यथा :—

मानऽपमान परम परितोषी, अस्थिर थित मन राख्यो।

× × ×

मानऽपवाद पवन-अवरोधन, हित-काम निकंदन।

× × ×

मनो इंदु आए नलिनी-दलऽलंकृत-अमी-ओसकन जाल।

तुलसी के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य कवियों में यह प्रवृत्ति प्रायः उपलब्ध नहीं होती है।

तत्सम शब्दों की अपेक्षा सूर ने अपने काव्य में परिस्थिति के अनुकूल तद्भव शब्दों का कहीं अधिक प्रयोग किया है। यद्यपि काल-भेद के कारण आज इस प्रकार के अनेक शब्द काव्य और व्यवहार, दोनों में ही अप्रचलित हो गए हैं, तथापि माधुर्य की दृष्टि से इनका अपना पृथक् महत्व है। ये सभी शब्द काव्य और जन-व्यवहार के पारस्परिक सहयोग के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक हैं। 'भ्रमरगीत' में इनके कतिपय सामान्यतः व्यवहृत रूपों को देखिए :—

(१)	करवट	(आरा अथवा चक्र)	= सं० करपत्र।
(२)	रूख	(वृक्ष)	= सं० रूक्ष।
(३)	झोल	(ताप)	= सं० ज्वाल।
(४)	काती	(छुरी, चाकू)	= सं० कर्त्री।
(५)	गथ	(पूंजी, माल)	= सं० ग्रन्थ।
(६)	मैगल	(मस्त हाथी)	= सं० मदकल।

देशज अथवा नित्य प्रति के लोक-भाषण में आने वाले शब्दों का भी सूर ने प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया है। साहित्य के प्रतिपाद्य का स्पष्ट आख्यान करने के लिए सम्बद्ध देश-काल के जिस उल्लेख की आवश्यकता होती है, उसका ध्यान रखते हुए उन्होंने गो-चारण युग की संस्कृति को स्पष्ट करने के लिए अनेक देशज शब्दों का व्यवहार किया है। इस प्रकार के पद-प्रयोग में सूर को निश्चित सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने शब्दों और वर्णन-शैलियों के माध्यम से तत्कालीन भाव-धारा की पूर्ण और सम्यक् प्रतिकृति उपस्थित की है। 'भ्रमरगीत' से इस प्रकार के कुछ शब्द लीजिए :—

(१) संघाती = साथी अथवा मित्र ।
(२) छैया = गो-थन से निस्सृत दुग्ध-धारा ।
(३) सवार = सबेरा, प्रत्यूष काल ।
(४) ढेबा = भवन-निर्माण में प्रयुक्त गीली मिट्टी ।
(५) गहरु = विलम्ब ।

इनके अतिरिक्त सूर ने 'हृदय जुड़ाय' (मन का शीतल होना) जैसे कतिपय एकान्त लौकिक शब्द-युग्मों का भी प्रयोग किया है। इसी भाँति उन्होंने 'मन-भ्रूरू' (चित्त का विक्षेपण) के समान कतिपय नूतन शब्दों का भी निर्माण किया है। ये सभी शब्द तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक रहे हैं। इनके द्वारा भाषा की उस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है, जब वह संहिति की अपेक्षा व्यवहिति की ओर उन्मुख हो रही थी, किन्तु संहितावस्था की ओर भी उसकी प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य थी।

शब्दगत अंग-भंग की प्रवृत्ति भी 'भ्रमरगीत' में प्रायः दृष्टिगत होती है। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में छन्द को अधिक महत्व प्रदान करते हुए इस प्रवृत्ति को अधिक दोषपूर्ण नहीं माना गया है। वहाँ इस विषय में आचार्यों की निम्नलिखित अनुमति स्पष्टतः विद्यमान है :—

अपि माषं मषं कुर्यात्, छन्दो भंग न कारयेत् ।

सूर ने इस स्वतन्त्रता का प्रयोग प्रायः गीति-काव्य के प्रवाह को अक्षुण्ण रखने के लिए किया है। इसके साथ ही चरणान्त में उपयुक्त तुक-विधान करने के लिए भी उनकी चेतना कहीं-कहीं इस ओर प्रेरित रही है। हमारे विचार से यह प्रवृत्ति तभी तक क्षम्य है, जब तक यह अर्थ में अनर्थ का संचार करने के लिए उत्तरदायी न हो। सूर की इस प्रवृत्ति का संकेत हमें उनके द्वारा की गई निम्नलिखित शाब्दिक विकृतियों से पूर्णतः प्राप्त हो जाता है :—

(१) समर = स्मर (शुद्ध शब्द) ।
(२) मंग = माँग (" ") ।
(३) लामी = लम्बी (" ") ।
(४) सोज = सज्जा (" ") ।

(५) दौन = दमन (शुद्ध शब्द)
(६) सुरद = सुहृद (" ")

विदेशी तथा प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी सूर के पदों में कतिपय स्थलों पर उपलब्ध होता है। इनकी प्रयुक्ति के विषय में अपना निर्णय देने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम इस तथ्य का पूर्ण ध्यान रखें कि कवि ने अपने काव्य की प्रकृति के अनुकूल इन्हें पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है और किसी भी दृष्टिकोण से ये हमें अपरिचित अथवा क्लिष्ट प्रतीत नहीं होते। यह प्रवृत्ति आक्षेप-योग्य न होकर प्रशंसनीय है, क्योंकि इसके द्वारा साहित्य की भाषा को कुछ न कुछ शक्ति और सजीवता ही प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ अरबी भाषा के शब्दों का निम्नलिखित काव्य-पंक्तियों में सफल अन्तर्भाव देखिए :—

(१) हम बिरहिनी नारि, हरि बिनु कौन करै निबाहू ?
तहाँ दीजै मूर पूजै, *नफा* तुम कछु खाहु ॥

(२) ऊधो ! हम *लायक* सिख दीजै।
यह उपदेश अगिनी तें तातो, कहौ कौन विधि कीजै ॥

(३) देखौ माधव की मिताई।
आई उघरि कनक-कलई ज्यौं, दै निज गए *दगाई* ॥

उपर्युक्त उद्धारणों में 'नफा', 'लायक' और 'दगा' क्रमशः अरबी भाषा के शब्द हैं, किन्तु सम्बद्ध काव्य-वस्तु की रागात्मक अन्तर्चेतना के कारण वे पृथक् रूप से कहीं भी लक्षित नहीं होते। इसी भाँति फारसी भाषा के 'सरकार' और 'दरजी' नामक शब्दों का भी सूर ने प्रसंग के अनुकूल अत्यन्त सफल प्रयोग किया है :—

(१) आम को काट बबूर लगावत, चन्दन को कुरवार।
सूर, स्याम कैसे निबहैंगो, अन्धधुन्ध *सरकार* ॥

(३) जा दिन तें तुम प्रीति करी हो,
घटति न बढ़ति तूल लेहु नरजी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु,
तन भयो ब्योंत, बिरह भयौ *दरजी* ॥

विदेशी शब्द-प्रयोग के अतिरिक्त सूर ने अपनी भाषा का निर्माण करते समय गुजराती, बुन्देलखण्डी एवं पंजाबी आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं से भी शब्द-चयन किया है। सांगीतिक प्रवाह और सामंजस्य के फलस्वरूप भी इन शब्दों की काव्य में पूर्ण एकरूपता लक्षित होती है। उदाहरणार्थ पंजाब प्रान्त में व्यवहृत 'प्यारी' (मूल्य-वृद्धि अथवा महँगी वस्तु के अर्थ में प्रयुक्त) नामक प्रान्तीय शब्द का निम्नलिखित पंक्तियों में सफल प्रयोग देखिए :—

जोग मोट सिर बोझ जानि कैं, कत तुम घोष उतारी ?
इतनी दूरि जाहु चलि कासी, जहाँ बिकति है *प्यारी* ॥

अपनी भाषा को यथासम्भव स्वाभाविक स्तर पर स्थापित करने के लिए कवि ने कतिपय सहयोगी शब्दों को भी प्रयुक्त किया है। इस प्रकार के शब्द सामान्यतः लोक-

व्यवहार में भाषा के इतने समीप आ जाते हैं कि प्रायः वे उसके अभिन्न अंग ही प्रतीत होने लगते हैं। जो कवि अथवा लेखक अपने साहित्य में इन शब्दों का जितना ही सफल अन्तर्भाव कर पाता है, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति को उतना ही सक्षम माना जाता है। सूर ने इनका प्रयोग करते समय प्रसंग की अनुकूल गति और अर्थ की संगति का पूर्ण ध्यान रखा है। यथा :—

(१) ऊधो ! मन नाहीं *दस-बीस* ।
(२) जाके *रूप-रेख* कछु नाहीं ।
नयन मूँदि चितबहु चित माहीं ।।

शैली

काव्य के कला-पक्ष का शरीर-संयोजन करते समय शैली उसके लिए अनिवार्यतः प्राण-तत्व का कार्य करती है। वस्तुतः कलागत मूल्यों के विधान में भाषा केवल-मात्र बाह्य उपकरणों का ही कार्य करती है और शैली से ही कवि का निकटतम सम्पर्क रहता है। शैली से हमारा तात्पर्य स्पष्टतः अभिव्यंजना की उस प्रणाली-विशेष से है जो रचना के सौन्दर्य को द्विगुणित करने में सहायता प्रदान करती है। इसी कारण प्रसंगगत रूप में कला का विवेचन करते हुए 'साकेत' में कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अभिव्यंजना के सौष्ठव पर बल प्रदान किया है। वह कहते हैं :—

अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो है कला ।

इस भाव-प्रतिपादन को पूर्णता करने के लिए कविगण वर्णन-सम्बन्धी नाना प्रकार की विधियों का आश्रय ग्रहण करते हैं। संलाप शैली, संबोधन शैली, उद्बोधन शैली, व्यंग्य शैली, उपालम्भ शैली और विवरणात्मक शैली आदि इसके अनेक रूप हैं। शैली की इस बहुमुखी चेतना से समन्वित काव्य-ग्रन्थ ही सहृदय के चित्त का भावन करने की क्षमता से युक्त होते हैं। भ्रमरगीतकार ने शैली की इन विविध श्रेणियों में से व्यंग्य और उपालम्भ से सम्बन्धित शैलियों को प्रमुख स्थान प्रदान किया है और शेष सभी वर्णन-रीतियों को गौण रूप में स्वीकृत किया है। इस प्रकार उन्होंने विषय-भेद से इन सभी प्रणालियों को अपने काव्य में सफल आधार पर प्रयुक्त किया है।

सूर ने उद्धव और गोप-वधुओं के पारस्परिक विचार-विमर्श में संलाप शैली का सफल उपयोग किया है। यद्यपि इस प्रकार के संलाप आलोच्य कृति में अत्यन्त विरल ही हैं और उनकी पृष्ठभूमि में प्रायः विवरणात्मक शैली को प्रश्रय प्राप्त हुआ है, तथापि सूर के काव्य की स्वाभाविक रसात्मकता और मार्मिकता को वहाँ पूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। आगे हम इस प्रकार की सभी अंगभूत विशेषताओं से समन्वित उद्धव और गोपियों के एक सफल परिसंवाद को उद्धृत करते हैं :—

अविगत अगम, अपार, आदि अवगत है सोई ।
आदि निरंजन नाम, ताहि रंजै सब कोई ।।
नैन नासिका-अग्र है, तहाँ ब्रह्म को बास ।
अविनासी बिनसै नहीं, हो सहज ज्योति-परकास ।।

हम बूझति सतभाव, न्याव तुम्हरे मुख साँचो।
प्रेम नैन रसकथा कहौ, कंचन की काँचो॥
जो कोउ पावै सीस दै, ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, हो जोग भलौ किधौं प्रेम॥

यद्यपि शुद्ध दृष्टिकोण से इस अवतरण में संवाद के गुणों का पूर्णतः समावेश नहीं हो सका है, तथापि इसमें निहित कथोपकथन किसी भी अवस्था में शुष्क नहीं है।

संलाप की भाँति ही संबोधन शैली को भी 'सूरसागर' में उत्कृष्ट और उचित स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अन्तर्गत उद्धव कृष्ण और गोप-वधूटियों को सम्बोधित करते हैं; कृष्ण गोपियों और उद्धव को सम्बोधित करते है; यशोदा पथिक-वर्ग को सम्बोधित करती है और गोप-वधुएँ उद्धव अथवा भ्रमर को तथा परस्पर एक दूसरी को सम्बोधित करती हैं। कवि के स्वगत-कथन इस कृति में अपेक्षाकृत कम ही हैं। वास्तव में सम्बोधन प्रणाली का आश्रय ग्रहण कर सूर अपने काव्य में जिस सजीवता का संचार कर सके हैं, वह केवल-मात्र भाषण में सम्भव भी न थी। सम्बोधन शैली के एक इसी प्रकार के प्रवहमान स्थल को देखिए :—

पथिक ! सन्देसो कहियो जाय।
आवेंगे हम दोनों भइया, मैया जनि अकुलाय॥

उद्बोधन शैली के अन्तर्गत सम्बोधन पद्धति का स्वतः समाहार होता है। यही कारण है कि 'सूरसागर' में प्रायः इन दोनों ही प्रणालियों का एक ही पद में सफल समावेश दृष्टिगत होता है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से इस प्रकार के पदों में सजीवता और मार्मिकता का कहीं अधिक मात्रा में समावेश हुआ है। इस सम्पूर्ण आख्यान के अन्तर्गत गोपियाँ ही उद्धव को स्थान-स्थान पर उद्बोधित करने का प्रयास करती है। प्रारम्भ में वे इस प्रयत्न में प्रायः असफल ही रहती हैं, किन्तु अन्त में उन्हें इसमें पूर्ण सफलता की प्राप्ति होती है और उद्धव उनमे उद्बोधन प्राप्त कर सम्यक् ज्ञानका लाभ करते हैं। गोपियाँ उद्धव को उद्बोधित करने के लिए अत्यन्त सहज-स्वाभाविक और मनोविज्ञान-सम्मत शैली का आश्रय ग्रहण करती हैं :—

सुनु प्रिय सखा स्याम सुन्दर के, जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलें सूर प्रभु हमको, सो कछु करहु उपाव॥

सूर के 'भ्रमरगीत' में व्यंग्य शैली को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इस पर आधृत प्रकरणों की मूल विशेषता यह है कि उनमें कविके हृदय का सहज उद्भावन हुआ है और कृत्रिम भाव-धारा वहाँ पूर्णतः निराकृत है। व्यंग्यात्मक काव्य के लिए साधारणतः जिस वचन-वक्रता और प्रत्युत्पन्न मति की अपेक्षा होती है,उसका सूर ने यथाशक्य निर्वाह किया है। उन्होंने गोपियों द्वारा पृथक् रूप से केवल उद्धव के प्रति भी व्यंग्य शैली का प्रयोग कराया है और सम्मिलित रूप से उद्धव और कृष्ण के प्रति भी ! कुब्जा के प्रति भी कहीं-कहीं इसी प्रकार अत्यन्त तीखे व्यंग्य किये गये हैं। इस शैली के संयोजन में सूर को जो असाधारण सफलता प्राप्त हुई है, उसी के फलस्वरूप परवर्ती भ्रमरगीत-काव्य में इसे

एक अनिवार्य कला-तत्त्व के रूप में स्वीकृत कर लिया गया है। आगे हम इस उभयोन्मुख व्यंग्य प्रणाली से सम्बद्ध एक उत्कृष्ट छन्द उद्धृत करते हैं :—

बिलग जनि मानहु, ऊधौ प्यारे !
वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहिं ते कारे ॥
तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप भँवारे ।
तिनके संग अधिक छवि उपजत, कमलनैन मनिआरे ॥
मानहु नील माट तें काढ़े, लै जमुना ज्यों पखारे ।
ता गुन स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम गुन न्यारे ॥

व्यंग्य के पश्चात् सूर ने उपालम्भ-पद्धति को विशेष रूप से अपनाया है। उपालम्भ से हमारा तात्पर्य उस वक्र पदावली से है जिसका प्रयोग साधारणत: प्रिय अथवा प्रेयसी द्वारा प्रदर्शित उपेक्षा-भाव के अवसर पर किया जाता है। कृष्ण द्वारा उपेक्षित होने पर गोपियाँ इसी पद्धति का आश्रय ग्रहण करती हैं। उपालम्भ की चरमावस्था उस समय होती है जब सम्बन्धित व्यक्ति (विरह का भोक्ता) उपेक्षा के कारण ग्लानि का अनुभव करने के अनन्तर मान का प्रदर्शन करता है। उस समय उपालम्भ में तिक्तता का कुछ अधिक मात्रा में समावेश हो जाता है और परिस्थिति कहीं अधिक अनुकूल प्रतीत होने लगती है, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि मान-भाव की अन्तर्व्याप्ति नितान्त प्रच्छन्न रूप में हो। 'सूर-सागर' में इस प्रकार की मान-संयुक्त उपालम्भ शैली के अनेक सफल प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा :—

स्याम बिनोदी रे मधुबनियाँ ।
अब हरि गोकुल काहे को आहिं, चाहत नव यौवनियाँ ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गये, गोद खिलाए कनियाँ ।
गुहि-गुहि देते नन्द जसोदा, तनक काँच के मनियाँ ॥
दिन चारि तें पहिरन सीखे, पट पीताम्बर तनियाँ ।
सूरदास प्रभु तजि कामरी अब, हरि भए चिकनियाँ ॥

विवरणात्मक शैली का प्रयोग सूर ने अत्यन्त अल्प स्थानों पर ही किया है। वास्तव में इस शैली के संचरण से काव्य-तत्व में कुछ न कुछ शिथिलता का ही संचार होता है। इसके मूल में तथ्य-दर्शन की अपेक्षा वस्तु-परिगणन को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है और यही कारण है कि इसमें आन्तरिक भाव-सौष्ठवकी अपेक्षा बाह्य कला-सौन्दर्य ही शेष रह जाता है। कतिपय परिस्थितियों में कला के उच्चतर मूल्यों का भी इसमें अभाव ही रहता है, किन्तु गीति-तत्व के सफल संयोजन द्वारा सूर अपनी वर्णन-शैली को भी विशेष माधुर्य प्रदान कर सके हैं। फिर भी इतना स्मरणीय है कि विवरणात्मक शैली की अतिवादी सीमाओं का स्पर्श सूर ने कहीं भी नही किया। उनके काव्य में विवरण का समावेश केवल उसी सीमा तक हुआ है, जहाँ तक वह सहज-ग्राह्य है। उदाहरणार्थ गोपियों की निम्नलिखित उक्ति देखिए :—

हम तो नन्द घोष की बासी ।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहि, गोप-गोपाल उपासी ।।
गिरवरधारी, गोधनचारी, बृन्दावन अभिलासी ।
राजा नन्द जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना-सी ।।
प्रान हमारे परम मनोहर, कमलनयन सुखरासी ।
सूरदास प्रभु कहौ कहाँ लौं, अष्ट महासिधि दासी ।।

उपर्युक्त विवेचन से यह नितान्त स्पष्ट है कि सूर ने अपने साहित्य का सृजन करते समय प्रकरण के अनुसार प्रत्येक स्थल पर शैली-परिवर्तन किया है। शैली को और भी सजीव तथा मर्मभेदी बनाने के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का उन्मुक्त प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों से प्राप्त होने वाला प्रथम लाभ यह है कि इनके द्वारा सम्पूर्ण गतिरोध विनष्ट हो जाता है और उसमें एक नवीन प्रवाह अथवा आत्मा का संचार हो जाता है। मुहावरे व्यंजना पर आधृत होने के कारण व्यंग्य शैली को सहायता प्रदान करते हैं और इस प्रकार भाषा में ध्वन्यात्मक तत्व की उपयुक्त सृष्टि करते हैं। लोकोक्तियाँ सत्य की ओर उन्मुख होने के कारण अनुभव पर आधारित रहती हैं और काव्य-शैली में विशेष गम्भीरता का संचार करती हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुहावरों में विषय के वक्र प्रतिपादन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इनके माध्यम से वक्ता अपने अभिप्रेत को सहज ही पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बना सकता है। उदाहरणार्थ सूर की निम्नलिखित काव्य-पंक्ति देखिये :—

तिनका तोर करौ जनि हम सों,
एक बारू की लज्जा गहियो ।

यहाँ 'तिनका तोड़ करना' नामक मुहावरे का 'सम्बन्ध-विच्छेद करना' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि यह प्रयोग भाव को सामान्यतः कहीं अधिक शोभा प्रदान करता है।

लोकोक्तियों के माध्यम से सम्बद्ध व्यक्ति अपनी भावनाओं को पूर्वानुभूत तथ्यों द्वारा उदाहृत करता है। काव्य में इनका प्रयोग निश्चित रूप से व्यावहारिक अथवा नित्य-प्रति की शैली का प्रतीक है। 'सूरसागर' में उद्धव की शुष्क और तर्कप्रधान ज्ञान-साधना को भाव-शून्य सिद्ध करने के लिए गोपियों ने सहज-प्रयुक्त लोकोक्तियों का प्रायः उपयोग किया है। किसी भी हठवादी व्यक्ति को निरुत्तर करने के लिए यह सर्वोत्कृष्ट वर्णन-प्रणाली है। उदाहरणार्थ गोपियों ने निम्नलिखित पंक्तियों में लोकोक्ति-प्रयोग द्वारा क्रमशः कृष्ण और उद्धव के प्रति अत्यन्त व्यंग्य-तिक्त वचनों का सहज आधार पर सफल प्रयोग किया है :—

(i) **ज्यों गजराज काज के औसर, औरै दसन दिखावत ।**
(ii) **स्वान पूँछ कोटिक जो लागै, सूधि न काहू करी ।**

शैली में प्रवाह का विधान करने के लिए सूर ने प्रत्येक चरण में गति-तत्व का एक

विशिष्ट आधार पर संयोजन किया है। चरणान्त में तुक का पालन करने के साथ-साथ उन्होंने अधिकांश पंक्तियों में आन्तरिक तुक-साम्य का निर्वाह करने का भी प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने विभिन्न प्रणालियों का आधार ग्रहण करते हुए प्रत्येक रीति से यह चेष्टा की है कि वर्णन के अनुसार उनकी शैली में भी उचित संशोधन और परिष्कार हो जाए। आन्तरिक तुक-साम्य के निर्वहन द्वारा शैलीगत माधुर्य के संयोजन का एक उदाहरण देखिए :—

फाटक देकर हाटक माँगत, भोरी निपट सुधारी।

निष्कर्ष रूप में हमारी यही मान्यता है कि सूर ने अपने 'भ्रमरगीत' में भाषा और शैली के द्विविध आधार को एकरूपता प्रदान की है और प्रत्येक सम्भव रीति से यह चेष्टा की है कि वह उनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध को अनिवार्यतः स्थापित कर सकें। भाषा और शैली, दोनों में ही उन्होंने अनेक प्रकार से वैविध्य का संयोजन करने की चेष्टा की है और इस प्रकार अपने प्रतिपाद्य विषय को न केवल कला की दृष्टि से ही, अपितु भाव की दृष्टि से भी बोझिल होने से बचाया है। ब्रजभाषा-साहित्य के उस प्रारम्भिक युग में भाषा और शैली का इतने व्यापक आधार पर ऋजु-सरल संयोजन निश्चय ही अत्यन्त प्रशंसनीय है और यही कारण है कि परवर्ती कवियों ने उनके काव्य की चेतना का इतने आग्रह के साथ स्पर्श करने का प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि महाकवि सूरदास ने अपने काव्य में भाषा और शैली की योजना करते समय उन्हें पूर्णतः सहज आधार पर स्थापित रखने का प्रयास किया है। यह एक नितान्त स्वस्थ प्रवृत्ति है और सूर द्वारा इसके परिपालन में सफलता प्राप्त करने का रहस्य यही है कि उनकी दृष्टि मूलतः भावना पर रही है और कला-संयोजन को उन्होंने मुख्य नहीं होने दिया है। कला-विषयक अपूर्णतायें काव्य में कला-को गौण स्थान प्रदान करने से नहीं आतीं। भाव-सौन्दर्य भी कला-विकास के लिए प्रेरक शक्ति के रूप में ही उपस्थित होता है। वस्तुतः कला-तत्व को काव्य में प्रमुख स्थान प्रदान कर उसके लिए नवीन क्षेत्रों की खोज करना ही कभी-कभी कला-विकास के लिए घातक सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त तथ्य के समर्थन के लिए हम आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्राप्त होने वाली छायावादी और प्रयोगवादी काव्य-धाराओं पर विचार करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि इन दोनों काव्य-रचना-प्रणालियों में भाव-समृद्धि की उपेक्षा नहीं की गई है, किन्तु कला-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए इनमें परम्परा से भिन्न कुछ नवीन उपकरणों का आवश्यकता से अधिक विस्तार के साथ आश्रय लिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन दोनों काव्य-धाराओं के रचयिताओं में से केवल प्रौढ़ साहित्यकार ही भावना और कला का पूर्ण अथवा अंशगत सामंजस्य स्थापित करने में सफल हो सके हैं। इसके विपरीत प्रायः सभी नवीन कवि इनके कला-तत्वों की अतिशयता से प्रभावित होकर अपने भाव-चित्रण में पूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं कर सके हैं। महाकवि सूरदास ने अपने काव्य को इस प्रकार के कला-चमत्कार से पृथक् रखा है। कला की दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य

में केवल गीतिकाव्यत्व के निर्वाह की आवश्यकता का ही प्रतिपालन किया है। इसके अतिरिक्त उनके समक्ष अन्य कोई भी आग्रह वर्तमान नहीं रहा है। इसी कारण उन्हें गेय पदों की रचना में भी पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। आगे हम उनके गीति-काव्य पर पृथक् से प्रकाश डालेंगे।

सूर का गीति-काव्य

प्रगीतात्मकता को काव्य के लिए एक अनिवार्य विषय के रूप में ग्रहण करते हुए पाश्चात्य आलोचक श्रीयुत ऑल्फ्रेड आस्टिन ने एक स्थल पर कहा है :—

"No verse which is unmusical or obscure can be regarded as poetry, whatever other qualities it may possess."

अर्थात् "किसी भी गीति-विहीन अथवा अर्द्ध-व्यक्त चरण को काव्य की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता, भले ही अन्य अनेक गुण उसमें हों।"

सूर ने अपने काव्य की सृष्टि स्वतन्त्र पदों के रूप में की है और उपर्युक्त मन्तव्य के अनुसार उनकी रचनाओं में गीति-तत्व का सर्वत्र अत्यत सहज रूप में समावेश हो गया है। उनके प्रगीत-काव्य में 'भ्रमरगीत-पदावली' को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है और विनय तथा वात्सल्य-सम्बन्धी पद इस दृष्टिकोण से इसके पश्चात् आते हैं। इन पदों में आत्मा की रागात्मिका वृत्ति का जितने सहज-स्वाभाविक रूप में अन्तर्भाव हुआ है, उतना अन्यत्र विरल है। वास्तव मे महाकवि सूरदास न केवल काव्य-प्रणेता ही थे, अपितु संगीत-शास्त्र के उद्भावक आचार्य के सभी गुणों का भी उनके व्यक्तित्व और कृतित्व मे स्वतंत्र रूप मे समावेश हो गया था। इसी प्रतिभा के फलस्वरूप वह अपने पदों की पृष्ठभूमि में संगीत की इतनी सफल स्थापना कर सके है। हमारी चेतना को इतने आग्रह के साथ आकृष्ट और रस-समन्वित करने का कारण-रूप मूल गुण भी यही है।

सूर के काव्य मे संगीत के सूक्ष्म और स्थूल, दोनों प्रकार के उपकरणों का अवसर के अनुकूल सहज समावेश हुआ है। सूक्ष्म उपकरणों से हमारा तात्पर्य उन उपादानों से है जो मनोभावों की गति-विधि से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार के तत्व प्रगीत-काव्य के लिए प्राण-सत्ता के समान होते हैं और इनसे सन्निवेष्टित होने पर ही वह चिर-स्थायी तथा आत्म-स्पर्शी हो सकता है। इसी प्रकार स्थूलतः रागादि का आधार ग्रहण करते हुए भी वह अपने पदों में उनका इतनी कुशलता के साथ समावेश कर सके हैं कि प्रथम दृष्टि में ही हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि राग-रागिनी-विषयक इस आयोजन में भी काव्यत्व का प्रचुर समावेश है। इसके अतिरिक्त संगीत के विशिष्ट आरोह-अवरोह और स्वर-ताल आदि के समवेत संयोजन का भी उन्होंने सर्वत्र ध्यान रखा है। राग-नियोजन के दृष्टिकोण से उन्होंने अपने पदों में अनेकानेक रागों का प्रयोग किया है। यथा :—

राग सारंग, सोरठ, बिलावल, रामकली, टोड़ी, नट, कल्याण, मल्हार, धनाश्री, केदार, काफी, कान्हरो, विहागरो, जैतश्री, केदारो, मारू, गौरी, गौड़, नटनारायण, आसावरी, देसाख, अडानो, परज।

इन सभी रागों का प्रयोग करते समय सूर ने विषय की चेतना को यथासम्भव अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। इनमें से उनके काव्य में सारंग, सोरठ, बिलावल, मल्हार, धनाश्री, केदार, कान्हरो, विहागरो और आसावरी आदि राग मुख्य रूप से प्रयुक्त हुए हैं और शेष का व्यवहार गौण रूप से हुआ है। इस विषय में सबसे अधिक द्रष्टव्य तथ्य यही है कि इनके आयोजन में सूर किसी प्रकार के आग्रह से युक्त नहीं रहे हैं और उन्होंने सर्वत्र अपनी चेतना को सहज-स्वाभाविक धरातल पर स्थिर रखने का प्रयास किया है। राग-नियोजन और क्रम-बन्धन करते समय केवल-मात्र वैविध्य पर उनकी दृष्टि कदापि नहीं रही है और केशव की 'रामचन्द्रिका' के रूप में छन्द-शास्त्र की कृति के समान उन्होंने 'सूरसागर' के रूप में राग-शास्त्र की सृष्टि नहीं की है। प्रत्येक राग के लिए उपयुक्त विषय का संयोजन और विभाजन उनकी अपनी मौलिक विशेषता है और उनकी मनोवैज्ञानिक तथा काव्यात्मक विचार-धारा का उत्कृष्ट प्रतीक है।

प्रगीत-काव्य का एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण गुण यह है कि उसमें आत्म-कथन की संक्षिप्ततम प्रणाली को ग्रहण किया जाता है। विस्तार की प्रवृत्ति वहाँ पूर्णतः निराकृत न होने पर भी संगति-विहीन और विषय-बाह्य है। इसका कारण स्पष्टतः यही है कि आत्मा का जितना सहज उद्भावन संक्षिप्त पद में सम्भव है, उतना विस्तृत और वर्णनात्मक आख्यान में नहीं। सूर ने अपने काव्य का प्रणयन करते समय सिद्धान्ततः इस तत्व को सर्वत्र आधारभूत रूप में ग्रहण करने का प्रयास किया है, तथापि कुछ ऐसे पदों का समावेश भी उनके काव्य में हो गया है, जिनमें व्यर्थ के आग्रह के फलस्वरूप वर्ण्य का आवश्यकता से अधिक प्रस्तार लक्षित होता है। इस प्रकार के पदों में स्वभावतः कवि की अन्तर्दृष्टि विषय की मूल चेतना पर अधिक समय तक केन्द्रित नहीं रह पाई है और परिणाम-रूप में उनमें प्रायः कुछ बोझिलता का समावेश हो गया है।

गीति-काव्य का एक सूक्ष्मतर और अपेक्षाकृत अधिक सौन्दर्यपरक गुण यह है कि उसमें संगीत की भावमय चेतना का सर्वत्र समान रूप से प्रसार रहता है। इसका मूल अर्थ यही है कि उसमें संगीत के स्वर और ताल की प्रकट अभिव्यक्ति के साथ-साथ पार्श्वगत रूप में मन की मार्मिक अनुभूति की प्रच्छन्न अभिव्यंजना भी वर्तमान रहती है। संगीत के माध्यम से मनः चेतना की इस अभिव्यक्ति का संयोजन निश्चय ही एक कुशल और सूक्ष्मद्रष्टा कवि का कार्य है। सूर के काव्य में हमें इस तत्व का अनेक स्थलों पर प्रभूत परिमाण में अनायास समावेश उपलब्ध होता है। उनके काव्य में स्वभावतः संवेदन की सहज क्षमता वर्तमान रही है और भावना-प्रधान होने के कारण उसमें समाविष्ट संगीत-तत्व भी अत्यधिक भावमय हो गया है। सांगीतिक अन्तर्चेतना के इस रमणीय भावन के दो उदाहरण देखिए :—

(i) **कहौ कहाँ तें आये हो ?**
जानति हौं अनुमान मनो तुम, जादवनाथ पठाए हो ॥

—(राग सोरठ)

(ii) **ऊधो ! कोकिल कूजत कानन ।**
तुम हमको उपदेस करत हौ, भस्म लगावन आनन ॥

—(राग बिलावल)

इन उद्धरणों में संगीत की सामान्य विधा के समावेश के साथ-साथ व्यंजना पर आधृत जिस सूक्ष्म भाव-लहरी का अन्तर्भाव हुआ है, वह निश्चय ही काव्य के रागात्मक पक्ष की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ है। संगीत और भावना, दोनों ही का इन पंक्तियों में अत्यन्त सहज स्तर पर समन्वय हुआ है।

प्रगीत-काव्य में सम्बद्ध व्यक्ति अथवा विषय की समग्र मूल वृत्तियों के सहज और स्वतन्त्र उद्भावन की अपेक्षा रहती है। सूर ने इस तत्व का प्रतिपालन कर वस्तु-स्थिति का, बिना कुछ घटाए-बढ़ाए, अत्यन्त स्वच्छ आधार पर विश्लेषण उपस्थित किया है। उन्होंने सर्वत्र वर्ण्य को चित्रात्मक और स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। यही कारण है कि मूल तत्व को अनुकृत करते समय उन्होंने किसी प्रकार की अतिवादी कल्पना अथवा दुर्बोध बौद्धिक चिन्तन का आश्रय ग्रहण नहीं किया है। उनकी गोपियाँ कृष्ण पर अनुरक्त हैं और यह अनुरक्ति किसी भी दृष्टिकोण से प्रच्छन्न नहीं है। उद्धव के समक्ष अपनी वियोग-विह्वल मनःस्थिति का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करने में उन्हें किसी प्रकार के संकोच की अनुभूति नहीं होती और यह अनावृत्त व्याख्यान की प्रणाली ही गीति-काव्य की आत्मा का निर्माण करने वाली मूल इकाइयों में से एक है। गोपियाँ अपनी आत्मा की स्थिति का स्वतः विश्लेषण करते हुए कृष्ण के प्रति अपने आत्मिक अनुराग का मर्मस्पर्शी आख्यान करती हैं :—

(i) **अंखियाँ हरि दरसन की भूखी ।**
कैसे रहैं रूपरसराची, ये बतियाँ सुनि रूखी ॥

—(राग धनाश्री)

(ii) **उर में माखन-चोर गड़े ।**
अब कैसहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जु अड़े ॥

—(राग केदारो)

महाकवि सूरदास के काव्य का अध्ययन करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि स्थूलतः प्रत्येक विरहिणी गोप-वधू अन्नमय कोश की प्रतीक है, किन्तु मनोमय कोश के उपयुक्त गुणों का भी उसके व्यक्तित्व में सहज समावेश हुआ है। वस्तुतः गीति-काव्य की सफल सृष्टि उसी अवस्था में सम्भव है, जब स्रष्टा सामान्य रूप से आनन्दमय कोश की सामरस्यपूर्ण स्थिति को प्राप्त कर चुका हो। सूर कवि और भावक के रूप में निश्चय ही आनन्दमय कोश का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें समाज-दर्शन में अटल विश्वास था और यही कारण है कि वह अपनी उच्चतर काव्य-प्रतिभा के आधार पर गोप-वधुओं के अन्नमय कोश के उपयुक्त स्थूल व्यवहार को भी मनोमय कोश के सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेतों की ओर प्रवृत्त कर सके हैं। संगीत की सहज उद्भावना के लिए भी यह अनिवार्य है कि स्रष्टा कवि की अन्तर्चेतना मनोमय कोश से लेकर आनन्द-

मय कोश तक किसी भी मध्यवर्ती जीव से सम्बद्ध हो। सूर इस दिशा में किसी भी रीति से पराभूत अथवा मानसिक कुण्ठाओं से अभिभूत नहीं रहे हैं। इसी स्वस्थ स्थिति के फल-स्वरूप वह जीव की अन्नमय और मनोमय, दोनों ही अवस्थाओं का सफल चित्रण कर सके हैं। उदाहरणार्थ गोप-वधुओं के निम्नांकित वचन निश्चित रूप से जीव के अन्नमय स्वरूप से इतर अन्य किसी स्वरूप से सम्बद्ध नहीं हैं :—

(१) **हम तो कान्ह-केलि की भूखी।**
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो, बिरहिनि बिरह-बिदूखी॥

—(राग धनाश्री)

(२) **ऊधो! कहत न कछू बनै।**
अधरामृत-आस्वादिनी रसना, कैसे जोग भनै?

—(राग आसावरी)

उल्लिखित पंक्तियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि इनमें अध्यात्मपरक विचार-धारा का निराकरण कर भोग की स्थूल और सांसारिक वृत्ति के प्रति गहन आकांक्षा प्रकट की गई है। वस्तुतः वर्तमान युग के वैज्ञानिक और तर्क-सम्मत दृष्टिकोण के अनु-सार गोपियों के विरह के मूल में सर्वत्र इसी प्रकार की कामना अपेक्षित भी थी, किन्तु जन-श्रुति और पौराणिक रचनाओं पर विश्वास करते हुए सूर ने अपने काव्य में गोपियों को मनोमय कोश की प्रतीक के रूप में भी ग्रहण किया है। वह उनके अन्तस् में भौतिक और ऐन्द्रिक चेतना को गौण तथा जीवात्मा की साधनापरक भावमय गति को प्रमुख मानते हुए उनके चरित्र के एक दूसरे उदात्त स्वरूप को भी उपस्थित करते हैं। गोपियों का अधोलिखित कथन स्पष्टतः इसी तथ्य के संकेत उपस्थित करता है :—

हरि न मिले, री माई! जन्म ऐसे ही लाग्यो जान।
जोवत मग द्यौस द्यौस, बीतत जुग-समान॥

—(राग टोड़ी)

सूर की पदावली में नाद-सौन्दर्य के तत्व को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और यही कारण है कि उनके गेय पदों में चेतना को आकृष्ट करने वाली रम्य-मधुर वाणी का उत्कृष्ट सामंजस्य हुआ है। संगीत के अमूर्त तत्वों से युक्त होने के फलस्वरूप उनके काव्य के अन्तर्भाग में एक विशिष्ट प्रकार के सूक्ष्म सौन्दर्य की सहज व्याप्ति हुई है। संगीत के साहचर्य में सौन्दर्य-भावना का यह प्रसार सामान्यतः काव्य में अत्यन्त विरल रहता है। इसके सफल आयोजन के साथ-साथ सूर ने अपने काव्य में आलाप और मूर्च्छना के तत्वों का भी पूर्ण प्रकर्षात्मक रूप उपस्थित किया है। संगीत की ध्वनि में सामान्यतः जिस भावात्मक सत्ता की निसर्ग अभिव्यक्ति रहती है, उसका अवस्थान भी सूर की काव्य-लहरी में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। स्वर-तारतम्य के फलस्वरूप उनके गीत-संयोजन में अर्थ को व्यंजित करने की क्षमता का अत्यन्त व्यापक आधार पर संघटन हुआ है। उनके काव्य में सांगीतिक अन्तर्चेतना का प्रायः अनिवार्य योग रहा है और यही कारण है कि 'भ्रमरगीत' के माध्यम से वह इतने रम्य वातावरण की सृष्टि कर सके हैं।

इसी के फलस्वरूप उनका काव्य अध्येता के चित्त का प्रसादन करते समय उसके अत्यन्त निकट सम्पर्क में रह सका है।

गीति-काव्य के लिए यह अनिवार्य है कि उसका प्रत्येक शब्द इन्द्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सक्षम हो और वह समष्टि-रूप में अन्तम् में पैठकर व्यक्ति की रागात्मिका वृत्ति को उद्बुद्ध करने और मन को एक विशिष्ट रमणीय चेतना की ओर उन्मुख करने में समर्थ हो। 'सूरसागर' में इस तथ्य को प्रायः सिद्धान्त रूप में ही स्वीकृत कर लिया गया है। सूर ने प्रकृति और जीव को सहज-सम्बद्ध मानकर इस प्रकार के अनेक हृदय-स्पर्शी और मुखर चित्रों की सजीव उद्भावना की है। उनकी गोपियों के विरहोद्गार करुण प्रकृति के होने के कारण भावुक की मनसा का तुरन्त स्पर्श करते हैं और अध्येता का चित्त परिस्थिति से तदाकार सम्बन्ध का अनुभव कर प्रायः वहीं रमण करने लगता है। मन के इस सहज अभिनिवेश का एक उत्कृष्ट उदाहरण देखिए :—

ऊधो ! मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतो, सो गयो हरि के संग, को अराधै तुव ईस ?
भईं अति सिथिल सबै माधव बिनु, जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस ॥

—(राग धनाश्री)

सूर ने अपने गीति-सम्मत काव्य में कोमल-कमनीय पद-विन्यास को अत्यन्त सहज आधार पर संयोजित करने का प्रयास किया है। यद्यपि ब्रज-भाषा में मधुर शब्दों की स्थिति स्वभावतः ही प्रभूत मात्रा में दृष्टिगत होती है, तथापि सूर ने उसे और भी सजाते-सँवारते हुए लोक-व्यवहृत भाषा के अधिक समीप रखा है और व्यावहारिक शब्दों का बृहत् परिमाण में उन्मुक्त प्रयोग किया है। संगीत की सृष्टि के लिए सामान्यतः शब्दों के जिस उपयुक्त चयन की अपेक्षा रहती है, उसका सूर ने अतिशय ध्यान रखा है। यथा :—

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं, काहे न दुख होय ?
कपट करि करि प्रीति कपटी, लै गयो मन गोय ॥
काल-मुख तें काढ़ि आनी, बहुरि दीन्हीं ढोय।
मेरे जिय की सोइ जानै, जाहि बीती होय ॥

—(राग सोरठ)

सूर के काव्य का प्रणयन मूलतः रागों के आधार पर हुआ है और यही कारण है कि पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से प्रौढ़ छन्द-विधान का समावेश वहाँ नहीं हो पाया है। फिर भी संगीत की स्वाभाविक लय के फलस्वरूप उनके काव्य में यत्र-तत्र छन्द-योजना का उत्कृष्ट रूप भी दृष्टिगत होता है। इस दृष्टिकोण से उनके पदों में सार, गीतिका, हरि-गीतिका, झूलना एवं विधाता आदि छब्बीस से अट्ठाईस मात्राओं वाले छन्दों का ही विशेष रूप से समावेश हुआ है। कहीं-कहीं एक ही पद में इनमें से दो या तीन छन्दों का भी समावेश हो गया ह जो काव्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं है, तथापि

हमारा प्रतिपाद्य विषय केवल यही है कि संगीत-प्रधान रचना होने के कारण लय के सफल निर्वाह के फलस्वरूप 'सूर-सागर' यत्र-तत्र छन्द-सौष्ठव से भी युक्त है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में यौगिक जाति के 'सार' नामक मात्रिक छन्द का सफल प्रयोग देखिये :—

अपने अपने गृह तें दौरीं, लै पाती उर लाई।
नयनन नीर निरखि नहिं खण्डित, प्रेम न बिथा बुझाई॥
कहा करौं सूनो यह गोकुल, हरि बिनु कछु न सुहाई।
सूरदास प्रभु कौन चूक तें, स्याम सुरति बिसराई ?

—(राग सारंग)

गीति-काव्य की दृष्टि से सूर के काव्य में सम्बोधन, उद्बोधन, उपालम्भ, करुण एवं व्यंग्य गीति-पद्धतियों का प्रमुख रूप से समावेश हुआ है। सम्बोधन एवं करुणा के तत्वों का तो प्राय: उनके सभी गीतों में समान रूप से अन्तर्निहित दृष्टिगत होता है। उद्बोधनात्मक और व्यंग्यपरक गीतों का मूलत: उद्धव से ही सम्बन्ध रहा है और उपालम्भ गीतों की रचना कृष्ण को लक्ष्य में रखकर की गई है। इन सभी प्रणालियों में काव्यत्व की दृष्टि से व्यंग्य-प्रवृत्ति ही विशेष महत्वपूर्ण है। इन व्यंग्यात्मक गीतों में अर्थ-गाम्भीर्य का प्राय: अत्यन्त सूक्ष्म रीति से समावेश हुआ है। कहीं-कहीं तो ये इतने भावमय और ध्वन्यात्मक हो गये हैं कि शुष्कतर व्यक्तित्व वाले ज्ञानी उद्धव भी केवल-मात्र तिलमिला कर रह गये होंगे। इसी प्रकार कुछ गीतों में कृष्ण और उद्धव, दोनों के प्रति समान रूप से तीखे व्यंग्य किये गये हैं। इस प्रकार के उभयोन्मुख व्यंग्य-वचनों में सूर की प्रतिभा का विशेष उद्भावन हुआ है और परवर्ती कवि चेष्टा करने पर भी केवल इनका अनुकरण ही कर सके हैं तथा किसी प्रकार की मौलिक प्रतिभा का परिचय इस दिशा में उन्होंने नहीं दिया है। इस विषय में सूर का एक सहज प्रवहमान और ध्वनि-चेतना से समन्वित उत्कृष्ट पद देखिए :—

मधुकर ! तुम रस लंपट लोग।
कमलकोस में रहत निरन्तर, हमहिं सिखावत जोग॥
अपने काज फिरत ब्रज-अन्तर, निमिष नहीं अकुलात।
पहुप पाए बहुरे बेलिन के, नेकु न नेरे जात॥
तुम चंचल हौ, चोर सकल अंग, बातन क्यों पतियात ?
सूर विधाता धन्य रच्यो जो, मधुप स्याम इक गात॥

—(राग सारंग)

गीति-काव्य में अनुभूति और भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि सूर के पदों में इन दोनों को ही उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है, तथापि विरह-भाव की अन्तर्व्याप्ति के कारण उनके भ्रमरगीत-प्रकरण में इनका अधिक सुन्दरता से समावेश हुआ है। इसमें एक ओर सूक्ष्म-तरल अनुभूति है और दूसरी ओर करुण गीतिमय संवेदना ! अनुभूति में तारल्य की स्थिति इसमें समाविष्ट व्यंग्य भाव के कारण है। गोपियाँ उद्धव के योग-उपदेश की शुष्कता और दुरूहता के कारण संयोग की स्मृति से उद्भावित विरह-

भाव का और भी स्पष्ट अनुभव करती हैं तथा नारी-सुलभ वचन-वैदग्ध्य के माध्यम से अपनी अनुभूति को सूक्ष्मोन्मुख तरल अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। यथा :—

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप ! निर्गुन कंटक तें, राजपंथ क्यों रूँधो ?
कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौ।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढौ, जुवतिन जोग कहूँ धौ ?
ताको कहा परेखो कीजै, जानत छाछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर गए लै, ब्याज निबेरत ऊधो॥

—(राग बिलावल)

भावना की दृष्टि से 'भ्रमर गीत' में विरह की अधिकांश अवस्थाओं की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना हुई है। विरह में स्वभावतः व्यक्तित्व का अधिक उद्‌घाटन होता है और मन के प्रच्छन्न भाव भी प्रायः एक विशिष्ट उभार को प्राप्त कर लेते हैं। संयोग में चेतना पर जो रंगीन आवरण वर्तमान रहता है, उसके अनावृत्त होने से इस समय आत्मा की स्थिति और भी अधिक प्रकाश में आ जाती है। गीति-काव्य की रसमयी चेतना की दृष्टि से मर्म का यह निःशेष उद्‌घाटन अपने आप में अनन्य महत्व से संयुक्त है। गोप-वधुओं का विरह समष्टिगत होने के कारण सामान्य विरह की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक हो गया है। इसी प्रकार का एक करुण तथा भावमय अंश देखिए :—

निरखत अंक स्याम सुन्दर के,
बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै,
ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥

—(राग मलार)

आत्मिक गुणों से संयुक्त होने के कारण प्रायः सूर के सभी पद भावक की चेतना का तुरन्त स्पर्श करते हैं। इन पदों में रस-तत्व का सर्वत्र सूक्ष्म रूप से निर्वाह किया गया है और सम्बद्ध भाव को पूर्ण प्रतिनिधित्व प्रदान करने की चेष्टा की गई है। शृंगार की भाँति ही वात्सल्य रस के विरह-पक्ष का उद्‌घाटन करने में भी सूर ने गीति-तत्वों का सफल उपयोग किया है। गोप-वधुओं की मनस् वेदना के साथ ही उन्होंने यशोदा के मातृ-हृदय की चिन्तामूलक विकल भावना की भी पूर्ण और मार्मिक प्रतिकृति उपस्थित की है। पुत्र-वियोग के चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने के अनन्तर यशोदा अत्यन्त करुण रूप में कहती हैं :—

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करति ही रहियो॥

—(राग सोरठ)

अन्त में हमें यही कहना है कि यद्यपि गोपियों का भौतिक अस्तित्व आज युग-प्रवाह में पूर्णतः विलीन हो गया है, तथापि सूर ने उनकी मनःस्थिति का इतने सजीव रूप में चित्रण किया है कि उनके प्रगीत काव्य का अध्ययन करने पर हमें सहसा ऐसा प्रतीत होता है मानो वृन्दावन के कुंजों में आज भी गोपियाँ उद्धव को उपालम्भ दे रही हैं और हम परोक्ष में कहीं उनकी वार्ता का श्रवण कर रहे हैं।

: ६ :

तुलसी का काव्य-सौन्दर्य

रस-सम्पन्न होने के कारण काव्य पाठकों अथवा श्रोताओं को अनादि काल से आनन्द प्रदान करता आया है। प्रत्येक युग में कवियों ने भिन्न-भिन्न विषयों को लेकर काव्य-रचना की है, किन्तु रस-तत्व से संयुक्त होने के कारण ये सभी विषय सहृदयों को प्रिय प्रतीत होते रहे हैं। रस के अतिरिक्त कविगण अन्य अनेक काव्य-तत्वों के माध्यम से भी अपनी काव्य-रचनाओं को सौन्दर्य प्रदान करने का प्रयत्न करते रहे हैं। इन विभिन्न सौन्दर्य-विधायक तत्वों को सुविधा के लिए 'भाव-तत्व' और 'कला-तत्व' के रूप में वर्गीकृत किया गया है। भाव-तत्व के अन्तर्गत काव्य में समाविष्ट विविध सौन्दर्यमूलक भावनाओं का समावेश किया जाता है और कला-तत्व के अन्तर्गत विभिन्न कलात्मक उपकरणों की चर्चा रहती है।

महाकवि तुलसीदास ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल के अन्तर्गत काव्य-रचना करते हुए राम की सगुण भावमयी भक्ति का कलात्मक निरूपण किया है। उनकी राम-भक्ति-विषयक रचनाओं में 'रामचरितमानस', 'गीतावली', 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' के नाम उल्लेखनीय हैं। राम के अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण की भक्ति करते हुए 'कृष्ण-गीतावली' की भी रचना की है। इसी प्रकार राम के भक्तों के महत्व को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'हनुमान-बाहुक' का प्रणयन किया है। हिन्दी-काव्य में राम-भक्ति का सर्वप्रथम विस्तृत व्याख्यान करने का श्रेय तुलसी को ही प्राप्त है। उनसे पूर्व राम-भक्ति का प्रतिपादन यत्र-तत्र केवल मुक्तक काव्य के रूप में हुआ था। तुलसी ने 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्मरामायण', 'प्रसन्न राघव', 'श्रीमद्भागवत', 'हनुमन्नाटक' तथा पुराण-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण कर तत्कालीन लोक-भाषा हिन्दी में राम-चरित्र का श्रद्धापूर्वक वर्णन किया है।

भाव-तत्व

महाकवि तुलसीदास का काव्य भावना की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। वस्तुतः हिन्दी के भक्तिकालीन कवि कला-पक्ष की अपेक्षा काव्य के भाव-पक्ष के सर्वांगपूर्ण संयोजन में अधिक विश्वास रखते थे। भक्ति-भाव को कलात्मक रूप से उपस्थित अवश्य किया जाना चाहिए, किन्तु यदि भक्ति-काव्य में कला-तत्वों को प्रमुख स्थान प्रदान करना ही कवि का इष्ट हो जाए तो निश्चय ही उस काव्य का महत्व पर्याप्त सीमा तक क्षीण हो जाएगा। तुलसी ने भी राम-कथा का वर्णन करते समय इसी तथ्य को ध्यान में रखा है, तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्होंने अपने काव्य में कला के उपकरणों की उपेक्षा

की है। सत्य तो यह है कि अपने समकालीन कवियों में कला को श्रेष्ठतम रूप में भी उन्होंने ही उपस्थित किया है और राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति की धाराओं में से कोई भी कवि उनकी समता नहीं कर सका है। आगे हम उनके काव्य के इन दोनों ही पक्षों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे ।

महाकवि तुलसीदास ने अपने काव्य में भाव-वैविध्य का सर्वाधिक परिचय दिया है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी के चरित्र का अंकन करते समय उन्होंने उनकी व्यक्तिगत और पारिवारिक स्थितियों का चित्रण करने के अतिरिक्त तत्कालीन समाज, राजनीति और धर्म पर भी उपयुक्त विचार उपस्थित किये हैं। आगे हम उनके काव्य में रस, भक्ति, दार्शनिक विचार-धारा, चरित्र-चित्रण और प्रकृति-निरूपण के समावेश का अध्ययन कर उनके काव्य के भाव-वैभव पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

रस-योजना

तुलसी ने अपने काव्य में शृंगार रस के संयोग और वियोग, दोनों पक्षों को ग्रहण किया है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत उन्होंने दाम्पत्य प्रेम के अनेक शुद्ध, हृदयग्राही और संयत चित्र उपस्थित किये हैं। राम और सीता के पारस्परिक प्रेम-व्यवहार का अंकन करते समय उन्होंने संयोग शृंगार के स्थूल पक्ष का परित्याग कर उसके सूक्ष्म रूप का व्यंजनापूर्ण चित्रण किया है। उदाहरणार्थ वन-गमन के अवसर पर ग्राम-वधुओं के राम-लक्ष्मण-विषयक प्रश्न के उत्तर में सीता की निम्नलिखित मधुर क्रियाएँ देखिए :—

सहज सुभाय सुभग तनु गोरे ।
नाम लखन लघु देवर मोरे ।।
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी ।
पिय तन चितै भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि ।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि ।।

विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण करते समय भी तुलसी ने सर्वत्र इसी मर्यादा-भाव का परिचय दिया है। उन्होंने वन में राम और सीता के परस्पर पृथक् होने पर दोनों को विरह-मग्न दिखाया है, किन्तु उनके चरित्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए उन्होंने उन्हें प्रलापरत प्रेमियों के रूप में प्रदर्शित नहीं किया है।

तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राम-वन-गमन, दशरथ-मरण तथा लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम-विलाप-सम्बन्धी प्रकरणों में शोक की अत्यन्त स्वाभाविक व्यंजना उपस्थित की है और इस प्रकार करुण रस को मूर्त रूप प्रदान किया है। कौशल्या-विलाप और मन्दोदरी-विलाप में भी करुण रस का मार्मिक चित्रण हुआ है। अन्य रसों में तुलसी ने 'रामचरितमानस' में राम-रावण-युद्ध का वर्णन करते समय वीर रस के साथ-साथ रौद्र, भयानक और वीभत्स आदि सहायक रसों का भी यथास्थान चित्रण किया है। वीर रस का वर्णन करते समय उन्होंने राम के वीर वेश का वर्णन करने में सर्वाधिक रुचि दिखाई है। उनके राम केवल युद्ध-वीर ही नहीं हैं, उनमें दया-वीर, धर्म-वीर और

दान-वीर नायक के भी लक्षण वर्तमान हैं।

तुलसी के काव्य में शान्त रस को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है और 'विनय-पत्रिका' के पदों में इस रस का पूर्ण परिपाक उपलब्ध होता है। इसी प्रकार राम के मनुष्यत्व और ब्रह्मत्व का साथ-साथ उल्लेख कर कहीं-कहीं उन्होंने अद्भुत रस का भी सुन्दर निर्वाह किया है। हास्य रस की दृष्टि से 'रामचरितमानस' के नारद-मोह, शिव-विवाह और शूर्पणखा-प्रस्ताव-सम्बन्धी प्रसंग विशेष सुन्दर बन पड़े हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी ने अपने काव्य में नव रसों को व्यापक स्थान प्रदान किया है। उन्होंने रस की तीव्रता के लिए संचारी भावों के संकेत का भी ध्यान रखा है और इस प्रकार रसोद्रेक को अधिक सहज बना दिया है।

भक्ति-पद्धति

तुलसी ने भगवान् राम के लोक-व्यापी मंगलमय रूप का अंकन किया है। उनकी भक्ति में तल्लीनता और अनन्यता को व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है। उन्होंने भक्ति में दास्य भाव की समष्टि को आवश्यक मानते हुए आलम्बन के महत्व की अनुभूति और भक्त के दैन्य के प्रकटीकरण की प्रणाली को अपनाया है। इसीलिए उन्होंने राम के महत्वका विस्तृत वर्णन करते हुए अपनी दीन दशा और विविध त्रुटियों का पर्याप्त उल्लेख किया है। उन्होंने भक्ति की पूर्णता के लिए दम्भ, अभिमान, छल आदि के त्याग को आवश्यक माना है। उनके भक्ति-विषयक पदों में उद्बोधनात्मक शक्ति का प्रशंसनीय समाहार हुआ है। यथा:—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
सो छाँड़िये कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बन्धु, भरत महतारो।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद मंगलकारी॥
नाते नेह राम के मानियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

तुलसी ने भक्ति में निष्काम भाव की स्थिति पर बल दिया है। उनके अनुसार भक्त के लिए भक्ति का आनन्द ही वास्तविक प्राप्तव्य है। राम के लोक-रंजक रूप का चित्रण करते हुए उनके प्रति अपनी अनन्य भक्ति-भावना का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने चातक के अनन्य प्रेम के आदर्श को आधार-रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने राम के चरित्र में शक्ति, शील और सौन्दर्य की समष्टि करते हुए भगवान् के सगुण स्वरूप को इन तीनों से अनिवार्यतः युक्त माना है। उनके अनुसार सौन्दर्य और शील भगवान् की लोक-रंजन और लोक-पालन-सम्बन्धी भावनाओं के प्रतीक हैं और शक्ति से संसार के उद्भव और लय के संकेत मिलते हैं।

दार्शनिक विचार

भारत में जीव,ब्रह्म और माया के विषय में अनेक दार्शनिकों ने अपने विचारों को स्पष्ट किया है, किन्तु विषय की जटिलता के कारण उनकी अभिव्यंजना शैली भी प्राय: शुष्क और दुर्बोध रही है। तुलसी ने अपने काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों की गहनता को भी अपनी सहज सूक्तियों द्वारा सरल स्वरूप प्रदान कर दिया है और इस प्रकार उनके दार्शनिक विचार सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य हो गये हैं। उन्होंने जीव को ब्रह्म के रूप में उपस्थित किया है और उसे अपने विशुद्ध रूप में ईश्वर की भाँति नित्य-निर्विकार माना है। वह कर्म के अनुसार सुख-दुख का भागी रहता है और ईश्वर से निकटतम रूप में सम्बद्ध होने पर भी माया के प्रभाव के कारण सत्य से अपरिचित रहता है। इस माया के विद्या और अविद्या नामक दो पक्ष हैं और इसके मूल में अहंकार की स्थिति रहती है। इस अहंकार को केवल भक्ति द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। वैसे उन्होंने जगत् को सुखात्मक मानते हुए उसे केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए मिथ्या और क्लेशपूर्ण माना है जो ईश्वर की सर्वव्यापकता से अपरिचित हैं। इसी कारण उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में अपने साध्य के दर्शन किए हैं :—

सिया राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

तुलसी ने भगवान् के सगुण और निर्गुण रूपों में अभेद भावना का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार भक्तों के असीम प्रेम के वशीभूत होकर निर्गुण ब्रह्म ही सगुण रूप धारण करते हैं। तुलसी के दार्शनिक विचारों में अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के सिद्धान्तों का समावेश हुआ है और इनमें से उन्होंने विशिष्टाद्वैतवाद को ही मुख्य स्थान प्रदान किया है। इस विषय में शुक्ल जी का मत इस प्रकार है :—

"परमार्थ दृष्टि से—शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से—तो अद्वैतवाद गोस्वामी जी को मान्य है, परन्तु भक्ति के व्यावहारिक सिद्धान्त के अनुसार भेद करके चलना वे अच्छा समझते हैं।"

इतना होने पर भी तुलसी ने किसी विशेष दार्शनिक मत के प्रति आग्रह प्रदर्शित नहीं किया है और उन्होंने मत-बन्धन से ऊपर उठकर सरल भावमयी भक्ति को ही सर्वाधिक श्रेय प्रदान किया है।

चरित्र-चित्रण

तुलसी ने अपने काव्य में लोक-साधना पर बल देते हुए राम, सीता,भरत, लक्ष्मण तथा हनुमान जैसे अनेक आदर्श चरित्रों की रचना की है। उनके काव्य के नायक श्री राम ओजस्वी, प्रतिभाशाली, उदार, सदाचारी और मर्यादाशील हैं। उनके व्यक्तित्व में शक्ति, शील और सौन्दर्य का अद्भुत समावेश हुआ है। उन्होंने पिता, माता, पत्नी, धर्म तथा जनता आदि के प्रति आदर्श विचारों को उपस्थित करते हुए लोक-धर्म का सुन्दर निर्वाह किया है। उनके अतिरिक्त भरत और लक्ष्मण ने भी

आदर्श भ्रातृत्व भाव द्वारा लोक-पक्ष की मर्यादा का ध्यान रखा है। इसी प्रकार सीता के चरित्र में भी दया, ममता, सौजन्य तथा पति-भक्ति आदि विविध गुणों का संयोजन करते हुए कवि ने नारी के लोकादर्शों को अभिव्यक्ति प्रदान की है। हनुमान की राम-भक्ति द्वारा कवि ने भक्त के आदर्श का सुन्दर निरूपण किया है।

तुलसी ने सृष्टि के त्रिगुणात्मक स्वरूप को लक्ष्य में रखकर अपने पात्रों को भी सात्विक, राजसिक और तामसिक की तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। सात्विक वृत्ति वाले पात्रों में राम, सीता एवं भरत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और लक्ष्मण के चरित्र में राजस गुण का विशेष समन्वय हुआ है। इस स्थान पर यह द्रष्टव्य है कि कवि ने अपने पात्रों में विविधता का सुन्दर समन्वय किया है और एक ही प्रकार की परिस्थितियों में विकसित होने वाले राम और लक्ष्मण के चरित्रों में स्पष्ट विभिन्नता रखी है। तामसी गुणों का समावेश रावण जैसे दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों के चरित्र में हुआ है। इस चरित्र-चित्रण के माध्यम मे कवि ने मानव-व्यवहार पर अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रकाश डाला है और अन्ततः सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए व्यक्ति को सात्विक वृत्तियों का आश्रय लेने का परामर्श दिया है। उदाहरणार्थ वन-गमन के अवसर पर श्री रामचन्द्र की निम्नलिखित सात्विक क्रियाएँ देखिए :—

कीर के कागर ज्यौं नृप चीर,
विभूषन उप्पम अंगनि पाई ।
औध तजी मगवास के रूख ज्यौं,
पंथ के साथी ज्यौं लोग-लुगाई ॥
संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो,
धर्म, क्रिया धरि देह सुहाई ।
राजिवलोचन राम चले,
तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं ॥

प्रकृति-चित्रण

काव्य में प्रकृति-चित्रण द्वारा कवि अपने पात्रों तथा पाठकों को सांसारिक संघर्षों से कुछ समय के लिए अवकाश देकर सहजागत परिस्थितियों के माध्यम से उन्हें विशिष्ट आनन्दानुभूति कराने का प्रयत्न करता है। यद्यपि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि द्वारा कल्पना का आश्रय भी लिया जा सकता है, किन्तु प्रकृति-चित्रण की स्वाभाविकता से समक्ष कल्पना का स्थान गौण ही रहता है, क्योंकि उसमें असम्भाव्यता के लिए भी अवसर वर्तमान रहते हैं। हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण की ओर प्रारम्भ में अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, किन्तु भक्ति काल में महाकवि सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास ने इस ओर विशेष ध्यान दिया और काव्य-शास्त्रियों द्वारा प्रकृति-चित्रण के लिए निर्धारित विविध प्रणालियों में से अधिकांश को अपने काव्य में स्थान प्रदान किया।

तुलसी ने अपने काव्य में प्रकृति को आलम्बनात्मक, उद्दीपनात्मक और अलंकारिक, तीनों रूपों में उपस्थित किया है। उनके प्रकृति-चित्रों में भावों को उद्बुद्ध करने की क्षमता पूर्णतः वर्तमान रही है और मानवीय क्रियाओं का प्राकृतिक तत्वों से सम्बन्ध स्थापित कर उन्होंने अपने प्रकृति-चित्रण को और भी प्रभावशाली बना दिया है। प्रकृति के शुद्ध आलम्बनात्मक चित्र अंकित करने में तुलसी को भक्ति काल के कवियों में सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है। 'रामचरितमानस' में इस प्रकार के अनेक श्रेष्ठ चित्र प्राप्त होते हैं जिनमें कवि ने विविध प्राकृतिक दृश्यों की छवि का सूक्ष्म अंकन किया है। यथा :—

विकसे सरसिज नाना रंगा।
मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा॥
चातक कोकिल कीर चकोरा।
कूजत विहंग, नाचत मन मोरा॥

तुलसी ने प्रकृति-दर्शन द्वारा अनेक नैतिक और आध्यात्मिक दृश्य-संकेत भी उपस्थित किये हैं अर्थात् उन्होंने प्रकृति में समाज-दर्शन और अध्यात्म का उत्कृष्ट समन्वय किया है। इस प्रकार के प्रकृति-चित्र हिन्दी-काव्य में अधिक प्राप्त नहीं होते। यथा :—

बरसहिं जलद भूमि नियराये।
यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥
बुंद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सहैं जैसे॥

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि तुलसी ने भक्ति काल में राम-भक्ति का सर्वश्रेष्ठ निरूपण करते हुए रस-योजना, भक्ति-प्रतिपादन, नीति-समावेश, सौन्दर्य-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, चरित्र-चित्रण, दार्शनिक विचाराभिव्यक्ति तथा कल्पना का सुन्दर समाहार किया है। जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो उनसे अस्पृष्ट रह गया हो। उनके काव्य में भावना और कला के उपयुक्त समन्वय के अतिरिक्त भक्त के हृदय की पूर्ण शान्ति के भी दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उनका काव्य साहित्य की निधि होने के साथ-साथ जन-साधारण की भी विभूति बन गया है। यद्यपि उनके काव्य-नायक का सम्बन्ध भी आज से सहस्रों वर्ष पूर्व के युग से है और उन्होंने स्वयं भी अपने काव्य की रचना अनेक शताब्दी पूर्व की थी, तथापि लोक-मंगल की भावना से समाविष्ट होने के कारण उनकी रचनाएँ आज भी सर्वप्रिय हैं और उनमें प्रतिपादित आदर्श सिद्धान्तों का केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी पर्याप्त प्रचार हो रहा है। उनके 'रामचरितमानस' के विदेशी भाषाओं में प्राप्त होने वाले विविध अनुवादों तथा रूपान्तरों को इस कथन के लिए प्रमाण-रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

कला-तत्व

'कला' से हमारा तात्पर्य कवि की अभिव्यंजना-शक्ति से है। जब कवि अपनी

विभिन्न अनुभूतियों को उपयुक्त भाषा-शैली द्वारा प्रकट करने लगता है तब उसके द्वारा प्रयुक्त विविध साधनों को ही कला-तत्व कहेंगे। भाषा, शैली, छन्द और अलंकार, इस प्रकार के चार प्रमुख कलात्मक उपकरण हैं। तुलसी ने अपने काव्य की रचना प्रबन्ध और मुक्तक, दोनों ही रूपों में की है। इस कारण उनके काव्य में कलात्मक सौन्दर्य के संचरण के लिए पर्याप्त अवसर वर्तमान रहे हैं। प्रबन्ध काव्य के रूप में उन्होंने अपने 'रामचरितमानस' की रचना अवधी भाषा में की है और शेष कृतियों को व्रजभाषा में उपस्थित किया है। भाषा के इस द्विविध आधार-ग्रहण के फलस्वरूप भाषा-शैली की दृष्टि से उनकी कृतियों में कहीं-कहीं पार्थक्य भी लक्षित होता है अर्थात् अवधी और व्रजभाषा की कलात्मक विशेषतायें परस्पर भिन्न रही हैं। आगे हम उनके काव्य के सभी उपकरणों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

भाषा

तुलसी ने अपने काव्य की रचना अवधी और व्रजभाषा में की है और इन दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार रहा है। अवधी मे 'रामचरितमानस' और व्रज-भाषा में 'कवितावली', 'गीतावली' तथा 'विनय-पत्रिका' नामक काव्य इसके उत्कृष्ट प्रमाण हैं। वास्तव में उन्होंने अपनी सहज काव्य-प्रतिभा के आधार पर इन दोनों ही भाषाओं का संस्कार करते हुए इनका उचित अलंकरण किया है। वैसे अपने काव्य में शब्द-चयन करते समय उन्होंने अवधी और व्रजभाषा के अतिरिक्त संस्कृत, अरबी, फारसी और कतिपय प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है और इस प्रकार उपयुक्त स्थल पर उपयुक्त शब्द की योजना द्वारा भाषा को विशेष सजीवता प्रदान की है। शब्द-प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य में हमें निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं :—

(१) **संस्कृत के तत्सम शब्द :—**
मनोज, मंजुल, पंकज, पल्लव, पूषन आदि।

(२) **अर्द्ध तत्सम शब्द :—**
सनेह, दसानन, स्रम, अरथ, स्तुति आदि।

(३) **तद्भव शब्द :—**
आखर, नाह, सरबस, सुभाउ आदि।

(४) **देशज शब्द :—**
झुकर, खपुआ, फंग, सँघाती आदि।

(५) **शाब्दिक अंग-भंग :—**
तिच्छन (तत्क्षण), पक्खर (प्रखर), उप्पम (उपमा)।

(६) **विदेशी शब्द :—**
(अ) *फारसी भाषा*—बकसीस।
(ब) *अरबी भाषा*—साहेब, लायक।
(ज) *मिश्रित शब्द*—सिरताज।

तुलसी की भाषा हमारे समक्ष अत्यन्त सुन्दर, प्रौढ़ एवं व्यावहारिक रूप में उपस्थित हुई है। उन्होंने भाषा की निरर्थक कृत्रिमता का विरोध कर उसे अधिक से अधिक रमणीय एवं सहज-ग्राह्य स्वरूप प्रदान करने पर बल दिया है। अवधी भाषा में तो उनकी कृतियाँ सहज-सुन्दर हैं ही, ब्रजभाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने विशेष कुशलता का परिचय दिया है। ब्रजभाषा की स्निग्धता और मधुरता की दृष्टि से 'कवितावली' में उन्हें विशष सफलता प्राप्त हुई है। भावानुकूल परिवर्तित होने के कारण भी तुलसी की भाषा में विशेष प्रवाह और आकर्षण का विधान हुआ है। वास्तव में विभिन्न रसों के अनुकूल भाषा की योजना करने में वह पूर्ण दक्ष हैं।

गोस्वामी जी की भाषा व्याकरण की दृष्टि से प्रायः शुद्ध ही रही है और भाषा-शुद्धि में बाधक शाब्दिक अंग-भंग की प्रवृत्ति को उन्होंने अधिक मात्रा में ग्रहण नहीं किया है। उनका वाक्य-संगठन भी व्यवस्थित, दोष-मुक्त और पूर्ण अर्थ की प्रतिपत्ति कराने वाला रहा है। भाषा को सजीवता प्रदान करने के लिए उन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। उनके मुहावरे व्यंजना पर आधारित रहे हैं और लोकोक्तियों में अनुभूतिजन्य सत्य का उपयुक्त समावेश हुआ है। यथा :—

(१) **दुइ कि होइ इक संग भुवाला।**
हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥

—('गाल फुलाना' नामक मुहावरा)

(२) **जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।**
जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

—(लोकोक्ति)

तुलसी ने अपने काव्य में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद नामक तीनों गुणों का सफल समावेश किया है। काव्य की विभिन्न रीतियों एवं शब्द-शक्तियों के संयोजन में भी उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। व्यंजना शक्ति का एक सुन्दर उदाहरण देखिए :—

सीता हरन, तात ! जनि कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित, कहहि दसानन आइ॥

—(राम की जटायु के प्रति उक्ति)

गुण-समावेश की दृष्टि से उन्होंने माधुर्य एवं प्रसाद नामक गुणों की रम्य-स्वच्छ अभिव्यंजना को विशेष रूप से स्वीकार किया है और प्रायः इन दोनों के सम्मिलित स्वरूप को उपस्थित करने की चेष्टा की है। इससे उनकी कृतियों में जहाँ एक ओर कलात्मक सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है, वहाँ दूसरी ओर रस-तत्व को भी पर्याप्त सम्बल प्राप्त हुआ है।

शैली

तुलसी ने अपने काव्य में चित्र-शैली का आधार ग्रहण करते हुए अपने भावों को सुन्दर चित्रात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने एक ओर तो प्रकृति के उत्कृष्ट सौन्दर्य-चित्र उपस्थित किये हैं और दूसरी ओर अपने विभिन्न पात्रों की शारीरिक रूप-

छवि और मानसिक सौन्दर्य का मनोहारी चित्रण किया है। पात्रों की विविध मनोदशाओं का जितना उत्कृष्ट चित्रण तुलसी ने किया है उतना सूर के अतिरिक्त भक्ति काल के किसी भी अन्य कवि ने नहीं किया। उदाहरणार्थ राम के बाल-रूप की 'कवितावली' में निम्नलिखित चित्रात्मक अभिव्यक्ति देखिए :—

अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत
गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच बिमोचन को,
ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक-से ।।
तुलसी मन रंजन रंजित अंजन,
नैन सुखंजन-जातक-से ।
सजनी ससि में समसील उभै,
नवनील सरोरुह-से विकसे ।।

तुलसी ने अपने काव्य में छन्द-रचना-शैली के अतिरिक्त प्रगीत-शैली को भी व्यापक स्तर पर प्रयुक्त किया है। इस दृष्टि से उनकी 'विनय-पत्रिका' में मुक्तक गेय पदों का उत्कृष्ट संकलन हुआ है। उन्होंने कोमल-कमनीय शब्दावली और ललित गति-बद्ध शैली द्वारा अपने गेय पदों में भावों के साथ-साथ कला का भी अपूर्व सामंजस्य उपस्थित किया है। उन्होंने अपने पदों को राग-बन्धन में आबद्ध करते हुए शान्त-रस-समन्वित भावनाओं को मनोरम अभिव्यक्ति प्रदान की है और उनके प्रगीत-काव्य में आत्माभिव्यक्ति का गुण पूर्ण रूप से व्याप्त रहा है। यथा :—

ऐसो को उदार जग माहीं ।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं ।।

तुलसी ने अपनी भावनाओं को सहज अभिव्यक्ति प्रदान करने के साथ-साथ समास शैली का आधार ग्रहण करते हुए उन्हें समष्टिगत रीति से जटिल अभिव्यक्ति भी प्रदान की है। इस प्रकार के पदों में प्राय: ईश्वरीय महत्व का वर्णनात्मक आख्यान किया गया है। उदाहरणार्थ 'विनय-पत्रिका' की निम्नलिखित राम-विषयक पंक्तियाँ देखिए :—

संत-संतापहर बिस्व-बिस्रामकर,
राम कामारि-अभिरामकारी ।
सुद्धबोधायतन, सच्चिदानन्दघन,
सज्जनानन्द-वर्द्धन खरारी ।।

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त तुलसी ने अपनी रचनाओं में यथास्थान संलाप शैली, सम्बोधन शैली और उद्‌बोधन शैली का भी प्रयोग किया है। 'रामचरित-मानस' में विभिन्न पात्रों के पारस्परिक सम्वादों की योजना उन्होंने इसी संलाप शैली के अन्तर्गत की है। सम्बोधन शैली के अन्तर्गत उन्होंने किसी एक पात्र द्वारा दूसरे को सम्बोधित कराकर मार्मिक वचनों की अभिव्यक्ति कराई है। उद्‌बोधन शैली के दर्शन मुख्य रूप से 'विनय-पत्रिका' के विनय सम्बन्धी पदों में होते हैं तथापि कवि ने अपनी अन्य

रचनाओं में भी इसे स्थान प्रदान किया है।

अलंकार-प्रयोग

महाकवि तुलसीदास ने अपने काव्य में भाव, रूप, गुण एवं क्रिया आदि के उत्कर्ष-साधन के लिए अलंकारों का उचित प्रयोग किया है और कृत्रिम प्रयास द्वारा अलंकार-योजना की प्रवृत्ति का सदैव विरोध किया है। उन्होंने अलंकारों द्वारा सौन्दर्य-विस्तार करते समय प्राय: सभी अलंकारों को स्वीकार किया है और अर्थालंकारों के प्रयोग पर विशेष बल देते हुए उनके द्वारा भावनाओं को एक विशिष्ट गति प्रदान करने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से उन्होंने उपमा, रूपक, प्रतीप, व्यतिरेक, निदर्शना और अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि विभिन्न अलंकारों का नितान्त सफल प्रयोग किया है। उनके काव्य में अलंकारों की कृत्रिम योजना के दर्शन 'विनय-पत्रिका' में केवल दो-तीन स्थानों पर होते हैं अन्यथा उन्होंने सर्वत्र अलंकार-प्रयोग द्वारा अपनी काव्य-श्री की अभिवृद्धि की है। उदाहरणार्थ उत्प्रेक्षा अलंकार का निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—

लता भवन तें प्रकट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु, जलद-पटल बिलगाइ॥

छन्द-योजना

तुलसी ने अपने काव्य की रचना करते समय एक ओर तो छन्द-शैली को ग्रहण किया है और दूसरी ओर गेय-पद-शैली का प्रयोग किया है। छन्द-योजना करते समय उन्होंने गीत-नियोजन और चरणान्त में तुक-पालन के नियमों पर विशेष ध्यान दिया है और आन्तरिक तुक-साम्य की योजना द्वारा कुछ छन्दों में विशेष प्रवाह का विधान किया है। छन्द-रचना करते समय अपने पूर्ववर्ती काव्य से प्रेरणा ग्रहण करते हुए उन्होंने वीर-गाथाकालीन कवियों की छप्पय-पद्धति, जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति और गंग कवि की सवैया-पद्धति को विशेष रूप से स्वीकार किया है। यद्यपि यह सत्य है कि कहीं-कहीं उन्होंने अल्पमात्रिक दोहों और अत्याधिक वर्ण वाले सवैयों की भी रचना की है, तथापि समष्टि रूप में उनके काव्य में घनाक्षरी, छप्पय, झूलना, दोहा, सोरठा और चौपाई आदि विभिन्न छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के काव्य के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में कला-वैभव का उपयुक्त संयोजन किया है। तथापि यह विचारणीय है कि उन्होंने भावों की तुलनामें कला-नियोजन को सदैव द्वितीय स्थान प्रदान किया है और इस विषय में किसी विशेष आग्रह का प्रदर्शन नहीं किया है। वास्तव में यह उनकी श्रेष्ठ काव्य-प्रतिभा का ही फल है कि वह इतनी उत्तमता के साथ अपने काव्य को कलात्मक सौन्दर्य प्रदान कर सके हैं। इसी कारण कवि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने उनके विषय में कहा है :—

कविता करके तुलसी विलसे ।
कवि तालसी पा तुलसी की कला ॥

तुलसी का गीति-काव्य

संगीत से समाविष्ट होने पर काव्य में एक विशेष गति, प्रभाव तथा उज्ज्वलता का समावेश हो जाता है । अतः प्रत्येक भाषा के काव्य में कवियों ने गीति-काव्य-रचना के प्रति रुचि प्रदर्शित की है । गीति-काव्य की रचना के लिए निम्नलिखित तत्वों की आवश्यकता होती है :—

(१) स्थूल तत्व :—

गीति-काव्य की रचना करते समय संगीत के विशिष्ट आरोह, स्वर-ताल और राग-रागिनियों के संयोजन की अत्यन्त आवश्यकता होती है । उसमें कोमल-कान्त-पदावली, स्वर-तारतम्य और नाद-सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है । यद्यपि ये सभी तत्व काव्य की बाह्य शोभा का विधान करने के कारण गौण हैं, तथापि इनकी उपेक्षा किसी भी अवस्था में नहीं की जा सकती ।

(२) सूक्ष्म तत्व :—

गीति-काव्य में आत्म-कथन की संक्षिप्त प्रणाली को ग्रहण करना चाहिए । उसमें सम्बद्ध व्यक्ति अथवा विषय की मूल स्थिति का स्पष्ट कथन होना चाहिए और उसमें प्रतिपादित भावों को सर्वत्र एकरूप रहना चाहिए । अनुभूति की गम्भीरता और तीव्रता द्वारा गीति-काव्य की अभिव्यक्ति में भी स्वाभाविक सौन्दर्य और माधुर्य का आयोजन करना आवश्यक है । महाकवि तुलसीदास से पूर्व हिन्दी में विद्यापति, कबीर और सूर ने पर्याप्त गीति-काव्य की रचना की थी, तथापि राम-भक्ति को गेय पदों में उपस्थित करने का श्रेय तुलसी को ही है । इसी प्रकार दास्य भावना को भी सर्वप्रथम तुलसी ने ही गीतात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है ।

महाकवि तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका' में अपने गेय पदों की पर्याप्त रचना की है । वह संगीत-कला के मर्मज्ञ थे और उन्होंने गीति-काव्य के स्थूल तत्वों का अत्यन्त श्रेष्ठ आधार पर नियोजन किया है । उन्होंने अपने गेय पदों की रचना राग-रागिनियों के माध्यम से की है और स्वर-ताल का सामंजस्य स्थापित रखने का पूर्ण ध्यान रखा है । अपने भावों को राग के बंधन में आबद्ध करते समय उन्होंने भाव-सृष्टि को राग के अनुरूप ही उपस्थित करने का प्रयास किया है । इससे यह स्पष्ट है कि संगीत-शास्त्र में उनकी सूक्ष्म गति थी ।

गीति-काव्य की सफल रचना के लिए उसमें शब्द-चयन-विषयक दक्षता की विशेष अपेक्षा होती है । उसमें केवल उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए जो माधुर्य गुण तथा प्रसाद गुण के अनुकूल हों । कर्ण-कटु वर्णों के प्रयोग से गीति-काव्य के सौन्दर्य को क्षति पहुँचती है और उसकी गति में अवरोध उपस्थित हो जाता है । इस तथ्य से अवगत होने के कारण तुलसी ने शब्द-प्रयोग की दृष्टि से अपने गीति-काव्य में

संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। इस कारण उनके पदों में गीति-तत्व का विशेष विकास उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ उनकी निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखिए :—

श्री रामचन्द्र कृपालु भज मन,
हरन भव भय दारुनं ।
नव कंज लोचन कंज मुख,
कर कंज पद कंजारुनं ।।

इसी प्रकार उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में सम्बोधन शैली, स्तुति शैली और उद्‌बोधन शैली के प्रयोग द्वारा अपने गीति-काव्य को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है शैली-प्रयोग में वैविध्य का ध्यान रखना आवश्यक है। संक्षिप्त पद-रचना-प्रणाली से युक्त होने के कारण गीति-काव्य में किसी एक ही शैली के आधार पर भाव-वर्णन नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से उसमें एकरसता का दोष आ जाता है और विभिन्न पदों का अध्ययन करने पर भी पाठक को साधारणत: पूर्ण काव्यानन्द की प्राप्ति नहीं हो पाती। यद्यपि इसके अपवाद-स्वरूप भक्त जन तुलसी के काव्य में शैली-वैविध्य के न होने पर भी आराध्य की भक्ति को मूल महत्व प्रदान करते हुए आनन्द-लाभ कर सकते हैं, किन्तु काव्य के क्षेत्र में इस प्रकार की एकांगिता निषिद्ध है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह शैली-भेद तर्क-सम्मत है। अत: कवि द्वारा वर्ण्य के अनु-सार शैली-परिवर्तन की प्रणाली को अपनाना सर्वथा उपयुक्त है।

यद्यपि यह सत्य है कि 'विनय-पत्रिका' के कुछ पदों में पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से यति-भंग दोष की स्थिति रही है, तथापि तुलसी का उद्देश्य 'विनय-पत्रिका' को छन्दोबद्ध रचना के रूप में उपस्थित करना नहीं था। वह उसे संगीत की दृष्टि से प्रवाहपूर्ण रूप में उपस्थित करना चाहते थे और इस दिशा में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। यही कारण है कि यति-भंग दोष से युक्त पदों में गायन के समय गति-तत्व की दृष्टि से कोई अभाव प्रतीत नहीं होता।

शुक्ल जी ने तुलसी के काव्य में लोक-पक्ष की अधिकता का प्रतिपादन करते हुए उसमें वैयक्तिकता के समावेश के लिए अल्प स्थान माना है। इस कारण वह तुलसी के काव्य में प्रगीतात्मकता की अधिकता नहीं मानते, किन्तु वास्तव में तुलसी ने लोक-मर्यादा के रक्षण के साथ-साथ अपने काव्य में निजीपन का भी समावेश किया है और उनके गेय पदों में हमें आत्म-कथन की प्रणाली प्राप्त होती है। यथा :—

अब लौं नसानी अब ना नसैहौं ।
राम कृपा भवनिसा सिरानी, जागे फिर न डसैहौं ।।
पाया नाम चारु चिन्तामनि, उर-कर ते न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं ।
मन-मधुकर पन करि तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।

गीति-काव्य में प्रभाव की तीव्रता के लिए मार्मिक भावनाओं की संक्षिप्त अभिव्यक्ति को मुख्य स्थान प्रदान किया जाता है। कविवर तुलसी ने अपने पदों को प्रायः संक्षिप्त ही रखा है, तथापि उनके कुछ पदों में वर्णनात्मकता के कारण अति-विस्तार की प्रवृत्ति का भी समावेश हो गया है। वैसे उनके काव्य में प्रगीत-काव्य का स्वाभाविक स्वरूप उपलब्ध होता है और उन्होंने भक्त के हृदय के शुद्ध रूप का श्रेष्ठ उद्भावन किया है। 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भ में ही "गाइये गनपति जग बन्दन" कहकर उन्होंने संगीत-रुचि और भक्त के उल्लास का उत्कृष्ट परिचय दिया है। तुलसी ने अपने गीति-काव्य की रचना करते समय राम-भक्ति को मूल वर्ण्य विषय बनाया है। उन्होंने राम के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए सूर के समान अपने इष्टदेव के महत्व का गान किया है। राम-भक्ति के अतिरिक्त उन्होंने गणेश, शिव, हनुमान और गंगा आदि अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी अपनी भक्ति-भावना को गेय रूप में उपस्थित किया है तथा अन्त में इन सभी से राम-भक्ति के वरदान की याचना की है। उन्होंने 'विनय-पत्रिका' में अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों को भी गेय पदों के रूप में सरल अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसी प्रकार उन्होंने विविध पौराणिक प्रसिद्धियों का आधार ग्रहण कर अपने काव्य में दास्य भावना को स्पष्ट करने के लिए यथास्थान पौराणिक संकेत भी उपस्थित किये हैं। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

मन पछितैहै अवसर बीते !
दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु,
करम, बचन अरु ही ते ।
सहस बाहु दस बदन आदि नृप,
बचे न काल बली ते ॥

तुलसी ने अपने गीति-काव्य में शान्त रस की अभिव्यक्ति को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। उन्होंने अनुभूति और भावना के तीव्र संयोजन द्वारा अपने गीति-काव्य को पूर्णतः समृद्ध रखा है। इस दृष्टि से उन्होंने आत्मा को उद्बोधन प्रदान करने वाले अनेक भक्तिपूर्ण पदों की रचना की है। भक्त होने के कारण उनके गेय काव्य में दैन्य, आत्मसमर्पण, आशा, उत्साह, अनुताप और आत्म-ग्लानि आदि विविध भावों का भी रमणीय संयोजन हुआ है। उन्होंने नवधा भक्ति के दास्य भक्ति वाले पक्ष को ग्रहण करते हुए 'विनय-पत्रिका' में उसको नितान्त प्रौढ़ रूप में उपस्थित किया है। उनके दास्य भक्ति-सम्बन्धी गेय पदों में सेवक-सेव्य भाव की मार्मिक स्थिति रही है। साथ ही उन्होंने इन पदों में अपने दैन्य का भी स्पष्ट उद्घाटन किया है। आगे हम क्रमशः इन दोनों के उदाहरण उपस्थित करते हैं :—

(१) **सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो !**
हरि पद बिमुख लह्यो न काहु सुख,
सठ ! यह समुझ सबेरो ॥

(२) **तू दयाल, दीन हौं, तू दानी, हौं भिखारी।**

तुलसी के गीति-काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके पदों में आत्मा की निश्छल अभिव्यक्ति और शान्त रस की पूर्ण प्रतिपत्ति का उत्कृष्ट ध्यान रखा गया है। उन्होंने अपने पदों में प्रगीत-काव्य के विभिन्न तत्वों का सुन्दर समाहार उपस्थित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने सूर के समान गेय पदों की विस्तृत रचना नहीं की है, तथापि हिन्दी में गीति-काव्य की रचना करने वाले कवियों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने पदों की रचना केवल साहित्य-प्रेमियों के लिए ही नहीं की है, अपितु उनमें भक्तों को भक्ति की प्रेरणा प्रदान करने का भी पूर्ण ध्यान रखा है। अतः यह स्पष्ट है कि संगीत के माध्यम से भक्ति का आन्तरिक स्पर्श करने का प्रयत्न करने वालों के लिए तुलसी के गेय पदों का अपार महत्व है। इन पदों में सर्वत्र एक ऐसे अमिट प्रभाव का समावेश हुआ है जो पाठक को बारम्बार अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

: १० :

बिहारी और उनका काव्य

जीवन-वृत्त

हिन्दी की रीति-मार्गी काव्य-धारा के प्रमुख स्रष्टा कवि बिहारीलाल का जन्म अनुमानतः संवत् १६६० के लगभग ग्वालियर राज्य में हुआ था। हिन्दू जाति की वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार उनके पिता श्रीयुत केशवराय का सम्बन्ध माथुर ब्राह्मणों की कुल-परम्परा से था। पारिवारिक दृष्टि से उन्हें माता-पिता की सहज स्नेह-छाया के अतिरिक्त एक भ्राता और एक भगिनी का उल्लासप्रद क्रीड़ा-साहचर्य भी प्राप्त था। फिर भी भाग्य के प्रतिकूल होने के कारण उन्हें अपनी बाल्यावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में ही मातृ-वियोग के दुस्सह भार को विवश भाव से स्वीकार करना पड़ा। पत्नी से वियुक्त होने पर उनके पिता अपने चिर-परिचित समाज में अ.र अधिक समय तक शान्तिपूर्वक न रह सके तथा वह शीघ्र ही ग्वालियर राज्य का परित्याग कर ओड़छे चले गए। उस समय बिहारीलाल जी की आयु लगभग आठ वर्ष की थी।

ओड़छे के समीप प्रवाहित होने वाली दसान नदी के तट पर गुढ़ौ नामक ग्राम में महात्मा नरहरिदास का आश्रम था। उनके धर्म-भाव और असाधारण प्रतिभा की चर्चा सुनकर श्रीयुत केशवराय ने श्रद्धा के वशीभूत हो उनका शिष्यत्व प्राप्त कर लिया। इसके फलस्वरूप बिहारी भी स्वभावतः उनके आश्रम में विद्याभ्यास करने लगे और यथासमय उन्होंने संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के काव्य-ग्रन्थों का उत्कृष्ट परिचय प्राप्त कर लिया। ओड़छा-निवास के समय ही उनका परिचय उक्त प्रदेश के तत्कालीन शासक महाराज इन्द्रजीतसिंह के प्रसिद्ध आश्रित कवि केशवदास से हो गया। उनके परामर्श के अनुकूल अध्ययन-मनन करने से बिहारी के अन्तस् में शीघ्र ही काव्य के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गई और वह शनैः शनैः भविष्य में रस-सिद्ध कवीश्वर बनने की दिशा में अग्रसर होने लगे।

ओड़छे में कुछ वर्ष तक रहने के पश्चात् श्रीयुत केशवराय वृन्दावन की ओर चले गए। ब्रज-प्रदेश की सुरम्य प्राकृतिक स्थली में बिहारी का कवि-हृदय और भी अधिक आकर्षण तथा रस का अनुभव करने लगा। इसी समय उनका विवाह मथुरा के एक प्रतिष्ठित माथुर ब्राह्मण की कन्या से सम्पन्न हो गया। विवाह के उपरान्त परिस्थितियों से प्रेरित होकर वह श्वसुरालय में ही निवास करने लगे। इस प्रकार यौवनागम तक उनका जीवन-विकास तीन खण्डों में विभाजित रहा अर्थात् ग्वालियर में जन्म ग्रहण करके उन्होंने ओड़छे में अपनी बाल्यावस्था व्यतीत की और पुनः विवाहोपरान्त मथुरा में

निवास करने लगे। इस कथन की पुष्टि के लिए हम निम्नलिखित जन-प्रचलित छन्द को उद्धृत कर सकते हैं :—

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुँदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

कविवर बिहारी के विवाह के कुछ समय उपरान्त महात्मा नरहरिदास भी वृन्दावन आ गए। सम्वत् १६७५ के लगभग अपनी भ्रमण-यात्रा में जब शाहजादा शाहजहाँ वृन्दावन गए, तब उन्होंने महात्मा जी के दर्शन किये। उस अवसर पर महात्मा जी ने अपने शिष्य बिहारी का शाहजहाँ से परिचय कराया। उनका विलक्षण काव्य-कौशल देखकर शाहजहाँ ने उन्हें आगरा आने के लिए निमन्त्रित किया। इस निमन्त्रण को स्वीकार कर बिहारी आगरा गए और वहाँ रहकर उन्होंने उर्दू तथा फारसी भाषाओं के अध्ययन द्वारा अपनी साहित्य-रुचि का और भी परिमार्जन किया।

इसी समय बिहारी को हिन्दी के प्रसिद्ध मुसलमान कवि अब्दुर्रहीम खानखाना से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। कविवर रहीम की प्रतिभा पर मुग्ध होकर उन्होंने उनकी स्तुति में कुछ दोहों की रचना की। जनश्रुति के अनुसार इन दोहों में निहित काव्य-शक्ति से प्रभावित होकर रहीम ने उन्हें मुक्त हृदय से पुरस्कृत किया था और इस प्रकार राज्य-दरबार के कलाकारों में उनका सम्मान बढ़ गया था। अस्तु, इतना निर्विवाद है कि अपने आगरा-वास के समय बिहारी को अपनी प्रतिभा के विस्तार का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ था और मुगल-शासन का आधिपत्य स्वीकार करने वाले विभिन्न नरेश भी शनैः शनैः उनके काव्य-कौशल के परिचय में आ रहे थे।

आगरा-वास के लगभग तीन वर्ष पश्चात् बिहारी को भाग्य-दोष से शाहज़ादा शाहजहाँ के आश्रय से पृथक् हो जाना पड़ा। इसका कारण यह था कि शाहजहाँ का अपने पिता जहाँगीर से किसी विशेष वार्ता पर विवाद हो गया और फलस्वरूप वे दोनों पृथक्-पृथक् रहने लगे। इस पारिवारिक कलह को अशुभ मानकर बिहारी ने आगरा का परित्याग कर दिया और शान्त चित्त से एकान्त साहित्य-चिन्तन करने लगे। आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्त रहने के लिए उन्होंने कुछ नरेशों से वार्षिक वृत्तियाँ निर्धारित कर लीं। सम्वत् १६९२ के लगभग कविवर बिहारी आमेर राज्य की ओर गये। उस समय वहाँ महाराज जयसिंह का शासन था, किन्तु राज्य-कार्य की अपेक्षा वह अपना अधिकांश समय नवविवाहिता पत्नी के साथ आमोद-प्रमोद करने में व्यतीत करते थे। इस प्रकार राज्य का सम्पूर्ण प्रबन्ध विकार-ग्रस्त हो रहा था और सर्वत्र अव्यवस्था फैल रही थी। बिहारी का कवि-हृदय महाराज की इस कर्तव्य-उपेक्षा को सहन न कर सका और उन्होंने उन्हें सचेत करने के लिए तत्काल निम्नलिखित अन्योक्ति की रचना की :—

नहिं परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल।
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३८)

जब महाराज जयसिंह ने इस दोहे को पढ़ा तब वह कवि की प्रच्छन्न प्रबोधन-शक्ति से विशेष प्रभावित हुए और पत्नी के प्रति अपनी असामान्य आसक्ति पर लज्जा का अनुभव करते हुए कर्तव्य-प्रेरित होकर तुरन्त राज्य-सभा में चले गये। उन्होंने बिहारी से आमेर-वास करने का अनुरोध किया और उन्हें उक्त प्रभाव मे सन्निविष्ट प्रत्येक छन्द की रचना पर पुरस्कार-स्वरूप एक मोहर देने का वचन दिया। उनके आदर-सत्कार के आश्वस्त होकर कविवर बिहारी ने भी आमेर शासन के सम्मान्य सदस्य के रूप में रहना स्वीकार कर लिया और राजकवि के रूप में प्रतिष्ठित होकर काव्य-रचना करने लगे। इस प्रकार महाराज जयसिंह के आश्रय में रहकर ही उन्होंने अपने लोक-विश्रुत काव्य 'बिहारी-सतसई' का प्रणयन किया। इस काव्य के अध्ययन से उनकी रसिक मनोवृत्ति और आनन्दमयी प्रवृत्ति का स्पष्ट परिचय उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार दीर्घ अवधि तक सरस काव्य-रचना द्वारा जन-अनुरंजन करने के उपरान्त सम्वत् १७२० के लगभग उनकी मृत्यु हो गई।

बिहारी-सतसई

महाकवि बिहारी के प्रसिद्ध सतसई-काव्य का प्रणयन अनुमानतः सम्वत् १६९२ और १७०४ के मध्यवर्ती काल में हुआ था। इस ग्रन्थ की रचना पूर्णतः आमेर-नरेश श्रीयुत जयसिंह के संरक्षण में हुई थी और इसके इतिवृत्त का संयोजन करते समय कवि ने अपने चिर-आराध्य-युगल राधा-कृष्ण के स्मरण-भाव को पृष्ठभूमि में रखकर साहित्य के अध्येताओं को मार्मिक सामग्री प्रदान करने के लिए विविध रस-दशाओं का सौन्दर्यमूलक संयोजन किया था। अपने कथन की पुष्टि के लिए हम स्वयं कवि के निम्नलिखित अन्तर्साक्ष्य को सहज ही उद्धृत कर सकते हैं :—

हुकुमु पाइ जयसाहि कौ, हरि राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ७१३)

बिहारी का साहित्य-प्रणयन-काल कम से कम २५ वर्ष का अवश्य था। इतनी दीर्घ अवधि में उन्होंने केवल एक सप्तशती की ही रचना की, इस पर सहसा विश्वास नहीं होता। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि वर्तमान काल से पूर्व की उसकी अधिकांश महत्वपूर्ण कृतियाँ असमय में ही विलुप्त हो गईं और हमारे समक्ष केवल यही विकल्प रह गया कि या तो हम अपने रस-सिद्ध कवीश्वरों की लुप्त अथवा खंडित प्रतियों की अनुमान तथा तर्क के आधार पर पूर्ति कर लें अथवा उन्हें अपने स्मृति-पटल से शनैः शनैः विलीन हो जाने दें। इनमें से द्वितीय विकल्प सर्वथा अव्यवहार्य है, क्योंकि कोई भी साहित्य अपने अंग का केवल उसमें समाविष्ट प्रक्षिप्त अंश के आधार पर ही परित्याग नहीं कर सकता। यही कारण है कि विविध प्रक्षेपों से युक्त होने पर भी हमने अपने वीरगाथाकालीन काव्य को निधि के रूप में सुरक्षित रखा है। अतः बिहारी की काव्य-प्रतिभा का मूल्यांकन करते समय भी हमें प्रथम विकल्प का ही आश्रय लेना होगा।

यद्यपि यह सत्य है कि 'बिहारी-सतसई' के अतिरिक्त उनकी कोई अन्य कृति आज हमें सहज-उपलब्ध नहीं है, तथापि उनकी यह रचना ही अपने आप में इतनी सशक्त है कि इसके आधार पर हम कवि को बिना किसी आयास के रीतिकालीन शृंगार-कवियों में शीर्ष स्थान पर अभिषिक्त कर सकते हैं। न केवल कवि-जगत् में ही, अपितु तत्कालीन और परकालीन साधारण समाज में भी इस काव्य का अपनी मार्मिकता के आधार पर व्यापक प्रचार हुआ। निम्नोद्धृत अनुश्रुति हमारे उपर्युक्त कथन की सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत कौं छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

'बिहारी-सतसई' दोहा-छन्द में प्रणीत एक मुक्तक रचना है और यही कारण है कि आज उसकी रचना के इतने समय उपरान्त हम उसमें समाविष्ट छन्दों के पूर्वापर सम्बन्ध अथवा अनुक्रम के विषय में निश्चय पूर्वक कुछ भी कह सकने में असमर्थ हैं। ब्रजभाषा के अनन्य काव्य-मर्मज्ञ श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने कवि के भाव-विषयक विकास का सम्यक् अध्ययन करने के लिए कुछ वर्ष पूर्व दोहों का रचना-क्रम निश्चय करने करने का संकल्प किया था और तदनुसार उस समय उपलब्ध होने वाली सभी मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'बिहारी-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ का आयोजन कर कवि के दोहों का एक निश्चित क्रम-बन्धन कर दिया था। इस विशेष अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्होंने प्रस्तुत काव्य की रचना के मूल में निहित एक विशिष्ट प्रवृत्ति को लक्षित कर निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया :—

"यद्यपि बिहारी ने सतसई में दोहों का पूर्वापर क्रम तो वही रहने दिया, जिस क्रम से उनकी रचना हुई थी, तथापि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, प्राचीन पुस्तकों के देखने से भासित होता है कि उनके हृदय में इतना क्रम स्थापित करने की अभिलाषा अवश्य थी कि प्रति दस-दस अथवा बीस-बीस दोहों के पश्चात् एक भगवत्-सम्बंधी अथवा नीति-विषयक दोहा रहे।" —(बिहारी-रत्नाकर, प्राक्कथन, पृष्ठ १०)

मुद्रण की सुविधा के अभाव में प्रायः हिन्दी-साहित्य की सभी प्राचीन कृतियाँ प्रक्षिप्त अंशों मे समाविष्ट हैं। प्राप्त साहित्य के अवलोकन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रक्षेप-मिश्रण प्रबन्ध-कृतियों की अपेक्षा मुक्तक रचनाओं के क्षेत्र में अधिक सरलतापूर्वक प्रचलित रहा है। दोहे के समान संक्षिप्त अथवा सीमित इतिवृत्त वाले छन्द में रचित काव्य के लिए इस दशा में सर्वथा शुद्ध रह जाना आश्चर्य की ही घटना होती। अतः यदि हमें 'बिहारी-सतसई' में भी कतिपय प्रक्षिप्त छन्द दृष्टिगत होते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में हमें सामान्यतः किसी भी प्रकार की आपत्ति न होनी चाहिए। इस प्रकार के छन्द भाषा और भाव, दोनों ही की दृष्टि से बिहारी की काव्य प्रणाली से अपने पार्थक्य की स्पष्ट सूचना देते हैं। 'बिहारी-रत्नाकर' के द्वितीय उप-स्करण में १४३ दोहों की तथा श्रीयुत विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के 'बिहारी' नामक ग्रन्थ के अन्त में दी गई १४० दोहों की सूची बिहारी के काव्य से इन्हीं प्रक्षिप्त छन्दों को पृथक् करती है।

परवर्ती कवियों द्वारा सम्मिश्रित स्वरचित छन्दों के अतिरिक्त 'बिहारी-सतसई' में पाठ-भेद की समस्या भी अपने उग्र रूप में वर्तमान है। प्राचीन काल में हस्तलिखित पुस्तकों की प्रतिलिपि प्रस्तुत करते समय प्रायः असावधानी के कारण प्रतिलिपिकर्ता मात्राओं के कवि-सम्मत स्थान में परिवर्तन कर बैठते थे और इस प्रकार शुद्ध पाठ के साथ-साथ भिन्न पाठ भी जनता में सहज-प्रचलित हो जाते थे। शृंगार रस से सम्बद्ध विभिन्न स्थितियों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति उपस्थित करने के कारण 'बिहारी-सतसई' अपने रचना-काल से ही रसिक मनोवृत्ति के व्यक्तियों को परितोष प्रदान करती आई है। इस कारण इस काव्य की प्रतिलिपियाँ भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा प्रभूत मात्रा में प्रस्तुत की गई। अनुसन्धान के विद्यार्थी के लिए स्पष्ट ही इनमें से प्राचीन प्रतियों का अधिक मूल्य है, किन्तु उनमें प्राप्त होने वाले विविध पाठान्तर उसे एकबारगी ही चिन्तामग्न कर देते हैं। हर्ष का विषय है कि श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा के व्याकरण, शब्दों के तत्कालीन प्रचलित रूपों तथा बिहारी द्वारा अधिकतम मात्रा में व्यवहृत शब्दों के आधार पर प्रस्तुत कृति की सावधानीपूर्वक पाठ-शुद्धि कर दी है ओर विद्वानों ने उनके द्वारा निर्धारित पाठ को ही सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है।

'बिहारी-सतसई' का महत्व एक इसी तथ्य मे प्रमाणित हो जाता है कि अद्यावधि भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी रुचि और मति के अनुसार उस पर विविध टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। इसके साथ ही इतर भारतीय भाषाओं के मर्मज्ञों ने भी कवि के कौशल पर मुग्ध होकर अपनी भाषाओं में उसका रूपान्तर किया है। उक्त 'सतसई' के इतने व्यापक महत्व का मूलभूत कारण यह है कि उसके लेखक ने उसके द्वारा संस्कृत के 'आर्या-सप्तशती' और 'अमरुक शतक', प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' नामक काव्य और अपभ्रंश के विस्तीर्ण दोहा-काव्य की शृंगार-परम्परा को पूर्णरूपेण सुरक्षित रखा है। इस प्रकार इन भाषाओं के साहित्य-रस का आस्वादन करने में असमर्थ अध्येता को भी हिन्दी-भाषा में विरचित 'बिहारी-सतसई' के अध्ययन द्वारा पर्याप्त आनन्द की उपलब्धि हो जाती है और उसे किसी भी प्रकार के अभाव की प्रतीति नहीं होती।

'बिहारी-सतसई' के अर्थ-सौन्दर्य को स्पष्ट करने के उद्देश्य से रचित विभिन्न टीकाओं का रचना-काल सम्वत् १७१९ और १९८३ का मध्यवर्ती भाग रहा है और इन दोनों सम्वत् छोरों पर हमें कृष्णलाल कवि-कृत टीका आदि-रूप में और विद्वद्वर श्रीयुत जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की 'बिहारी-रत्नाकर' नाम्नी टीका अन्तिम रूप में उपलब्ध होती है। यह सत्य है कि 'रत्नाकर' जी की टीका के अनन्तर भी उक्त काव्य की अनेक टीकाएँ प्रस्तुत की गई हैं, किन्तु व्यापक अध्ययन और मार्मिक अनुसन्धान की दृष्टि से तुलना करने पर वे सब नगण्य ही ठहरती हैं। अस्तु, इस टीका-प्रणयन-काल में उक्त काव्य पर जहाँ साधारण अर्थ-बोधिनी टीकायें दृष्टिगत हुई, वहाँ अनेक गम्भीर-तत्व-निरूपिणी कृतियाँ भी प्रकाश में आई। प्रथम कोटि के अन्तर्गत आने वाली पुस्तकों में काल-क्रमानुसार विरचित ईसवी खाँ की 'रस-चन्द्रिका', ठाकुर कवि की 'सतसैया-वर्णनार्थ टीका', कवि लल्लूलाल की 'लाल-चंद्रिका' और ला० भगवानदीन की 'बिहारी-

बोधिनी' का विशेष महत्व है। इन सभी में प्रस्तुत काव्य के प्रत्येक छन्द का स्वच्छ और विस्तृत अर्थ निरूपित किया गया है। द्वितीय कोटि की टीकाओं में उक्त कृति-विषयक अर्थ-निरूपण के साथ-साथ सम्यक् रीति से काव्यांग-निर्णय पर भी यथेष्ट बल दिया गया है और तुलनात्मक आलोचना-पद्धति द्वारा आवश्यक स्थलों के सौन्दर्य को और भी अधिक स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार की रचनाओं में कविवर शुभकरण तथा कमल-नयन की सम्मिलित कृति 'अनवर-चन्द्रिका', कर्ण कवि की 'साहित्य-चन्द्रिका', सूरति मिश्र की 'अमर-चन्द्रिका', पं० पद्मसिंह शर्मा कृत 'संजीवनी भाष्य' और कवि श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' कृत 'बिहारी-रत्नाकर' विशेष उल्लेख्य हैं।

आधुनिक युग से पूर्व हिन्दी में पद्य-साहित्य का ही प्राधान्य था और उसके गद्य-भाग के अल्प दर्शन होते थे। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप हमें कृष्ण कवि, श्रीयुत जानकीप्रसाद और ईश्वर कवि के उन प्रयासों का साक्षात् होता है जिनके अनुसार उन्होंने 'बिहारी-सतसई' के दोहों की कवित्त-सवैयों के रूप में स्वतन्त्र टीकायें प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार श्रीयुत पठान सुल्तान, नवाब जुल्फिकार अली, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबा सुमेरसिंह और कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि महानुभावों ने उक्त कृतियों के दोहों का कुण्डलिया छन्द में सुष्ठु भाव-विस्तार किया है। काव्य-ग्रन्थ की काव्य-प्रणाली द्वारा ही व्याख्या करने के ये उभय प्रयास अपने आप में रम्य और आकर्षक होने के साथ-साथ रसपूर्ण भी हैं तथा सम्बद्ध व्याख्याकारों की उपर्युक्त भावना निश्चय ही स्तुत्य है।

हिन्दी-भाषा के अतिरिक्त 'बिहारी-सतसई' को अन्यत्र भी व्यापक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इतर भारतीय भाषाओं में उक्त काव्य की गुजराती में कविवर सविता-नारायण कृत 'भावार्थ-प्रकाशिका' टीका भी पर्याप्त सुन्दर बन पड़ी है। इसी प्रकार कतिपय विदेशी भाषाओं के विद्वानों ने भी उसके प्रति आकर्षण का अनुभव किया है। उदाहरणार्थ आंगल भाषा के विश्रुत मर्मज्ञ डा० ग्रियर्सन ने 'लाल-चन्द्रिका' के सम्पादनो-परान्त उसके प्रारम्भ में इसी भाव से एक विस्तीर्ण भूमिका लिखी है और जोशी आनन्दी लाल शर्मा ने 'सफरंगे सतसई' शीर्षक से उसकी फारसी भाषा में टीका की है। यद्यपि यह सत्य है कि गुजराती और फारसी में उपलब्ध होने वाली उक्त दोनों टीकाओं में भाषा के अपूर्ण परिचय के कारण कतिपय गम्भीर दोष रह गये हैं, तथापि हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के लिए इस प्रकार के साहित्यिक प्रदान अथवा आदान की आज नितान्त आवश्यकता है।

टीका-कार्य के अतिरिक्त 'बिहारी-सतसई' का हिन्दीतर भाषाओं में रूपान्तर भी हुआ है। इस दिशा में संस्कृत और उर्दू भाषाओं के क्षेत्र में विशेष कार्य हुआ है। संस्कृत रूपान्तरों में श्री परमानन्द भट्ट की 'शृंगार सप्तशती' तथा श्री हरिप्रसाद की 'आर्यागुंफ' नामक कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त फुटकर रूप में भी कुछ अन्य संस्कृत-लेखकों ने रूपान्तर-कार्य किया है। उर्दू भाषा में श्रीयुत देवी-प्रसाद 'प्रीतम' ने 'गुलदस्तए बिहारी' 'शीर्षक से 'बिहारी-सतसई' का पद्यबद्ध रूपान्तर

किया है और वह अपने लक्ष्य में असाधारण रीति से सफल रहे हैं। आगे हम पाठकों के परिचयार्थ संस्कृत में रूपान्तरित दो दोहे उद्धृत करते हैं :—

(१) मूल पाठ :—

लहलहाति तन तरुनई, लचि लग लौं लफि जाइ।
लगैं लाँक लोइन-भरी, लोइनु लेति लगाइ ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ५३२)

रूपांतर :—

लसति वपुषि नवयौवनं हसति वलग्नमनेन ।
वशयति नयनमिदं यदा नमति मन्दगमनेन ॥

—(साहित्यवैभवम्, पृष्ठ १३६)

(२) मूल पाठ :—

अनियारे, दीरघ दृगनु, कितीं न तरुनि समान ।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ५८८)

रूपांतर :—

निशितविशालविलोचनाः कति न हि ललनाः सन्ति ।
अन्यास्तास्तव दृष्टयो याः सुधियो वशयन्ति ॥

—(साहित्यवैभवम्, पृष्ठ १४०)

रस-योजना

रीति काल की प्रचलित शृंगार-पद्धति को गहन अन्तर्दर्शन के आधार पर स्वच्छ और संस्कार-प्रेरित रूप में उपस्थित करने के प्रयास के कारण कविवर बिहारी की 'सतसई' का हिन्दी के काव्य-साहित्य में अनुपम स्थान है। इसके कृतिकार ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा सरस भाव-योजना द्वारा इसमें अथ से इति तक जिन अद्वितीय सौन्दर्य-सूत्रों का विधान किया है वे अपने आप में नितान्त मनोरम तथा चेतना-प्रभावक हैं। यही कारण है कि इसके क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन मे अध्येता की सौन्दर्य-सजग अन्तर्वृत्तियों को शनैः शनैः मधुमय सिचन-पोषण की उपलब्धि होती है। वस्तुतः इस दिशा में कवि का प्रणयनकालीन लक्ष्य स्पष्ट रूप से यही रहा है कि वह अपने प्रशंसकों के समक्ष सौन्दर्य की यथार्थ प्रतिकृति उपस्थित करें और तद्विषयक अनुशीलन करने के उपरान्त हम देखते भी हैं कि कवि को अपने अभीष्ट की सम्पूर्ति में पर्याप्त सीमा तक सफलता प्राप्त हुई है। उनकी काव्य-कृति रस-तत्व की दृष्टि से घनीभूत होकर अध्येता की मनसा का मुक्त रूप से स्पर्श करती है और इस प्रकार उसमें सहृदय के अन्तस् को प्रभावित कर रसमग्न करने की रम्य क्षमता का सहज सन्निवेश हुआ है।

सौन्दर्य के प्रति निसर्ग रूप से आकृष्ट होने के कारण बिहारी के काव्य में उससे सम्बद्ध भावना का पूर्ण प्रतिफलन दृष्टिगत होता है। इसी सौन्दर्य-सत्य के प्रति दृढ़ मात्रा

में आस्थावान् रहने के कारण उन्होंने अपनी रचना में शृंगारेतर रसों को समाविष्ट करते हुए भी रतितत्वमूलक भाव-धारा को विशेष महत्व प्रदान किया है। वास्तव में शृंगार रस के मूल में जिस विशिष्ट माधुर्य गुण का सहज अन्तर्मिश्रण रहता है वह अन्य रसों में तिरस्कृत न होने पर भी प्रायः तुलनात्मक दृष्टिकोण से उतने निखरे हुए रूप में उपलब्ध नहीं होता और यही कारण है कि साहित्य के विधायकों ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और उसे मूर्धन्य पर अभिषिक्त करते हुए रस-राज की पदवी से विभूषित किया है। अपनी मधूर्मिल गति के कारण यह रस अध्येता की सौन्दर्यग्राही वृत्ति को निश्चय ही सर्वाधिक प्रभावित करता है और इसी गुण के फलस्वरूप इसे विश्व के प्रत्येक देश के साहित्य में शीर्ष स्थान उपलब्ध रहा है। हिन्दी के शृंगार-रस-प्रिय कवियों में महाकवि बिहारी का एक निश्चित स्थान है। उनके काव्य में उक्त रस की सौन्दर्य-धारा का जो अन्तर्प्रवाह दृष्टिगत होता है, वह अन्यत्र प्रायः दुर्लभ ही है।

प्रवृत्ति-भेद से आचार्यों ने शृंगार रस के संयोग और विप्रलम्भ के रूप में दो उप-विभाजन किये हैं। प्रथम पक्ष का सम्बन्ध स्पष्टतः उस अवस्था से है जब प्रेमी और प्रेमिका विशिष्ट समय और स्थान पर परस्पर अनुकूल हों और विरोध-शून्य होकर प्रेमबद्ध रहें। इसके विलोम रूप में द्वितीय पक्ष नायक-नायिका के पार्थक्य का सूचक है और उसके सम्पूर्ण इतिवृत्त का संयोजन उनकी वियुक्तावस्था की चेष्टाओं द्वारा होता है। बिहारी ने अपने काव्य में इन दोनों का ही सजग संयोजन किया है। उनकी सौन्दर्योन्मुख अन्तर्चेतना ने हिन्दी-काव्य की शृंगारपरक विचार-धारा को पर्याप्त मात्रा में विकास की ओर प्रेरित किया है। शृंगार-परिपाक की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का विश्लेषणात्मक अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि उसमें रीति युग की शृगार-चेतना ही सर्वोपरि रही है। भूषण, लाल और सूदन आदि कतिपय कवियों के अतिरिक्त उस युग के प्रायः सभी साहित्य-प्रणेताओं ने रति-भाव की सार्वभौम उपासना की है और उसे एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर किसी भी इतर विषय पर मौलिक चिन्तन उपस्थित नहीं किया है। इन काव्य-रसिकों में महाकवि बिहारी का अन्यतम स्थान है। अतः यदि हम उन्हें रीतिकालीन कवि-समुदाय में शृंगार रस के प्रतिनिधि कवि के रूप में स्वीकृत कर लें तो इसमें निश्चित रूप से कोई अत्युक्ति न होगी।

शृंगार रस के संयोग-पक्ष का रूप-संयोजन करते समय कविवर बिहारी ने रूप-चित्रण और अनुभाव-विधान की सम्यक् गति का आयोजन करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। सौन्दर्यवादी कवि होने के नाते उनके काव्य में मानवीय रूप-सुधा के प्रगतिशील चित्र अंकित करने के कार्य को मुख्य स्थान प्राप्त रहा है और उन्होंने नायिका के सौन्दय का सर्वांग विश्लेषण करने का रम्य-स्वच्छ प्रयास किया है। यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी-काव्य में नायक-नायिका के पारस्परिक व्यवहार से सम्बद्ध विज्ञान की सम्पूर्ण श्री मूलतः संस्कृत के विशाल साहित्य पर आधृत रही है और उसने समय-समय पर वहां से आवश्यक निर्देश ग्रहण किए हैं, तथापि बिहारी ने अपने काव्य में इस पक्ष

का विश्लेषण करते समय किसी भी पिष्ट पेषण का आश्रय नहीं लिया है। उनकी मौलिक चेतना इस प्रकार के परम्परा-प्राप्त काव्य-गुणों में कदापि आबद्ध नहीं रह सकती थी। यही कारण है कि उन्होंने अपनी नायिका की रूप-छवि का अंकन करते समय अन्यत्र से गृहीत उपकरणों को भी नवीन साज-सज्जा के साथ उपस्थित किया है।

रीति काल की इतर नायिकाओं की भाँति बिहारी की नायिका भी शारीरिक दृष्टिकोण से सौन्दर्य की यथार्थ प्रतिकृति उपस्थित करती है। उसके शरीर में स्वभावतः ही एक विशिष्ट स्वर्णिम प्रभास का सम्मिश्रण है और उसका प्रभाव अपने आप में इतना मनोरम है कि प्राकृतिक जगत् के विभिन्न पदार्थों का नैसर्गिक सौन्दर्य भी उसके समक्ष सहज ही फीका पड़ जाता है। यह प्रभाविका शक्ति अस्तित्व की दृष्टि से इतनी व्यापक है कि प्रायः नायिका से सम्पर्क-स्थापना होने पर विभिन्न स्राष्टिक इकाइयाँ अपने पूर्व गुण का परित्याग कर अन्तिम रूप से उसी की शरीर-छवि के प्रसरणशील तन्तुओं से परिवेष्टित हो जाती हैं। व्यक्ति की अन्तश्चेनना के बाह्य प्रतिफलन को एकीकृत कर देने वाले इस प्रकार के रम्य चित्र अध्येता की मनसा को अपनी ओर आकृष्ट कर सहज ही आनन्दमग्न कर देते हैं। यथा :—

(१) **हौं रीझी, लखि रीझिहौ, छबिहिं छबीले लाल।**
सोनजुही सी होति दुति-मिलत मालती माल॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ८)

(२) **पाइ महावरु दैंन कौं, नाइनि बैठी आइ।**
फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाइ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३५)

महाकवि बिहारी ने सौन्दर्य-तत्व के पूर्णतः मूलभूत रूप में दर्शन किये हैं और यही कारण है कि कल्पना-मिश्रित होने पर भी कुछ अतिवादी स्थलों को छोड़कर प्रायः उनकी नायिका का सौन्दर्य नैसर्गिक धरातल पर अवस्थित रहा है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए उन्होंने जन्मजात शारीरिक सुषमा की सजगता को स्वीकार किया है और मानव द्वारा शरीर के कृत्रिम अलंकरण के विरुद्ध स्पष्ट रूप से अपनी सम्मति उपस्थित की है। उनका मत निश्चित रूप से यही था कि प्रकृत स्तर पर प्राप्त शोभा स्वतः विकासोन्मुख रहती है और छवि-वृद्धि के लिए उसे किसी भी प्रकार के अलंकारों की अपेक्षा नही होती। वस्तुतः उनके अनुसार अलंकारिक शोभा का अवधारण करने से शरीर की सहज-प्राप्त नैसर्गिक कान्ति वृद्धि को प्राप्त होने की अपेक्षा किसी न किसी रूप में पतन की ओर ही उन्मुख होती है। इस विषय में उन्होंने अपनी भाव-धारा को निम्नलिखित शब्दों में पूर्णरूपेण ग्रथित कर दिया है :—

पहिरि न भूषन कनक के, कहि आवत इहिं हेत।
दरपन के से मोरचे, देह दिखाई देत॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३३५)

महाकवि बिहारी की काव्य-नायिका की रूप-छवि निश्चय ही अप्रतिम है। सौन्दर्य का नारी-सुलभ पक्ष उसके पास अमित रूप में वर्तमान है और यही कारण है कि शारीरिक तृष्णा की तृप्ति का विश्वासी भौतिकवादी व्यक्ति उसकी रूप-सुधा का पान करने के अनन्तर जैसे एकबारगी ही पूर्णकाम हो जाता है। नारी का रंग-पूरित साहचर्य उसे सहसा इतना मुग्ध कर लेता है कि शृंगार-विलास के द्वितीय उपकरण आसवमय चषक के ओष्ठों के अति निकट होने पर भी उसके अन्तस् में उसका पान करने की इच्छा अंकुरित नहीं होती। इस द्रव-रूप आसव की तुलना में नायिका के सौन्दर्य में छिपी हुई अमृत-राशि अपने माधुर्य गुण द्वारा उसकी चेतना को इतना प्रभावित कर लेती है कि वह अपने समीपस्थ वातावरण का विस्मरण कर एकटक नायिका की ओर ही देखता रह जाता है। नायक की इस रूप-प्रभावित मनोदशा का कवि ने निम्नलिखित चित्रमय वर्णन किया है :—

रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बनै न।
प्यालैं ओठ, प्रिया-बदन, रह्यौ लगाऐं नैन॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ६५०)

यह एक परम्परा-स्थापित तथ्य है कि प्रायः सभी कवि शृंगार रस के इतिवृत्त का संयोजन करते समय चरित्र-पक्ष के अंकन के लिए नायिका-सौन्दर्य के कथन में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते हैं और नायक की रूप-श्री का उल्लेख करने की ओर प्रायः उनका ध्यान नहीं जा पाता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार की भावना स्पष्ट ही सर्वथा अनुचित और असम्मत है। तर्क द्वारा भी यह सहज ही भासित हो जाता है कि ईश्वर द्वारा समान रूप में स्रष्ट होने के कारण पुरुष और नारी के अधिकार-क्षेत्र भी समान ही हैं और शृंगार-सौन्दर्य की परिधि में उन दोनों का ही सहज अभिनिवेश है। यह एक पृथक् विचारणीय विषय है कि कोमलता, आर्द्रता आदि सौन्दर्य के प्राथमिक गुणों की सत्ताधारिनी होने के कारण नारी का इस क्षेत्र में पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक अधिकार है और इस दृष्टि से काव्यादि कलाओं में उसे कुछ अधिक मात्रा में प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम पुरुष के शरीर-विभव की सर्वथा उपेक्षा ही कर दें। सन्तोष का विषय है कि कविवर बिहारी ने इस तथ्य के पालन का उचित ध्यान रखा है और अपने काव्य में नायिका के साथ-साथ नायक की रूप-छवि का भी उत्कृष्ट अंकन किया है। उनके नायक श्री कृष्ण का सौन्दर्य इतना मनोरम, उपयुक्त एवं आकर्षक है कि नायिका प्रथम अवलोकन में ही मुग्ध होकर उसके भावाधिक्य को मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लेती है तथा अपनी तद्जन्य विवश मनोदशा का अन्तरंग सखी के समक्ष निम्नलिखित शब्दों में विवरण उपस्थित करती है :—

मोहूँ सौं तजि मोहु, दृग चले लागि उहिं गैल।
छिनकु छ्वाइ छबि-गुर-डरी, छले छबीलैं छैल॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ७७)

शृंगार रस के संयोग पक्ष को और भी विकास-विवर्द्धन प्रदान करने के लिए बिहारी ने विभिन्न अनुभाव-स्थितियों का सहाय्य ग्रहण किया है। यही कारण है कि उनके सतसई-ग्रन्थ में आवश्यक हाव-भाव-विलास का परिस्थितियों के अनुकूल सम्यक् चित्रण हुआ है। ऐसा करते समय उन्होंने किसी प्रकार की असम्बद्ध अथवा अव्यावहारिक कल्पनाओं का आश्रय न लेकर वातावरण की यथार्थ प्रतिकृति उपस्थित करने का स्पष्ट-सजग प्रयास किया है। आलम्बनगत विविध अनुभाव-चेष्टाओं के प्रतिपादन में उनकी काव्य-मनसा अन्तर्चेतना के स्वच्छ सम्मिश्रण के कारण निरन्तर उदीयमान रही है और उनके द्वारा उन्होंने रस को पूर्ण प्रकर्ष की अवस्था तक पहुँचा दिया है। आगे हम उक्त वक्तव्य का प्रतिमान उपस्थित करने के लिए उनके काव्य से निम्नलिखित भावमय छन्द उद्धृत करते हैं :—

बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करैं भौंहनु हँसै, देन कहैं नटि जाइ ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ४७२)

भावों को सुचारु अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए काव्य में अनुभाव-विधान की अतीव आवश्यकता होती है। वस्तुतः भावों के लिए किसी न किसी रूप में व्यंग्यात्मक प्रणाली का अवलम्बन अनिवार्य होता है अन्यथा वे अति-वाच्यत्व के कारण अपनी सजीवता को खो बैठते हैं। यद्यपि काव्य के लिए अभिधेय होने को भी एक गुण के रूप में स्वीकृत किया गया है, तथापि केवल उसी की व्याप्ति एकांगी दृष्टिकोण का परिचय देती है और उससे काव्य का नैसर्गिक संवेदन अपने सहज उभार को प्राप्त करने में अधिकांशतः असमर्थ रहता है। यही कारण है कि किसी भी कवि-रचना में भावाभिव्यक्ति के अवसर पर अनुभाव-विधान की अनिवार्य अपेक्षा रहती है। कविवर बिहारी काव्य के उपर्युक्त सत्य से पूर्णतः अवगत थे और इसी भिज्ञता के फलस्वरूप उनके काव्य में अनुभावों की बहुल तथा सौन्दर्यमूलक योजना उपलब्ध होती है। उन्होंने लक्षण-ग्रन्थों में सामान्यतः परिगणित और काव्य में सर्वत्र गृहीत होने वाले अनुभावों का ही आधार ग्रहण नहीं किया है, प्रत्युत अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हुए कतिपय स्थानों पर नूतन कल्पनाएँ भी की हैं। उनका प्रत्येक काव्यगत अनुभाव अपने आप में इतना मार्मिक और प्रभावशाली बन पड़ा है कि अध्येता की मनसा उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहती। कुछ स्थलों पर उन्होंने एक ही छन्द में अनेक अनुभावों की समष्टि का आयोजन कर सर्वथा नूतन आकर्षण की सृष्टि भी की है। इस प्रकार के छन्द भाव-नियोजन की दृष्टि से निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। यथा :—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन में करत हैं, नैननु हीं सब बात ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ३२)

काव्य-शास्त्र के अनुसार संयोग पक्ष की भाँति ही शृंगार रस का वियोग पक्ष भी स्थिर किया गया है और इसकी सामग्री जुटाने के लिए कवियों को नायक-नायिका

की पृथकता-जनित विह्वल अवस्था का अंकन करने का आदेश दिया गया है। वस्तुतः शृंगार-वर्णन को पूर्णता प्रदान करने केलिए संयुक्त और वियुक्त, दोनों ही अवस्थाओं का परिग्रहण अनिवार्य है। वैसे भी प्रस्तुत रस का पूर्ण उद्रेक विरह-काल में ही सम्भव होता है, क्योंकि उस अवसर पर संयोग-समय के सुखद झिलमिल पर्दे स्वतः विलुप्त हो जाते हैं और वियोगाकुल व्यक्ति की आत्मा पुकार-पुकार कर अपने मर्म का उद्घाटन करने लगती है। रीति काल के अन्य कवियों की भाँति कविवर बिहारी ने भी उक्त आवश्यकता का अनुभव करते हुए अपने काव्य में विप्रलम्भ शृंगार का चित्रण किया है, किन्तु वर्णन की ऊहात्मक पद्धति का आश्रय ग्रहण करने के कारण उनके तत्सम्बन्धी दोहों में इस शृंगार-पक्ष का अधिक उत्कर्ष-साधन न हो सका है। सत्य तो यह है कि कहीं-कहीं अतिरंजना के अत्यधिक आग्रह के कारण उनके पात्रों की विरहाभिव्यक्तियों में स्पष्ट रूप से अस्वाभाविकता की प्रतीति होने लगती है। आगे हम प्रोषितपतिका नायिका की दूतिका द्वारा नायक के समक्ष कथित एक इसी प्रकार का उत्कृष्ट अतिशयोक्ति-मूलक छन्द उद्धृत करते हैं :—

सीरैं जतननु सिसिर-रितु, सहि बिरहिनि-तन-तापु।
बसिबे कौं ग्रीषम-दिननु, परचौ परोसिनि पापु॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा २६६)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना असंगत ही होगा कि बिहारी का विरह-वर्णन सर्वत्र अस्वाभाविक है और उसमें कहीं भी रस का उद्रेक नहीं हो पाया है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके काव्य मे ऊहात्मक वर्णन-प्रणाली को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है और उनके विप्रलम्भ शृंगारपरक छन्दों में इस विधा का चरम उत्कर्ष दृष्टिगत होता है, तथापि यह भी नितान्त स्पष्ट है कि केवल इसी प्रणाली के एकाधिकार को उन्होंने कहीं भी प्रश्रय प्रदान नहीं किया है। ऊहात्मक तत्वों से समाविष्ट छन्दों की भाँति उनके काव्य में ऐसे छन्द भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं जिनमें विरह की स्वाभाविक परिस्थितियों का पूर्णरूपेण अंकन हुआ है। उनकी विरहिणी नायिका ने दूरस्थ प्रियतम के प्रति जिन सन्देशों अथवा पत्रिकाओं का प्रेषण किया है, उन सभी में प्रायः विरह की मर्मस्पर्शी अनुभूति का श्रेष्ठ सन्निहन हुआ है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित छन्द देखिए :—

कागद पर लिखत न बनत, कहत सँदेसु लजात।
कहिहै सबु तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ६९)

वातावरण की दृष्टि से विप्रलम्भ शृंगार के प्रायः चार रूप सम्भव होते हैं और इनका क्रमिक आविर्भाव राग, मान, प्रवास एवं करुण विरह-स्थितियों के रूप में होता है। रस की पूर्ण प्रतिपत्ति के लिए सामान्यतः किसी भी काव्य-कृति में इन चारों का ही परिग्रहण नितान्त आवश्यक होता है। बिहारी के काव्य में वैसे तो इन सभी विरह-रूपों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उन्होंने इनमें से प्रवासजनित विरहोद्गारों को

अधिक महत्व प्रदान किया है। वास्तव में विरह-भाव के उचित स्फुरण के लिए साहित्य-शास्त्रियों ने प्रवास-जन्य परिस्थितियों को ही सर्वाधिक प्रेरणाशील माना है और काव्य में उसी के सम्यक् वर्णन पर अधिक बल दिया है। इसका कारण यही है कि विरह-चित्रण के अन्य प्रकारों में तो उसकी स्थिति की केवल अनुमिति ही की जा सकती है, किन्तु प्रवास-वर्णन में हमें उसके वास्तविक करुण-रूप का स्पष्ट परिचय उपलब्ध हो जाता है। उक्त प्रवास-स्थिति में विप्रलम्भ की चेतना के पूर्णतः समन्वित होने के कारण बिहारी ने उसे अपने काव्य में अत्यन्त उपयुक्त रीति से मूर्धन्य पर प्रस्थापित किया है।

कविवर बिहारी ने अपने काव्य में शृंगार रस के अतिरिक्त शान्त, वीर एवं हास्य नामक रसों का भी गौण रूप में उत्कृष्ट प्रयोग किया है। इस प्रकार के अप्रधान रूप में प्रयुक्त रसों में शान्त रस का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने उक्त रस से सम्बद्ध छंदों की अधिक मात्रा में रचना नहीं की है, तथापि शृंगारपरक छंदों के उपरान्त केवल शान्त-रस-विषयक छन्द ही ऐसे हैं जो रसात्मकता की दृष्टि से अपने आप में अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। इन सभी छन्दों में कवि की निर्वेद से सम्बद्ध भावना अपने चरम रूप में प्रस्फुटित हुई है। यही कारण है कि इनके अध्ययन-मनन से अध्येता की सात्विक वृत्तियों को पूर्ण विकास प्राप्त होता है। कवि ने इनके द्वारा इष्ट देव के प्रति अपनी भक्ति-भावना और श्रद्धा को अत्यन्त निर्लिप्त रीति से सहज रूप में व्यक्त कर दिया है। वास्तव में इस श्रेणी के दोहे अपने आप में इतने सुन्दर और भावपूर्ण बन पड़े हैं कि उनके अध्ययन से सहज ही ऐसी प्रतीति होने लगती है कि कवि का उद्देश्य केवल शान्त-रस-समन्वित छन्दों को प्रणीत करना ही रहा होगा। आगे हम इस विषय में उनके दो संग्राह्य छन्द प्रस्तुत करते हैं :—

(१) **कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।**
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारन हार॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ९१)

(२) **मोहूँ दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ।**
जौ बाँधे ही तोषु, तौ बाँधौ अपनै गुननु॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा २६१)

महाकवि बिहारी महाराज जयसिंह के राज-कवि थे और उन्होंने अपने काव्य के बृहत् भाग का प्रणयन राज्याश्रय में ही किया था। यही कारण है कि हमें उनके उपलब्ध काव्य में आश्रयदाता के स्तव-गान से सम्बद्ध छन्द प्राप्त होते हैं। यह स्तवन प्रायः महाराज जयसिंह के शौर्य का आख्यान करने की ओर प्रेरित रहा है और इसके द्वारा कवि ने वीर रस के अनुकूल वातावरण की निश्चय ही अनेक रूपों में सफल सृष्टि की है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के छन्द उनके प्राप्त साहित्य में परिमाण की दृष्टि से अत्यन्त अल्प हैं और रसात्मकता के दृष्टिकोण से भी इनका कोई विशेष महत्व नहीं है, तथापि इनमें से अधिकांश में 'उत्साह' स्थायी भाव का किसी न किसी रूप में संचरण अवश्य हुआ है। यथा :—

सामाँ सैन, सयान की सबै सहि कै साथ ।
बाहुबली जयसाहि जू, फतै तिहारैं हाथ ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ७१०)

उक्त रसावस्थाओं के अतिरिक्त बिहारी के काव्य में हास्य रस के उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने वाले कतिपय दोहों का भी समावेश हुआ है। परिमाण की दृष्टि से इस रस से सम्बद्ध छन्द भी अत्यन्त अल्प ही हैं, किन्तु परिणाम की दृष्टि से वे अपने आप में स्थायी प्रभाव को अन्तर्हित किए हुए हैं। इस प्रकार के छन्दों में स्पष्ट ही हास्य रस का पूर्ण वैभव दृष्टिगत होता है। वस्तुतः ये सभी छन्द अपनी विमुग्धकारी तथा शान्त-विकसित स्मिति को लेकर अध्येता के कार्य-थकित अन्तर्जगत् को रम्य अनुरंजन प्रदान करते हैं। किसी भी ग्रन्थ की एक-रसता-जनित जड़ भावना का निवारण करने के लिए भाव-परिवर्तन सामान्यतः अपेक्षित होता है। कवि ने इस अपेक्षा को पूर्ण करने के लिए अपनी साहित्य-रचना में विविध मौलिक आलम्बनों का आश्रय लिया है और उनके द्वारा हास्य रस की समवेत् योजना की है। इस विषय की चर्चा करने पर हमारे समक्ष महसा उनका वह दोहा उपस्थित हो जाता है जिसमें उन्होंने ज्योतिषी जी के गृह में पुत्र-जन्म और तज्जनित परिस्थितियों का उल्लेख किया है। उसकी जन्म-कुण्डली की निर्मिति के उपरान्त जब उन्होंने ग्रह-मंस्था का अध्ययन करने पर फल-रूप में पितृघातक योग की गणना की तब प्रथम तो उनके चित्त में शोक का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु शीघ्र ही जारज योग (पिता से इतर किसी अन्य पुरुष के रेतस् से उत्पन्न होने का विधान) की स्थापना को लक्षित कर वह अपने पूर्व शोक से मुक्त होकर असीम उल्लास में निमग्न हो गए। इस अवसर पर उनकी मनोदशा का विकास निश्चय ही अत्यन्त हास्योत्पादक रीति मे हुआ है और उससे उनके अस्थिर चित्त तथा शिथिल बुद्धि वाले होने की भी स्पष्ट व्यंजना उ लब्ध होती है। आगे हम उक्त वार्ता पर कवि का कुशल काव्यगत वर्णन उपस्थित करते हैं :—

चित पितमारक-जोगु गनि भयौ, भयैं सुत, सोगु ।
फिरि हुलस्यौ जिय जोइसी, समुझैं जारज-जोगु ॥

—(बिहारी-रत्नाकर, दोहा ५७५)

इस प्रकार हमने देखा कि महाकवि बिहारी ने अपने काव्य-साहित्य में शृंगार शान्त, वीर और हास्य के रूप में विविध रसों को अत्यन्त श्रेष्ठ आधार पर संयोजित किया है। सौन्दर्यचेता कवि होने के कारण उन्होंने उक्त रसों में शृंगार रस को मूल-वर्ती स्थान प्रदान करने के अनन्तर शेष का गौण रूप में प्रयोग किया है और इस आयोजन में उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। वैसे रचना-परिमाण के दृष्टिकोण से विवेचन करने पर हम देखते हैं कि इन सभी रसों की प्रभाव-सृष्टि अपने आप में पर्याप्त वैभिन्न्य-समन्वित रही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनके काव्य में एक ही प्रकार के

रस-भाव का आग्रह न होकर अनेक रसों का सन्तोषप्रद सामंजस्य है और उसका अध्ययन करते समय अध्येता को स्वभावतः ही पद-पद पर नूतन उन्मेष-लहरियों का रम्य परिचय उपलब्ध होता है। दोहे जैसे परिमित आकार के छन्द में इतने व्यापक आधार पर रसात्मकता का संयोजन कर सकना निश्चय ही उनके समान अपूर्व कौशल से समन्वित कवि का ही कार्य था ।

: ११ :

केशव के काव्य-सिद्धान्त

रीति काल के आचार्य-कवियों में कविवर केशवदास का प्रमुख स्थान है। वह मुख्यतः अलंकारवादी आचार्य के रूप में प्रसिद्ध हैं, किन्तु शृंगार रस के रसराजत्व की स्थापना की दिशा में भी वह प्रयत्नशील रहे हैं। उनके काव्य-सिद्धान्तों की चर्चा से हमारा तात्पर्य उनकी काव्य और काव्यांगों के विषय में मान्यताओं की शोध करने से है। यद्यपि यह सत्य है कि कवि-कर्म का स्वरूप स्वतन्त्रतामय होता है और उसे किसी विशिष्ट परिधि में आबद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि काव्य-रचना की पृष्ठभूमि में कुछ न कुछ सिद्धान्तों की स्थिति अवश्य रहती है। इन काव्य-नियमों को यदाकदा काव्य में अभिव्यक्ति भी प्रदान की जाती है। रीति-कालीन कवि इस दृष्टि से विशेष सजग थे और उन्होंने अपने काव्य की रचना कुछ निश्चित काव्य-सिद्धान्तों के अनुसार ही की है।

संस्कृत की कवि-परम्परा से प्रभावित होने के कारण हिन्दी-काव्य के अनेक प्रणेताओं ने समय-समय पर कवि-कर्म के साथ-साथ आचार्यत्व की गम्भीर मर्यादाओं का भी निर्वाह किया है। यद्यपि संकेत-रूप में हमें इस प्रवृत्ति का परिचय हिन्दी-साहित्य के आदि युग से ही उपलब्ध होने लगता है, तथापि इसे एक निश्चित और सम्मत रूप प्रदान करने का कार्य सर्वप्रथम रीतिकाल के प्रमुख कवि केशवदास ने ही किया। अपनी व्यापक काव्य-प्रतिभा के आधार पर जहाँ उन्होंने एक ओर हिन्दी-साहित्य को अनेक उत्कृष्ट कृतियाँ प्रदान की हैं, वहाँ दूसरी ओर संस्कृत-काव्य-शास्त्र की पृष्ठभूमि में उन्होंने हमारे समक्ष अनेक काव्य-सृजन-विषयक सिद्धान्त भी उपस्थित किये हैं। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य-भावना की दृष्टि से कतिपय स्थलों पर केशव अपने काव्य में उपयुक्त स्तर का नियोजन नहीं कर सके हैं, तथापि केवल इसी दोष के कारण उनकी सम्पूर्ण काव्य-श्री का विरोध करने लगना अधिक समीचीन नही है। वास्तव में उनके काव्य के प्रति उपयुक्त न्याय करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसका पुनः अध्ययन करें और विश्लेषण की यथार्थ निकषा के आधार पर उसका उचित मूल्यांकन करें।

केशव ने कवि-कर्म के साथ-साथ कवि-रीति पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और उसे स्पष्ट करने के लिए 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' नामक दो उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की है। इनके अन्तर्गत उन्होंने काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों का अत्यन्त सम्बद्ध विवेचन उपस्थित किया है। इससे इतर उनकी विविध काव्य-कृतियों में भी प्रसंग-रूप में कहीं-कहीं काव्य-रीति को स्पष्ट करने में सहायक सिद्धान्तों की समष्टि उपलब्ध होती है।

इस प्रकार के गौण संग्रहण प्राय: अत्यन्त गम्भीर चिन्तन से सम्बद्ध रहे हैं और इनके माध्यम से काव्य-शास्त्र की आत्मा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। वस्तुत: उनका मूल कर्म काव्य-सृजन ही था, काव्यालोचन नहीं। यही कारण है कि उनके कृतित्व का मूल्यांकन करते समय काव्य-शास्त्र-विषयक असम्बद्धताओं की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य कवि केशवदास ने ही सर्वप्रथम हिन्दी-साहित्य में काव्य के साथ-साथ साहित्य-शास्त्र के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना द्वारा उन्होंने काव्य-रीति, अलंकार-शास्त्र और रस-चेतना के सम्बन्ध में अपना गम्भीर शास्त्रीय ज्ञान अभिव्यक्त किया है। कवित्व-शक्ति से युक्त होने के कारण उन्होंने उक्त जटिल विषयों को भी सरल रूप में प्रतिपादित करने की चेष्टा की है। वास्तव में अपने विस्तृत साहित्य-विषयक ज्ञान और बुद्धि-वैभव के आधार पर वह इस कार्य में प्राय: सफल ही हुए हैं। अपने से पूर्व हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत उक्त विषयों के अस्पृष्ट रहने पर भी उन्होंने इनकी आवश्यकता का अनुभव करते हुए जो मार्मिक विश्लेषण उपस्थित किया है, वह निश्चय ही प्रशंसनीय है।

'रसिकप्रिया' रस-विषयक विवेचन को उपस्थित करने वाली महत्वपूर्ण रीतिकालीन रचना है। केशव ने इसकी रचना करते समय हिन्दी-भाषा के कवियों को रस-महत्व से अवगत कराने के उद्देश्य को सामने रखा था। काव्य में रस का प्रतिष्ठान निश्चय ही काव्यानन्द की अभिवृद्धि में सहायक होता है। अत: केशव के रस-व्याख्यान के प्रयास को प्रशंसनीय ही कहा जाएगा। तथापि वह इस विषय में पूर्णत: सजग और निर्भ्रान्त नहीं रह सके हैं। यही कारण है कि शृंगार रस के प्रति अपने दुराग्रह के कारण उन्होंने समग्र रसों को शृंगार रस में ही समाहारित कर दिया है। इस प्रकार का समाहार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा असम्भव है। अत: कवि को अपने प्रयास में असफलता ही हुई है।

प्राचीन परिपाटी के अनुसार कवि अपनी काव्य-रचना के प्रारम्भ में अपने कुल का परिचय देने के उपरान्त ग्रन्थ के महत्व का भी प्रतिपादन करते थे। यद्यपि यह नियम अनिवार्य नहीं था, किन्तु कवियों से इसकी अपेक्षा अवश्य की जाती थी। रीतिकालीन कवियों ने सामान्यत: इन दोनों आवश्यकताओं में से एक की पूर्ति अवश्य की है। इस दृष्टि से महाकवि केशवदास ने 'कविप्रिया' में अपना वंश-परिचय उपस्थित किया है और यथास्थान अपने दोनों ही शास्त्रीय ग्रन्थों में उनकी रचना के उद्देश्यों को भी स्पष्ट कर दिया है। 'रसिकप्रिया' में विविध रसांगों की चर्चा करते हुए उन्होंने उसकी रचना का उद्देश्य हिन्दी-कवियों के मार्ग को प्रशस्त करना कहा है। आगे हम इस विषय में उनकी उक्तियाँ उपस्थित करते हैं :—

(१) अर्थ रति गति मति एक करि, विविध विवेक विलास।
रसिकन को रसिकप्रिया, कीन्हीं केशवदास॥

—(सरदार कवि-कृत सटीक 'रसिक-प्रिया', प्रकाशित सन् १९११ ईस्वी, पृष्ठ ११, छन्द-संख्या १२)

(२) जैसे रसिक प्रिया बिना, देखिये दिन दिन दीन ।
त्यों ही भाषा कवि सबै, रसिकप्रिया करि हीन ।।
—(वही प्रति, पृष्ठ २५९, छन्द-संख्या १५)

'कवि-प्रिया' की रचना का मूल कारण सहृदय काव्य-प्रेमिका और नर्तकी प्रवीणराय को काव्य-कला के सामान्य सिद्धान्तों से परिचित कराना था। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि से इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है :—

सविता जू कविता दई, ता कहँ परम प्रकास ।
ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केशव दास ।।

अर्थात् 'ईश्वर-प्रदत्त काव्य-प्रतिभा के आलोक से समन्वित प्रवीणराय की सहायता के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है।'

इस लक्षण-ग्रन्थ की रचना का एक अन्य उद्देश्य काव्य-शास्त्र के गम्भीर सिद्धान्तों का अध्ययन एवं मनन के आधार पर इस प्रकार प्रतिपादन करना था कि वे अपरिचित स्त्रियों एवं किशोरों के समक्ष भी सहज-ग्राह्य हो सकें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि केशव काव्य-सिद्धान्तों को गूढ़ शैली में प्रतिपादित करने के विरोधी थे। उनका उद्देश्य उन्हें जन-साधारण में सहज प्रचलित कर देना था। अपनी इसी प्रवृत्ति को विद्वान् लेखक ने निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :—

समझें बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध ।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ।।

केशव द्वारा 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' के रूप में लक्षण-ग्रन्थों की रचना का अन्तिम उद्देश्य काव्य-शास्त्र के विविध विवादग्रस्त नियमों को उचित प्रकार से ग्रहण कर सुन्दर, सुष्ठु एवं स्वाभाविक रीति से प्रतिपादित करने की अभिलाषा है। उनसे पूर्व काव्य-रचना के विषय में कतिपय स्फुट उक्तियाँ ही प्राप्त होती हैं। इन उक्तियों के अध्ययन से कवियों को केवल काव्य के भाव-पक्ष को समृद्ध करने की ही प्रेरणा प्राप्त हो सकती थी। उसके कला-पक्ष को पूर्णता प्रदान करने के लिए क्रमबद्ध विवेचन का पूर्णतः अभाव था। यह सत्य है कि काव्य में भाव-तत्व की स्थिति कला-तत्व की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कलात्मक उपकरणों की पूर्णतः उपेक्षा ही कर दी जाए। केशव ने इस आवश्यकता का अनुभव कर कवियों की दोनों ही दिशाओं में सहायता की है। इस दृष्टि से उन्होंने एक ओर तो 'रसिकप्रिया' में रस-चर्चा करते हुए काव्य के भाव-तत्व की आवश्यकताओं की ओर संकेत किया है और दूसरी ओर 'कविप्रिया' में काव्य-दोषों, अलंकारों और पिंगल-शास्त्र के स्वरूप को स्पष्ट कर काव्य के कला-तत्वों पर प्रकाश डाला है।

उन्होंने संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का व्यापक अध्ययन करने और अलंकार-सम्बन्धी विभिन्न प्रचलित धारणाओं का तत्व-संग्रह करने के अनन्तर इस कृति के रूप में उनका श्रेष्ठ सम्पादन किया है। यद्यपि यह सत्य है कि मौलिकता के अभाव और परम्परागत परिपाटी के प्रभाव के कारण ये अलंकार अथवा रस-ग्रन्थ उतने रुचिकर न हो सके हैं, तथापि हिन्दी-काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में केशव का यह प्रयत्न सदैव श्लाघ्य और स्तुत्य माना

जाएगा। 'कविप्रिया' के एक छन्द में कवि ने अपनी उपर्युक्त चयन-प्रतिभा को निम्नांकित शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है :—

अलंकार कवितान के, सुनि सुनि विविध विचार।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार॥

केशव ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में कल्पना, अनुभूति और अध्ययन के साथ-साथ आचार्यत्व की मर्यादा स्थापित करने की चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने विषय-प्रतिपादन करते समय संस्कृत के तत्सम्बन्धी ग्रन्थों को आधार-रूप में स्वीकार किया है और कतिपय स्थलों पर अपनी मौलिक उद्भावनाओं को समाविष्ट करने का भी सफल प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट है कि कवि-कर्म के साथ-साथ कवि-नियमन का कार्य भी उन्हें रुचिकर प्रतीत होता था और काव्य-शास्त्र के विविध पक्षों के विषय में अपने पृथक् सिद्धान्तों की स्थापना कर वह स्वयं यह अपेक्षा रखते थे कि अन्य कवि भी काव्य-रचना की उसी प्रणाली को स्वीकार करें। इस प्रकार काव्य-शास्त्र के गम्भीर अध्येता और प्रणेता होने के कारण वह निश्चय ही आचार्य-पद के अधिकारी हैं।

'कविप्रिया' में केशव ने कवि-कुल का मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए अत्यन्त व्यापक क्षेत्र को ग्रहण किया है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का विवेचन करते समय शुष्कता के वातावरण से यथासम्भव पृथक् रहने की चेष्टा की है। प्रारम्भ से ही इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर उन्होंने अपनी रचना को उपयुक्त वर्णों, रमणीय अर्थों एवं काव्य-गुणों से विभूषित कर अधिकाधिक माधुर्य-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया है। इसी कारण उनका कवि इतने विश्वासपूर्वक इसे आभूषण का परम महत्वपूर्ण पद प्रदान कर, कवियों से इसे कण्ठस्थ करने का आग्रह कर सका है :—

सगुन पदारथ अर्थ युत, सुबरनमय सुभ काज।
कण्ठमाल ज्यों कविप्रिया, कण्ठ करौ कविराज॥

यद्यपि यह उक्ति केशव की आत्म-गर्वोक्ति के समान प्रतीत होती है, किन्तु 'कवि-प्रिया' और 'रसिकप्रिया' में दिये गये उदाहरणों के काव्य-सौन्दर्य पर दृष्टि-विक्षेप करने पर हम इन तत्वों को अधिकांश में सत्य ही पाते हैं। वास्तव में इन उदाहरणों की सरस और सुन्दर पद-योजना और प्रांजल भाषा ने इन्हें और भी रमणीय बना दिया है। प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से समन्वित एक ऐसा ही सुन्दर पद देखिए :—

अमल कमल दल लोचन, ललित गति,
आरत समीर सीत, भीति दीह दुख की।
चन्द्रक न लायो जाय, चन्दन न लायो जाय,
चन्द न चितयो जाय प्रकृति वपुष की॥
घर की घटती जाति घटना घटी हू घटी,
छिन छिन छीन छबि रबिमुख सुख की।
सीकर तुषार स्वेद सोहत हेमंत ऋतु,
किधौं केशौदास प्रिया प्रीतम विमुख की॥

इस प्रकार के सभी छन्द केशव के उत्कृष्ट कवि-कर्म और श्रेष्ठ अभिव्यंजना-प्रणाली के द्योतक हैं। वास्तव में अपने लक्षण-ग्रन्थों के माध्यम से केशव हमारे सम्मुख आचार्य के रूप में उतना अच्छा आदर्श उपस्थित न कर सके, तथापि कवि के रूप में वह उसमें पर्याप्त सफल रहे हैं। आचार्य के लिए अपेक्षित काव्य-मीमांसा और शास्त्र-चिन्तन के स्थान पर उनके काव्य में कवि के कवि-कर्म और वर्णन-प्रणाली का ही विधान हुआ है। यही कारण है कि जहाँ हम उनके काव्य की शास्त्र-प्रेरित बौद्धिकता से विमुख रहने की चेष्टा करते हैं, वहाँ उनकी काव्य-प्रेरित रागात्मकता हमारे अन्तस् को तुरन्त अपने में बाँध लेती है। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है। यदि हिन्दी में काव्य-शास्त्र की समृद्ध स्थिति रही होती तो केशव से यह अपेक्षा की जा सकती थी कि वह अपनी साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी रचनाओं को अधिक गम्भीर रूप में उपस्थित करते, किन्तु इसके विपरीत काव्य-रचनाओं के प्राधान्य के कारण उनकी प्रतिभा मूलत: उसी ओर प्रेरित रही है। वस्तुत: उनके द्वारा प्रतिपादित साहित्य-सिद्धान्तों में मौलिक उद्भावना का अभाव इसी कारण रहा है। उन्होंने संस्कृत में प्राप्त होने वाले विवाद-रहित काव्य-नियमों की हिन्दी में व्याख्या उपस्थित करने का कार्य किया है और इस विषय में अपनी मौलिकता का अधिक परिचय नहीं दिया है। इसके विपरीत काव्य- प्रणयन के क्षेत्र में उनकी स्थिति अधिक श्रेष्ठ रही है। यद्यपि यह सत्य है कि उनके काव्य में चमत्कार-वाद की भी स्थिति रही है, किन्तु इस चमत्कार का आग्रह न होने पर उनका काव्य निश्चय ही प्रशंसनीय रहा है।

केशव ने 'कविप्रिया' में कवि-भेद, कवि-रीति और काव्य को सज्जित करने वाले विविध उपादानोंका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण वर्णन किया है। इसी प्रकार 'रसिकप्रिया' में उन्होंने रस-विवेचन, रस-राजत्व और रस-सम्बन्ध आदि के विषय में अपने गम्भीर विचार प्रकट किये हैं। इन दोनों ही ग्रन्थों की रचना करते समय उन्होंने संस्कृत-साहित्य शास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन किया है और उसके आधार पर अपनी मान्यताओं की अत्यन्त उत्साहपूर्वक स्थापना की है। 'रामचन्द्रिका' में भी छन्द-शास्त्र के प्रति उनका विशिष्ट आग्रह परिलक्षित होता है। यद्यपि उक्त कृति में उनका छन्द-विधान अनेक स्थलों पर असम्बद्ध अवश्य रहा है, तथापि इसमे उनकी आचार्य-मर्यादा की समाप्ति नहीं हो जाती। वास्तव में इन तीनों ही ग्रन्थों में उन्होंने उपाध्याय के स्थान पर आचार्य बनने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की है।

केशव ने कवियों को काव्य-रचना के लिए आवश्यक सम्पूर्ण अंगों का ज्ञान कराने के लिए उनका विस्तृत विवेचन किया है और साथ ही अपने दृष्टिकोण को उनके सम्मुख स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। आचार्य मम्मट के समान उन्होंने भी काव्य-प्रणयन के मूल में सहज प्रतिभा के साथ-साथ कवि के महान् आयास के दायित्व की आवश्यक तत्व के रूप में गणना की है। उनके अनुसार छन्द के प्रत्येक चरण की योजना करते समय कवि शब्द-शोधन के लिए एकान्त चिन्तन एवं तन्मय परिश्रम का आश्रय लेता है और इस प्रकार श्रुति-मधुर तथा रसानुकूल शुभ वर्ण-समुदाय के माध्यम से कविता के कलेवर का उत्कृष्ट शृंगार करता है :—

चरण धरत चिंता करत, नींद न भावत शोर ।
सुबरण को सोधत फिरत, कवि व्यभिचारी चोर ॥

श्लेप के चमत्कार से प्रस्तुत छन्द और भी अधिक स्पष्ट तथा अर्थवाही हो गया है। यद्यपि कुछ व्यक्ति केशव की इस धारणा का विरोध करते हैं, किन्तु इसमें कोई संशय नहीं है कि काव्य-रचना के अवसर पर कभी-कभी प्रतिभा के अतिरिक्त प्रयास की भी आवश्यकता हुआ करती है ।

काव्य-रचना में कवि के इस प्रयास का मूल कारण उसकी दोष-रहित रमणीय कविता करने की अदम्य प्रवृत्ति है। केशव दोषों से काव्य की रक्षा करने के लिए अत्यन्त सचेत और सतर्क रहे हैं। उनके अनुसार दोष-युक्त कविता की स्थिति ठीक उसी प्रकार की है, जिस प्रकार की एक बूंद हाला से युक्त होने पर गंगा-जल से परिपूर्ण घट की होती है :—

राजत रंच न दोष-युत, कविता बनिता मित्र ।
बुंदक हाला परत ज्यों, गंगाघट अपवित्र ॥

हिन्दी के प्राचीन काव्य में प्रायः अन्तर्साक्ष्य का अभाव रहा है और किसी भी कृति के विषय में रचयिता का अपना दृष्टिकोण प्राप्त होना उससे भी अधिक विरल है। रीति काल की काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी रचनाओं में स्थिति इसके सर्वथा विपरीत रही है। इन कृतियों में कवियों ने अल्पाधिक रूप में अपने कृतित्व पर भी प्रकाश डाला है और इस लोभ का संवरण प्रायः वह नहीं कर सके हैं। इस दृष्टि से अन्य आचार्यों की अपेक्षा कविवर केशवदास ने इस प्रवृत्ति का अधिक परिचय दिया है। यद्यपि उन्होंने इस प्रवृत्ति का 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया', दोनों में ही आश्रय लिया है, तथापि 'कविप्रिया' में इसका अधिक विस्तार लक्षित होता है। उन्होंने इस कृति के प्रारम्भ और अन्त में इसके वर्ण्य विषयों और महत्व की पर्याप्त चर्चा की है। उनके प्रारम्भिक वक्तव्यों की समीक्षा हम ऊपर कर चुके हैं। अतः अब हम 'कविप्रिया' के अन्त में प्राप्त होने वाले ग्रन्थ-महत्व-विषयक छन्दों पर विचार करेंगे ।

'कविप्रिया' के अन्त में कवि ने चार छन्दों में उसके महत्व की समग्रतः चर्चा की है। इन चारों छन्दों का अध्ययन करने पर हम उनकी रचना के अभीष्ट का निम्नलिखित रीति से प्रतिपादन कर सकते हैं :—

(१) **काव्य का सामान्य वर्ण्य :—**

इस कृति में कवि ने काव्य-रचना के लिए उपयुक्त भावों और काव्य-सज्जा के लिए उपयुक्त अलंकरण-सामग्री का अध्ययन उपस्थित किया है। इस प्रकार इसमें भावों और अलंकारों के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। केशवदास ने इसमें वर्णित भावों और अलंकारों का आधार ग्रहण करने वाले कवियों के काव्य-मार्ग को अधिक सुगम माना है। इस विषय में उनकी उक्ति इस प्रकार है :—

केशव सोरह भाव शुभ, सुवरनमय सुकुमार ।
कविप्रिया के जानिये, यह सोरह शृंगार ॥

(२) **कवि की ग्रन्थ-प्रियता:—**

'कविप्रिया' कविवर केशवदास की विशेष प्रिय रचना है। वह अलंकारवादी आचार्य थे और प्रस्तुत रचना में उन्हें अलंकार-चर्चा के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रस्तुत कृति के प्रति विशेष ममत्व दिखाया है। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने 'कविप्रिया' का अध्ययन करने वाले कवियों को भी यह सन्देश दिया है कि वे इस कृति का पूर्णतः मनन करें और तदुपरान्त इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों की यथासम्भव रक्षा करें। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित छन्द देखिए :—

सुवरण जटित पदारथनि, भूषण भूषित मान।
कविप्रिया है कविप्रिया, कवि की जीवन जान॥
पल-पल प्रति अवलोकिबो, सुनिबो गुनिबो चित्त।
कविप्रिया को रक्षिये, कविप्रिया ज्यों मित्त॥
अनल अनिल जल मलिन ते, विकट खलन तें नित्त।
कविप्रिया ज्यों रक्षिये कविप्रिया ज्यों मित्त॥

केशव के काव्य-मत का उपर्युक्त अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने स्वयं सशक्त प्रतिपादन न करने पर भी अपने परवर्ती आचार्य-कवियों के लिए काव्य-शास्त्र-चर्चा के क्षेत्र को प्रशस्त कर दिया। तथापि उनके कार्य का परवर्ती रीति-कालीन कवियों के कार्य से तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते है कि उनके परकालीन आचार्य भी इस क्षेत्र में अधिक प्रतिभा का परिचय नहीं दे सके। यद्यपि यह सत्य है कि कतिपय परवर्ती आचार्यों ने एकाधिक स्थलों पर मौलिक उद्भावना का श्रम किया है, किन्तु रीति काल में काव्य-शास्त्र-रचना की एक निश्चित परम्परा की स्थापना नहीं हो सकी अर्थात् किसी भी व्यक्ति ने पूर्णतः स्वतन्त्र आधार पर काव्य-शास्त्र का निरूपण नहीं किया। तथापि इससे केशवदास की प्रयत्न का महत्व कम नहीं होता।

जिस प्रकार कबीर के सन्त-काव्य और जायसी के प्रेम-काव्य के पश्चात् उनके परवर्ती कवियों ने एक युग तक उन्हीं का अनुकरण किया और जिस प्रकार सूर के कृष्ण-काव्य तथा तुलसी के राम-काव्य के प्रणयन के अनन्तर उनके अनुयायियों ने सगुण-पक्ष में उन दोनों का अधिकाधिक प्रतिपादन किया; निश्चय ही ठीक उसी प्रकार केशव की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना के उपरान्त तत्कालीन आचार्यों ने उन्हीं का अनुकरण किया। वास्तव में केशव एक युगान्तरकारी कवि और आचार्य थे और उनके काव्य-विषयक सिद्धान्त अकाट्य नहीं तो महत्वपूर्ण अवश्य हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा उन्होंने हमारे समक्ष अपने हृदय का उद्भावन करने के साथ-साथ युग की एक नितान्त जटिल आवश्यकता को भी पूर्ण किया था।

: १२ :

'पेमी' और उनका काव्य

श्री बरकत उल्ला 'पेमी' हिन्दी-काव्य के सामान्य पाठक को प्राय: अपरिचित ही प्रतीत होंगे। यद्यपि हिन्दी के मुसलमान कवियों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु अभी उनका काव्य सबके लिए सुलभ नहीं किया जा सका है। उन्होंने अपने काव्य की रचना अठारहवीं शताब्दी के मध्य-काल में की थी। हिन्दी के अन्य अनेक प्राचीन कवियों की भाँति उनका भी यह दुर्भाग्य रहा है कि उनका काव्य पर्याप्त समय तक प्रकाश में नहीं आ पाया। इस समय उनकी 'पेम-प्रकाश' नामक एक रचना उपलब्ध होती है। इस काव्य की हस्तलिखित प्रतियाँ फारसी लिपि में प्राप्त होती हैं। इसकी रचना काव्य की मुक्तक प्रणाली के अनुसार 'दोहा' एवं 'कवित्त' नामक छन्दों में हुई है और इसमें अधिकतर सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

'पेमी' जी को हिन्दी-जगत् के समक्ष उपस्थित करने का श्रेय स्वर्गीय महामहोपाध्याय डॉ० लक्ष्मीधर शास्त्री को है। उन्होंने 'पेमी' जी के काव्य के अध्ययन को अपने शोध-ग्रन्थ के विषय के रूप में ग्रहण किया था। इस दृष्टि से उन्होंने कवि के व्यक्तित्व और उनके काव्य के महत्व पर प्रामाणिक सामग्री उपस्थित की है। प्रस्तुत निबन्ध की रचना करते समय हमने उनके द्वारा सम्पादित 'पेम-प्रकाश' की प्रति का उपयोग किया है। हमारा मत है कि जिन व्यक्तियों की हिन्दी के मुसलमान कवियों के काव्य का अध्ययन करने में रुचि है, उन्हें 'पेमी' जी के काव्य का भी अध्ययन करना चाहिए। उन्होंने अपने काव्य की रचना रचना सरल ब्रजभाषा में की है और मुसलमान कवि होने के कारण यत्र-तत्र उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनके सभी छन्दों का सम्बन्ध ईश्वर-भक्ति से है और इस दृष्टि से उन्होंने भक्ति के सगुण और निर्गुण, दोनों पक्षों को ग्रहण किया है। उन्होंने अपने भावों को भी अत्यन्त सरल और स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है।

सूफी कवि शाह बरकत उल्ला 'पेमी' ने अठारहवी शती के माध्यमिक चरणों में 'पेम-प्रकाश' की रचना द्वारा भक्ति के साकार तथा निराकार, दोनों ही पक्षों का अत्यन्त सफल उद्भावन किया है। अपनी रस-सिक्त वाणी के सन्धि-पत्र से उन्होंने विश्व के विघटनशील तत्वों का परिहार कर उनके स्थान पर आत्मा का उद्रेक करने वाले विविध सार्वजनीन, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक सूत्रों का संघटन किया है। वस्तुत: इस कृति में उन्होंने श्रीकृष्ण को परमात्मा और गोपियों को जीवात्मा के रूप में ग्रहण कर, रूपक के संश्लेषणात्मक आवरण की सहायता से अपनी रहस्यान्वेष्टित अनुभूतियों का अत्यन्त विशद स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। अपनी अन्तर्मुखी भाव-वृत्ति का

निरूपण करते समय जहाँ उन्होंने एक ओर वेदान्त एवं उपनिषद्-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है, वहाँ दूसरी ओर उन्हें कबीर तथा जायसी जैसे मध्यकालीन सन्त कवियों के काव्य से भी अनुबोधन प्राप्त हुआ है।

आधार और आधेय के सम्मिलन अथवा विप्रलम्भ के चित्र अंकित करते समय अपनी अनुभूयात्मिका प्रवृत्ति के कारण 'पेमी' जी समष्टि रूप में अत्यन्त भाव- विह्वल हो उठे हैं। प्राणविक तत्व से वियुक्त होने के कारण जीवात्मा की आणविक सत्ता को अन्तर्वेदना के जिस करुण संवेग की प्रतीति होती है, उसकी अभिव्यक्ति निश्चित रूप से विपुल अश्रु-प्रवाह में ही सम्भव है। परमात्मा के स्नेह-भाव का परिज्ञान होने पर साधक के अन्तर में जिस श्रद्धा की उद्भूति होती है, उसका अभिव्यंजन करने में उन्हें निश्चित रूप से पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। निम्नलिखित छन्द में उन्होंने साधना के सामान्य स्वरूप का कितने मार्मिक एवं प्रभावशाली शब्दों में उल्लेख किया है :—

चख जोगी कंथा गरें, अरुन साम औ सेत।
आँसु बूंद सुमरन लईं, दरसन-भिच्छा हेत॥

भक्ति के क्षेत्र में इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति कोई नई बात नहीं है। उपास्य से वियुक्त होने पर कवीन्द्र रवीन्द्र भी संवेदना के इसी तत्व से अभिभूत हो हृदय में एक विशेष कारुण्य भाव के स्फुरण का अनुभव करते हैं। अनुराग के उत्तर-काल में स्नेह-सिक्त व्यक्ति को साध्य के प्रति जिस भाव की प्रतीति होती है, उसी का चित्रण करते हुए उन्होंने एक कविता में कहा है :—

पूर्णिमानिशीथे जबे दशदिके परिपूर्ण हासि,
दूर स्मृति कोथा होते, बाजाय व्याकुल करा बाँसि,
झरे अश्रुराशि!

अर्थात् "राका-रजनी के स्मितिपूर्ण वातावरण में किसी की दूरागत स्मृति ने वंशी में विकल रागिनी की सृष्टि कर दी है और लोचन-कोणों से अजस्र अश्रु-प्रवाह होने लगा है।"

अर्चना के क्षेत्र में आत्म-प्रकाशन के स्वरूप की उपलब्धि अत्यन्त प्रबल मनोयोग के अनन्तर ही हो पाती है। माया के विघटक तन्तुओं से निकट संसर्ग के फलस्वरूप प्रायः कतिपय विशिष्ट व्यक्ति ही विश्व-विरक्त हो, चिन्तन की इस सीमा का स्पर्श कर पाते हैं। इस दृष्टिकोण से पूर्वोक्त दोहे में 'पेमी' जी ने आत्मा के सहज निवेदन की प्रवृत्ति से परिचालित हो, विरह-दशा की जो तीक्ष्ण एवं मर्म-स्पर्शी अभिव्यंजना प्रस्तुत की है, वह भावक व्यक्तियों के लिए अवश्य ही पूर्णतः वरेण्य है। वस्तुतः ईश-प्राप्ति के लिए अग्रसर होने पर जीवात्मा को जिस विरह की अनुभूति होती है, उसकी मार्मिकता का निरन्तर विस्तार होता जाता है और अन्ततः वह स्थिति आ जाती है, जब इस विरहानुभव को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। उस स्थिति में साधक को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए विशेष विह्वलता का अनुभव होने लगता है और आत्माभिव्यक्ति के उपरान्त ही उसके हृदय में पूर्ण शान्ति का संचार हो पाता है। हिन्दी के भक्ति-

काव्य का अध्ययन करने पर यह तथ्य पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है। हमारे यहाँ भक्ति काल के अधिकांश कवियों ने ईश-विरह में इसी प्रकार की भावाभिव्यक्ति की है। यह अभिव्यक्ति साधना की गहनता पर आधृत रहती है और अध्यात्म-क्षेत्र में पूर्णत: अवगाहन न कर पाने वाला व्यक्ति इसकी सिद्धि में असफल ही रहता है।

मध्ययुगीन निर्गुण साधकों की भाँति 'पेमी' जी ने भी अद्वैतवादी दर्शन के सामान्य सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए जीव तथा परब्रह्म की स्वाभाविक अभेद्यता अथवा शाश्वत सौहार्द्रता का प्रचुर परिमाण में उल्लेख किया है। पदार्थवाद की अनीश्वरवादी धारणा का विरोध करते हुए उन्होंने मानव की विभिन्न विभाजक रेखाओं को विनष्ट कर, जनैक्य के पावन एवं उच्चतर स्तर की स्थापना की है। एकेश्वर एवं सर्वेश्वर के पूर्व-स्थापित वादों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने सृष्टि के प्रत्येक अणु को उसी एक सत्व की चिरन्तन ज्योति से समन्वित माना है। वह विश्व के विभिन्न धार्मिक मतान्तरों का निराकरण करते हुए विधाता के विभव-प्रसरण का सर्वत्र समान रूप से अनुभव करते हैं। इस सम्बन्ध में उनके व्यापक दृष्टिकोण का एक सुन्दर निदर्शन देखिए :—

पेमी हिन्दू तुरक में, हर रंग रहौ समाय।
देवल और मसीत में, दीप एक ही भाय ॥

रागात्मिका श्रद्धा और व्यवसायात्मिका प्रज्ञा से युक्त साधकों ने संसृति के प्रत्येक भूखण्ड तथा समय के प्रत्येक अंश में ठीक इसी प्रकार की भावाभिव्यक्ति की है। विश्व-मैत्री तथा धार्मिक समष्टि की इसी विचार-प्रणाली का संप्रेषण करते हुए ईरान के प्रसिद्ध कवि और विचारक उमर खय्याम ने भी अपने साहित्य में एक स्थल पर कहा है :—

बुतखानओ काबा खानए बंदगी अस्त,
नाकूस जदन तरानए बंदगी अस्त।
मेहराबो कलीसाओ तसबीहो सलीब,
हक्का कि हमा निशानए बंदगी अस्त ॥

अर्थात् "देवालय और काबा, दोनों ही ईश्वर की उपासना के पूजा-स्थल हैं। शंख-वादन से उसी का आवाहन होता है और मस्जिद का महराब, गिरिजाघर की बेदी, एवं मन्दिर की तसबीह तथा माला में उसी सत्य के चिर-प्रकाश का अन्तर्निहन है। वास्तव में उपासना के ये समग्र उपदान उसी आराध्य की स्मृति के चिन्ह हैं।"

'पेमी' जी ने इस विश्व-व्याप्त द्वैत-भावना के सिद्धान्त को अमंगल-विधायक मानकर सृष्टि के प्रत्येक कण को चिरन्तन सत्ता से समन्वित माना है। उन्होंने मानवता के मूल में एक अनश्वर सत्य की भावना के दर्शन किये हैं और हीन से हीन व्यक्तित्व के प्रति भी अपने अमर अनुराग का प्रदर्शन किया है। यह अपनत्व भावना समाज-विकास के अतिरिक्त व्यक्ति के आत्म-विकास में भी विशेष सहायक रहती है। रूढ़ि-प्रधान देश होने के कारण भारतवर्ष में वर्ग-भेद और वर्ण-भेद की समस्या चिरकाल से

प्रचलित रही है, किन्तु ऐसी परिस्थितियों में भी वर्ग-बन्धन का विरोध कर व्यक्ति-मात्र में समत्व की भावना का प्रचार करने वाले व्यक्ति भी इस देश में समय-समय पर जन्म लेते रहे हैं। इस दृष्टि से एक ओर तो भक्ति काल की निर्गुण भक्ति-शाखा के ज्ञानाश्रयी पक्ष के अन्तर्गत प्रस्तुत की गई विचार-धारा पठनीय है और दूसरी ओर आधुनिक काल में गांधी-दर्शन तथा हरिजन-आन्दोलन से प्रभावित साहित्य अवलोकनीय है। व्यक्ति-भेद की स्थिति का विरोध कवि के स्वस्थ चिन्तन का परिचय उपस्थित करता है और इससे उसके मानवतावादी दृष्टिकोण का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। 'पेमी' जी ने भी भेद-सृष्टि करने वाली इस प्रवृत्ति के प्रति विरोध प्रकट करते हुए इसमें विनाशकारी एवं विग्रहात्मक तत्वों के दर्शन कर एक स्थल पर अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है :—

देखौ एक कहौ नित एकै, सुनियो हरिजन लोय।
पेमी सो जन मुकुत न पावै, जिन कर जाने दोय॥

समाज के कल्याण एवं विकास के लिए इस प्रकार के सूत्रों का संयोजन अत्यन्त आवश्यक और वांछनीय है। समानता की यह भावना ही मानव की इतर प्राणियों से श्रेष्ठता की प्रतीक है। मध्ययुगीन अंग्रेज कवि सैमुएल कॉलरिज (Samuel Coleridge) ने भी ईश्वरीय सान्निध्य की उपलब्धि के लिए इसी भावना के अनुशीलन का विधान किया है :—

He prayeth best who loveth best,
All things both great and small;
For the dear God who loveth us,
He made and loveth all.
—(Rhyme of the Ancient Mariner)

अर्थात् "सभी लघु तथा महान् वस्तुओं से श्रेष्ठ व्यवहार करने वाला व्यक्ति ही ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट उपासना करता है, क्योंकि हमसे स्नेह करने वाले प्रिय ईश्वर ने ही सबका सृजन किया है और वह सबसे प्रेम करता है।"

मानव को शान्ति का मनोमुग्धकारी उल्लास प्रदान करने की क्षमता केवल प्रेम में ही है। उसकी रम्य प्रतिच्छाया में उसकी भावनाओं का विकास अत्यन्त व्यवस्थित तथा अनुप्रेरक रूप में होता है। 'पेमी' जी ने इस प्रेम-भाव को अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व में समाहित कर, उसे एक पर्याप्त सीमा तक भव्य एवं उज्ज्वल स्वरूप प्रदान किया है। उसका प्रतिपादन करते समय उन्होंने व्यक्ति की आत्मोन्मुखी तथा सन्तोषशील वृत्तियों को ही अधिक महत्वपूर्ण माना है। शृंगार के लौकिक रूप में अलौकिक के दर्शन करने के अनन्तर उन्होंने उसके बाह्य तथा आन्तरिक, दोनों ही अंशों को अध्यात्म के सूत्रों से आवेष्टित कर डाला है। उसके पार्थिव रूप की निस्सारिता का अनुभव कर उन्होंने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया है, किन्तु प्रेम के इस सात्विक स्वरूप का अनुसरण करने पर मार्ग में जिन असंख्य व्यवधानों का अनुभव करना पड़ता है, उनसे सुरक्षित रहने के लिए

'पेमी' जी ने साथ ही सचेतक के रूप में यह भी कह दिया है :—

तुम जानी कछु पेम मग, बातन-बातन जाय ।
पन्थ मीत को कठिन है, खेलो फाग बनाय ।।

परमात्म-प्राप्ति के पथ में इस प्रकार की दुर्बोधताओं से साधक का बारम्बार साक्षात्कार होता है । प्रेम-मार्ग की इस दुरूहता के प्रति निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन करने वाले सभी कवियों का ध्यान गया है । इस दृष्टि से ज्ञान-मार्गी और प्रेम-मार्गी, दोनों ही शाखाओं के कवियों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार इस मार्ग की कठिनाइयों का वर्णन किया है । 'पेमी' जी के काव्य में हमें इन दोनों ही भक्ति-सिद्धान्तों का समन्वय प्राप्त होता है । यही कारण है कि उन्होंने भी साधक को ईश-दर्शन के लिए कठिन साधना का आश्रय लेने का सन्देश दिया है । प्रेम-मार्ग की इन्हीं जटिल परिस्थितियों को लक्षित कर सन्त कबीर ने एक स्थल पर कहा है :—

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय ।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय ।।

महत् तत्व का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए लघु तत्व को अपनी पृथकता का सर्वथा विलोप कर देना पड़ता है । वास्तव में अभेदात्मक सम्बन्ध की स्थापना तब तक सम्भव ही नहीं हो सकती, जब तक वहाँ भिन्नत्व का किसी भी रूप में संचार रहेगा । यह स्थिति लौकिक और पारलौकिक, दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से सत्य है अर्थात् जिस प्रकार जीवन-गति में स्वाभाविकता का समावेश करने के लिए लोक-क्षेत्र में पति और पत्नी के लिए विरोधी विचार-धाराओं का त्याग करना आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वर के रहस्य को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधक को भिन्नता की बाह्य स्थिति होने पर भी मन से भिन्नता की भावना को हटा देना होता है, अन्यथा उसकी चेतना साधना की ओर पूर्णतः उन्मुख ही नहीं हो पाएगी किन्तु प्रेम के इस सत्य का अनुभव पर्याप्त विस्मृतियों के अनन्तर ही हो पाता है । इसकी प्राप्ति के उपरान्त संयोग एवं वियोग की दोनों ही परिस्थितियों का अत्यन्त मधुर रूप से संचरण होता है । इससे पूर्व भी इन मनः स्थितियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु उस समय ये अधिकांश में एक कृत्रिम वातावरण से अभिग्रस्त रहती हैं । इनकी वास्तविकता का निवारण प्रेम के इस स्वरूप-दर्शन के पश्चात् ही हो पाता है । 'पेम-प्रकाश' के निम्नलिखित पद में हमारे कवि ने इस अनुभूति की उपलब्धि के अनन्तर संयोग के मधुर वातावरण को अत्यन्त सुन्दर और साकार रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है :—

ललित छवि मन में रही समाय ।
जैसे चन्द कन्द अनन्द को, जल में रहत दिखाय ।।
जिमि दरपन मधि रूप अनूपम, करै न कछु दुराय ।
घन तें सूर दुरत नहिं कबहूँ, त्यों पीतम के भाय ।।

प्रथम साक्षात्कार के फल-रूप में इस प्रकार के आनन्द का बोध होना सहज संभव ही है । हिन्दी के रहस्यवादी कवियों ने साधक के इस आनन्द की विस्तारपूर्वक

चर्चा की है। ईश्वरीय रहस्य का ज्ञान प्राप्त होने पर उसके मन से सभी चिन्ताओं का विलोप हो जाता है। उस समय सांसारिक अनुभूतियों का त्याग कर वह पारलौकिक जगत् में विचरण करने लगता है और उसे सर्वत्र ब्रह्म के स्वरूप-विस्तार की ही प्रतीति होने लगती है। 'श्रीमद्भागवत्' में भी चिरन्तन सत्ता का परिचय प्राप्त होने पर ठीक इसी प्रकार के आल्हाद की अनुभूति का कथन किया गया है :—

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टि परावरे ॥

महाकवि जायसी के रत्नसेन (जीवात्मा) की भी पद्मावती (परमात्मा) से प्रेम-स्थापना के उपरान्त ठीक यही अवस्था होती है। उस समय माया का विभेदक आवरण उसके नयनों के सम्मुख से विलीन हो जाता है और निर्मल भावना से परिव्याप्त होने के कारण उसका अन्तर एक असामान्य रस-लोक में विचरण करने लगता है :—

तीनि लोक चौदह खण्ड, सबै परैं मोंहि सूझि ।
प्रेम छाँड़ि, नहीं लोन किछु, जौ देखा मन बूझि ॥

संयोग के इस मधुर वातावरण की उपलब्धि के अनन्तर जीवात्मा के अन्तर में अवस्थित रूप-दर्शन की पिपासा और भी अधिक घनीभूत हो उठती है। उस समय दुर्लभ अमृत-तत्व के लाभ के कारण व्यक्ति की चित्त-वृत्तियाँ कल्मष-विहीन होने लगती हैं और वह उनके प्रति एक चिर आकांक्षा का अनुभव करने लगता है। अपने असीम आनन्द को खो बैठने के लिए वह एक क्षण के लिए भी प्रस्तुत नहीं होता। यह प्रेम-विह्वलता की पराकाष्ठा है। जो साध्य अनन्त साधना के उपरान्त दर्शन दे उसे तनिक-सी असावधानी के कारण अपने से ओझल कर बैठने पर साधक की क्या स्थिति होगी, इसे भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं। 'पेमी' जी भी इस परिस्थिति के लिए प्रस्तुत नहीं हैं और इसी कारण उन्होंने अपनी चिर-संयोग-विषयक मृदु अभीप्सा को इन शब्दों में प्रकट किया है:—

हम सीसी तुम मदसुरा, हम दरपन तुम रूप ।
होय न रीती एक छिन, चितवो प्यारे भूप ॥

वर्तमान युग में भी साधक और साध्य के प्रेम की इस अनन्य भावना को महाप्राण कवि श्रीयुत सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में प्रकारान्तर से लगभग इन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

तुम पथ हो मैं हूं रेणु ।
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन अधरों की वेणु ॥

कवि की यह इच्छा अन्ततः अपूरित ही रह जाती है। सौन्दर्य के निरवधिक तथा सीमा-विहीन रूप से अभिभूत हो वह अपनी दृष्टि को नमित कर लेता है और ज्यों ही दर्शन के लिए नेत्रों को ऊपर की ओर उठाता है, त्यों ही अपने आराध्य के विलीनीकरण से चकित रह जाता है। तथापि इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि यह नवीन विरह पूर्णतः स्थूल होता है और सूक्ष्मतः साधक के मन में ईश्वरीय चेतना अवश्य व्याप्त रहती

है। अतः नेत्रों के समक्ष न रहने पर भी कवि अपने आराध्य को हृदय में अवश्य पाता है। इस प्रकार उसका यह विरह सूक्ष्म मोह से युक्त रहता है। यह मोह-भाव पारलौकिक तत्वों से सम्बद्ध होने के कारण त्याज्य भी नहीं होता। तथापि इतना स्पष्ट है कि इस स्थिति में ईश्वर के नेत्रों से दर्शन न होने पर भी साधक आश्वस्त रहता है और चित्त में सात्त्विक वृत्तियों के संचार से उसकी आत्मा सदैव निर्मल रहती है। विदेशी काव्य का अध्ययन करने पर वहाँ भी इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के कवि श्रीयुत डिगबी मैकवर्थ डौल्बन (Digby Mackworth Dolben) ने भी तत्सदृश परिस्थितियों की स्थिति होने पर अपनी एक कविता में कहा है :—

I said to my heart,—'I am tired,
Am tired of loving in vain;
Since the beauty of the Desired,
Shall not be unveiled again.

अर्थात् "मैंने अपने चित्त में कहा कि परमात्मा के प्रति इस फल-रहित प्रेम से मैं अत्यन्त थक गया हूँ। उस आराध्य के सौन्दर्य का पुनः निरावरण नहीं होगा।"

आदि कालीन महाकवि विद्यापति ने भी प्रेम की इस विकासोन्मुखी प्रवृत्ति की इन्हीं शब्दों में चर्चा की है। उसके तत्सम्बद्ध मूल भाव को स्वीकार करते हुए उनकी अनुभूति के स्वर अत्यन्त सहज रूप में कह उठे हैं :—

जनम अवधि हम रूप निहारिनु,
नयन न तिरपित भेल।

संयोग के इन मदिर क्षणों की इसी स्थल पर अत्यन्त करुण रूप में समाप्ति हो जाती है। इसके उपरान्त वियोग के संस्कार पुनः प्रमुख होने लगते हैं और साधक उन्हीं के परिवेष्टन में आबद्ध होकर पीड़ा का अनुभव करने लगता है। यद्यपि यह सत्य है कि इस विरहावधि के स्थायी होने की कोई सम्भावना नहीं है, तथापि इससे अप्रभावित रह जाना भी स्पष्टतः अमानवीय होगा। फिर भी इतना आवश्यक है कि इस स्थिति में ईश-दर्शन की व्यग्रता तीव्रतम होने पर भी आन्तरिक सन्तोष के एक विशेष भाव से संयुक्त रहे। विप्रलम्भ पक्ष की इस वृत्ति का स्पष्टीकरण करते समय 'पेमी' जी अपनी भावुक मनः स्थिति से परिचालित होकर अत्यन्त विचार-विह्वल हो उठे हैं। उनका कवि-हृदय विरह के इस तीव्र प्रहार को भी अत्यन्त सहृदयतापूर्वक मित्र के मृदु व्यवहार के रूप में ग्रहण करता है। इस अवसर पर उनकी अनुभूति जिस रूप में आविर्भूत हुई है, वह सर्वथा मौलिक एवं प्रशंसनीय है। उसके अनुशीलन से हमें कवि की गहन साधना का अत्यन्त सहज रूप में ही परिचय उपलब्ध हो जाता है :—

हौं तन दुरबल ना करूँ, अंग नहीं मुरझाय।
बिरहा प्यारे मीत को, जनि भूखो रह जाय॥

विरह के प्रति इस दृष्टिकोण को सामान्य खद्योत कवियों की तो सामर्थ्य ही क्या, काव्य-गगन में सूर्य, शशि एवं नक्षत्र-समूह की भाँति उद्भासित होने वाले महाकवि

भी ग्रहण न कर पाए हैं। आधुनिक युग में श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'यशोधरा' नामक काव्य में इसी भाव को ग्रहण करने का प्रयास अवश्य किया है, किन्तु अनुभूति की उस तीव्रतम व्याप्ति के अभाव में उनका यह प्रयत्न छायानुकरण ही सिद्ध होता है ! उनकी यशोधरा विरहाकुल हो सखी से यही कहती है :—

मरण सुन्दर बन आया री ।
विरुद विहगों ने गाया री ।।

'पेमी' जी ने मानव-हृदय को स्थूल एवं सूक्ष्म, दोनों ही प्रकार के तत्वों से समन्वित मानकर बाह्य-दर्शन को भी अत्यन्त आवश्यक माना है। लोकोत्तर तथा सांस्कृतिक उन्नति की उपलब्धि के लिए अन्तः साधना के इस स्वरूप का अवलम्बन सर्वाधिक वांछनीय है। समाज की व्यवहारगत मान्यताओं का अनुसरण करने के कारण व्यक्ति लोकेषणा के साथ-साथ पारलौकिक सत्य के उद्घाटन की भी इच्छा रखता है। इन दोनों अभीप्साओं के सम्मिश्रण से ही उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविकता स्पष्ट होती है। 'पेमी' जी ने इसी को लक्षित करते हुए मानवता के एक विराट् सत्य को इस प्रकार उपस्थित किया है :—

बैकुण्ठा हम में बसे, नरक बसे हम संग ।
पुन्न पाप जुइ चाहिए, ढूंढ लेह सुइ रंग ।।

'पेमी' जी ने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह स्वीकार किया है कि अविद्या के संस्कारों के फलस्वरूप ही साधक 'अहम्' और 'त्वम्' के विभेदक स्वरूप से ग्रस्त रहता है। सत्य की उपलब्धि के लिए इस अविद्या को मन से निराकृत कर देना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः 'अहम्' का निराकरण ही व्यक्ति को 'त्वम्' की ओर प्रेरित कर सकता है अन्यथा चेष्टा करने पर भी वह अपने को सांसारिक माया-बन्धनों से पूर्णतः मुक्त नहीं कर पाएगा। जब साधक स्वार्थ का त्याग कर अपने हृदय की समग्र भावनाओं को ईश्वर के प्रति अर्पित कर देता है तब उसे शान्ति की पूर्णतः उपलब्धि हो जाती है। कविवर बरकत उल्ला 'पेमी' ने परमात्म-मिलन के इस सत्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

तू मैं मैं तू एक हैं, और न दूजा कोय ।
मैं तू कहना जब छुटै, वही वही तब होय ।।

साधक अपने मनोलोक में साध्य से इसी सम्बन्ध-स्थापन की इच्छा रखता है। इसकी प्राप्ति के उपरान्त उसके हृदय में अन्य किसी भी वस्तु के प्रति आकर्षण शेष नहीं रहता। यह सर्वथा स्वाभाविक है। सांसारिकता की ओर आकृष्ट होने पर जहाँ व्यक्ति को क्षणिक् सुखों की उपलब्धि होती है वहाँ उसे कतिपय अभावों का भी सामना करना पड़ता है। संसार में सुख और दुःख में से किसी का भी चिरकाल के लिए आगमन नहीं होता और ये दोनों ही क्रमशः एक दूसरे से अनुसरित होते हैं। अतः इस दुःखमय संसार से छूटकर अलौकिक आनन्द का अनुभव कराने वाली ईश्वरीय अनुभति को प्राप्त करने की सबकी इच्छा रहती है और जो व्यक्ति इस कार्य में सफल हो जाता है,

वह संसार में रहते हुए भी संसार की तृष्णाओं से पृथक् रहता है। उस समय उसकी स्थिति सरोवर में स्थित उस कमल-पत्र के समान ही होती है जो जल में रहकर भी जल का स्पर्श नहीं करता। साधना की यह स्थिति पूर्ण रूप से अनुभव पर आधृत रहती है और ज्ञान के समावेश के लिए इसमें कोई अवकाश नहीं रहता। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने एक पद में कहा है :—

रहें क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैननि में हरि-रस छायो, तहँ भावै किमि कोय॥

कविवर रहीम ने भी तत्सदृश परिस्थितियों में ठीक इसी भाव का उल्लेख किया है :—

जिन नैननि प्रीतम बस्यौ, तहँ किमि और समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

'पेमी' जी के काव्य में अनुभूति को शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ है। संसार के बाह्य आवरण का परित्याग कर उन्होंने अत्यन्त शुद्ध हृदय से अपने अंत: स्थित ब्रह्म के दर्शन किये हैं। मानसिक प्रवृत्तियों की प्रारम्भिक चंचलता को उन्होंने ज्ञान-मार्ग का आधार ग्रहण कर ईश-स्मरण द्वारा अत्यन्त कुशलतापूर्वक पृथक् कर दिया है। उन्हें विश्वास है कि उपासना के निर्मल एवं अध्यावसायपूर्ण मार्ग का परिशीलन करने पर साध्य-तत्व की उपलब्धि निश्चित रूप से होगी। इस प्रकार मन को वश में रखकर अन्त: प्रवृत्तियों को प्रभु-दर्शन की ओर प्रेरित करने पर अन्ततः ईश-रहस्य की निश्चित रूप से प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण निम्नांकित पंक्तियों में वह आत्म-साधन के महत्व पर इतने विस्तारपूर्वक प्रकाश डाल सके हैं :—

भूलै डोलत बैद गुसाईं।
फिरत रसायन काज अयाने, कमधेनु घट माहीं॥
चंचल मन पारा जिमि ता मथ, ध्यान ग्यान रस डारो।
हिय की घरी मनोहर संतो, बिरह-आँच सो बारो॥
तन की भटी सुरत कर धौंकन, निहचैं करो रसोई।
जो प्रभु मया करैं कबि 'पेमी', निर्मल कुन्दन होई॥

'पेमी' जी की कविता में श्रृंगार रस के संयोग-पक्ष की अपेक्षा उसके विप्रलम्भ पक्ष को ही अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। मनस् पक्ष पर आधारित होने कारण उनकी अन्तर्वेदना का स्वरूप सामान्य पीड़ा की अपेक्षा अधिक गम्भीर हो उठा है। उनकी वियोगजन्य विकलता के स्रोत का कहीं अन्त नहीं ! उसकी गति तो निरन्तर प्रवहमान और नूतन है :—

नैननैं लागी रहतै झरी।
भर आवत ढर जात सखी री, जैसे रहट घरी॥

: १३ :

भारतेन्दु की काव्य-प्रवृत्तियाँ

बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म सम्वत् १९०७ में काशी में हुआ था। उनके पूर्वजों में इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह धनी होते हुए भी अत्यन्त सरल और स्वच्छ प्रकृति के व्यक्ति थे। साहित्य और कला के सृजन की प्रवृत्ति उनमें प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। हिन्दी-लेखकों के मध्य उनका कवि, नाटककार और निबन्ध-लेखक के रूप में पर्याप्त सम्मान है। वस्तुतः हिन्दी की गद्य-शैली को नूतन रूप प्रदान कर उसे विकास की ओर उन्मुख करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। भारतेन्दु युग-प्रवर्तक कलाकार थे। साहित्य को निरन्तर गति प्रदान करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। पत्र-सम्पादन द्वारा भी उन्होंने इस दिशा मे हिन्दी को पर्याप्त सहायता प्रदान की है। वह अपनी शैली को विषय के अनुरूप परिवर्तित करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। अपने काव्य और गद्य को बोझिलता से बचाने के लिए उन्होंने अनेक स्थलों पर शिष्ट हास्य की मनोरम योजना की है। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का स्वर सदैव प्रबल रहा है। भाषा की दृष्टि से वह व्यावहारिकता को विशेष महत्व प्रदान करते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अत्यन्त ठोस है और मनोरंजन के साथ-साथ मार्मिक उपदेश भी प्रदान करता है। उनकी मृत्यु सम्वत् १९४१ में हुई।

कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र असाधारण प्रतिभा से युक्त कलाकार थे। उनके युग के अन्य कवियों में श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० प्रताप नारायण मिश्र, श्री श्रीधर पाठक और पं० अम्बिकादत्त व्यास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी कवि भारतेन्दु जी की काव्य-प्रवृत्तियों से अनिवार्यतः प्रभावित रहे हैं। इनमें भी 'प्रेमघन' जी और मिश्र जी के काव्य पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काव्य-धारा का अधिक प्रभाव लक्षित होता है। वस्तुतः उनका मूल उद्देश्य साहित्य-विकास के लए दिशा-निर्देशन का कार्य करना था। इसी कारण जहाँ उन्होंने स्वयं नवीन विषयों को लेकर काव्य-रचना की, वहाँ अपने समकालीन कवियों को भी उस ओर प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियों की योजना द्वारा भी वह कवियों को प्रोत्साहित किया करते थे।

भारतेन्दु बाबू ने अपने काव्य की रचना मुक्तक रूप में की है। छन्द-प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने मुख्यतः दोहा और कवित्त नामक छन्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने काव्य की रचना अधिकतर गेय पदों के रूप में की है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से उन्होंने अपने काव्य में राष्ट्रीय भावना, भक्ति-भावना और प्रकृति-चित्रण को सर्वा-

धिक स्थान प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त समाज-सुधार, मनोरंजन और साहित्य-क्षेत्र की तत्कालीन समस्याओं को लेकर भी उन्होंने काव्य-रचना की है। उन्होंने दीर्घ वर्णनात्मक कविताओं की अधिक रचना नहीं की है और संक्षिप्तता के गुण के कारण ही उनका काव्य पाठक के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव डाल पाता है। अपनी निश्चिन्त प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अपने काव्य की भी अत्यन्त निश्चिन्त आधार पर रचना की है और उसका अध्ययन करने पर पाठक को पूर्ण मनस्तुष्टि की उपलब्धि होती है। आधुनिक युग के काव्य और गद्य का स्वरूप-विधान करने के कारण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को हिन्दी-साहित्य के प्रणेताओं में प्रमुख स्थान उपलब्ध है। उनसे पूर्व का काव्य-साहित्य रीति काल की ऐहिक परम्पराओं मे प्रभावित होने के कारण अपने आप में कुछ बोझिल और गतिरुद्ध हो चुका था। रीति काल की समाप्ति तक आते-आते कृष्ण-भक्ति का स्वरूप और भी अधिक श्रृंगारमय हो गया था। भक्ति के क्षेत्र में श्रृंगार रस का समावेश जनता को कुछ सीमा तक तो ग्राह्य था, किन्तु उसकी अतिशयता होने पर वह स्पष्टतः उसका विरोध करने लगी। इस विरोध को साहित्य में प्रचारित करने की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसी प्रकार परिवर्तित राजनैतिक परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात करना भी उस युग के कवियों से अपेक्षित था। अंग्रेजों के राज्य में जनता को सुविधाओं और असुविधाओं, दोनों का सामना करना पड़ रहा था। उनका सन्तुलित विवेचन उपस्थित करना केवल कवियों का ही कार्य हो सकता था। इस प्रकार यह सत्य है कि उस समय साहित्य की प्रगति के लिए उपयुक्त क्षेत्र के निर्धारण और राष्ट्र-विकास की संभावनाओं तथा आवश्यकताओं की खोज करने की नितान्त आवश्यकता थी। कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इन जटिल परिस्थितियों को समझते हुए इनके निराकरण के लिए एक ओर तो हिन्दी-काव्य के पूर्व वैभव का आधार ग्रहण किया और दूसरी ओर वर्तमान की उन्मेषप्रद गति की ओर दृष्टिपात किया। इस प्रकार उनके काव्य में रीति युग की प्रेम-भावना के साथ-साथ भक्ति युग की आराधना और आधुनिक युग की प्राणमयी राष्ट्रीयता का भी उपयुक्त विकास दृष्टिगत होता है।

साहित्य-क्षेत्र की भाँति ही भारतेन्दु ने समाज में भी अत्यन्त क्रान्तिकारी कार्य किया है। इस प्रकार काव्य और समाज, दोनों के क्षेत्रों में स्थिर वातावरण का विरोध कर नूतन गति का संस्थापन करने के कारण उनका स्थान हिन्दी के क्रान्तिकारी और युग-प्रवर्तक कवियों में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। अपनी असाधारण प्रतिभा के आधार पर उन्होंने समग्र अवरोधों को नष्ट करते हुए अपने समकालीन कवियों को भावना का जो मौलिक सन्देश प्रदान किया, वह भी अपने आप में स्वतन्त्र और प्रभावपूर्ण होने के साथ-साथ अमर स्थायित्व के गुण से युक्त है। इस विषय में उनकी सफलता का मूल रहस्य यही है कि वह प्राचीनता के विरोधी न होने पर भी नवीनता के समर्थक थे और अपने काव्य में सर्वत्र सौन्दर्य तथा रस को प्रमुख स्थान प्रदान करते थे। काव्य के रचयिता होने के साथ-साथ वह उसके संस्कारक भी थे और यही कारण है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में प्राचीन परम्पराओं के दूषणात्मक स्वरूप का परित्याग कर

उनके श्रेय भाग को ही स्वीकार किया है। सुधारक की इसी आत्म-चेतना से युक्त होने के फलस्वरूप उन्होंने अपने काव्य में लोक-मंगल की ओर उन्मुख प्रवृत्तियों की मुख्य रूप से चर्चा की है और उनका प्रयास सर्वत्र यही रहा है कि साहित्य आत्मा का विदूषक न होकर उसका सचेतक रहे।

राष्ट्रीय भावना

क्रान्तिकारी कवि के रूप में भारतेन्दु ने मानव-जीवन और उसके समाज-व्यवहार का विशेष रूप से अध्ययन किया है। इस दिशा में मानवीय गति-विधि का कोई भी पक्ष उनकी लेखनी से अछूता न रहा है। राष्ट्रीय भावनाओं के क्षेत्र में भी उनका कार्य पूर्ण उत्साह और स्फूर्ति से समन्वित रहा है। व्यक्ति को हतोत्साहित और समाज-प्रपीड़ित देखकर उन्होंने एक युगान्तरकारी कवि के अनुरूप ही उसे उद्‌बोधन प्रदान किया है और राष्ट्र को प्रमुख मानकर उसे यह परामर्श दिया है कि वह अपनी आत्मा में राष्ट्र के चेतन स्वरों को पूर्णतः ढाल ले। इस प्रकार उनका प्रयास सर्वत्र यही रहा है कि प्रत्येक सामाजिक अपने हृदय का संस्कार कर एक ओर ईश्वरीय सान्निध्य द्वारा गोपन सत्यों का उद्‌भावन करे और दूसरी ओर राष्ट्र के प्रति प्रेमोद्‌बोधन को गति प्रदान करे।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के काव्य में राष्ट्रीय भावनाओं को प्रमुख अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उनसे पूर्व हिन्दी में राष्ट्रीय काव्य की रचना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। यद्यपि यह सत्य है कि वीरगाथाकालीन कवियों ने पर्याप्त वीर रसात्मक काव्य की रचना की थी और रीतिकाल में भी सर्व श्री भूषण, लाल और सूदन ने अपनी रचनाओं में वीर रस का समावेश किया था, किन्तु उन सभी की कृतियों में राष्ट्रीयता को उपयुक्त स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। वस्तुतः उन्होंने हिन्दू जाति के उत्कर्ष की ओर अधिक ध्यान दिया है और इस कारण उनके काव्य को जातीय काव्य की संज्ञा प्रदान करना अधिक उपयुक्त होगा। इसी प्रकार आश्रयदाता की प्रशंसा के उद्देश्य से लिखे गये काव्य को भी निश्चय ही राष्ट्रीय काव्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने हिन्दी-कवियों को राष्ट्रीय काव्य-रचना की ओर सर्वप्रथम प्रेरित किया। उनके स्वयं के राष्ट्रीय काव्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने इस दिशा में प्रायः दो प्रकार की प्रवृत्तियों का परिचय दिया है :—

(क) भारतवर्ष के प्राचीन और वर्तमान सांस्कृतिक वैभव का पुण्य स्तवन।
(ख) भारतवर्ष की प्राचीन विभूति को पुनः प्राप्त करने के लिए ईश-प्रार्थना और बल-प्रदर्शन की आवश्यकता का प्रतिपादन।

इनमें से प्रथम प्रवृत्ति के अन्तर्गत उन्होंने भारत की सामाजिक और राजनैतिक प्रगति का विशेष रूप से उल्लेख किया है। देश की प्राकृतिक विभूति की चर्चा भी इसी भाग के अन्तर्गत की गई है। मातृ-भूमि और मातृ-भाषा से सम्बन्धित पद भी इसी विभाजन से संलग्न हैं। इस प्रकार के पदों में राष्ट्र-प्रेम की भावना का अत्यन्त उपयुक्त स्तर

पर नियोजन हुआ है। प्राय: कवि ने इनमें सूक्ति रूप से तथ्य-स्थापना की है और संकेत-रूप में प्रत्येक प्रकार के अवरोध के निराकरण की युक्ति भी उपस्थित की है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

भारत में सब भिन्न अति, ताही सों उत्पात।
विविध देस मतहूँ विविध, भाषा विविध लखात॥

देश की उन्नति की भाँति ही भारतेन्दु ने राष्ट्र-भाषा के विकास के प्रश्न को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने हिन्दी-भाषा के महत्व और उसके प्रसार की आवश्यकता को अनेक स्थानों पर प्रतिपादित किया है। अपनी काव्य-रचनाओं की अपेक्षा अपने पत्रों की सम्पादकीय टिप्पणियों में वह इस विषय की अधिक चर्चा किया करते थे। इसी प्रकार देवनागरी लिपि के महत्व का भी उन्होंने यथास्थान उल्लेख किया है। भारतीय भाषाओं में व्याप्त वैविध्य का विरोध उन्होंने इसलिए किया है कि वह भाषा के प्रश्न को लेकर पारस्परिक विवादों का विरोध करते थे। वर्तमान समय में भाषानुसार प्रान्त-निर्माण का प्रश्न भी इसी समस्या की ओर इंगित करता है। भारतेन्दु की दृष्टि इस ओर पहले ही चली गई थी और वह विविध भाषाओं को उत्पात की सृष्टि करने वाली मानते थे। इन विविध भाषाओं के केन्द्रीकरण के लिए वह हिन्दी-भाषा के विकास का समर्थन करते थे और अपने काव्य में इस हिन्दी को ही उन्होंने 'निजी भाषा' कहा है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि विदेशी संस्कृति और भाषा से देश की प्रगति में बाधा उपस्थित होती है और राष्ट्र-भाषा की सहज आत्मीयता से इस बाधा की तुरन्त समाप्ति हो जाती है। यथा :—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

बल-वैभव की उस प्राचीन परम्परा को पुन: प्राप्त करने के लिए कवि ने ईश-स्तुति पर विशेष बल दिया है। ईश्वर की शक्ति को अपरिमित मानकर उन्होंने उसे ही सर्व नियन्ता माना है और अपनी इसी भावना के फलस्वरूप केवल प्रभु के द्वारा ही प्रजा के सामूहिक कल्याण को सम्भव माना है। उनके अनुसार भारतवासियों के वर्तमान दैन्य का कारण उनका आलस्य और उपेक्षा का भाव ही रहा है। अन्यथा प्रारम्भ में उन्हें प्राकृतिक विभूति के रूप में धन, बल और कौशल आदि सभी कुछ प्राप्त थे। इनका विलोप केवल उसी समय हुआ जब व्यक्ति ने अहं भाव को ग्रहण कर मन की पवित्र स्थिति को त्याग दिया और विषय-वासनाओं को मुख्य मानकर उन्हीं में संलग्न रहना प्रारम्भ कर दिया। सर्वद्रष्टा कवि भारतेन्दु ने समष्टि के प्रति अपने सहज अनुराग भाव से प्रेरित हो भारत की इसी जड़ता को समाप्त करने के लिए ईश-प्रार्थना का आधार ग्रहण किया है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ इस दृष्टि से विशेष विचारणीय हैं :—

गयो राज धन तेज, रोष बल ज्ञान नसाई,
बुद्धि बीरता श्री उछाह, सूरता बिलाई।

आलस कायर पनो, निरुद्यमता अब छाई,
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई ।।
सब विधि नासी भारत प्रजा,
कहूँ न रह्यो अवलंब अब ।
जागो जागो करुनायतन,
फेरि जागिहौ नाथ कब ।।

भक्ति-भावना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समन्वयवादी कवि थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने रीतिकालीन कविता से राधा-कृष्ण की प्रेम-भावना और भक्तिकालीन कविता से उनकी आराधना को ग्रहण किया है। भक्ति के क्षेत्र में वह सगुण पक्ष के समर्थक थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने काव्य में निर्गुण के शुष्क बौद्धिक आख्यान का स्थान-स्थान पर विरोध किया है। उनकी भक्ति का मूल तत्व अनुभव-कथन है। केवल कर्तव्य के वशीभूत होकर भक्ति की स्थापना उन्होंने कहीं नही की। इस क्षेत्र में उनकी दृढ़ आस्था थी और इसी के फलस्वरूप वह निश्चिन्त होकर अत्यन्त मनोयोग के साथ आराध्य के प्रति अपने हृदयोद्‌गारों को प्रकट कर सके हैं।

भारतेन्दु की भक्ति-पद्धति अधिकांश में उल्लासमयी है, विषाद के चित्र उन्होंने कम ही उपस्थित किये हैं। उल्लास-मग्न भक्ति मे हमारा तात्पर्य उन पदों से है, जो संयोग की ओर प्रेरित हैं और जिनमें वियोग की विषादमयी अवस्था का अभाव है। इस प्रकार के पदों में कवि ने कहीं विनय-भाव का प्रदर्शन किया है और कहीं अत्यन्त विनम्र रीति से उपालम्भ उपस्थित किये हैं। इनके मूल में प्राय: सर्वत्र प्रशमन का भाव स्थित रहा है और इसी के फलस्वरूप उत्तेजक वातावरण के दोष से ये सर्वथा मुक्त हैं। अनुभूति और रागात्मकता से समन्वित होने के कारण भी इनका सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है। उनके भाव हृदय के भाव हैं और उनमें साधक का प्रेम पूर्णत: छलछला रहा है। यही कारण है कि वे कृत्रिम न होकर पूर्णत: स्वाभाविक हैं ओर अध्येता की चेतना को प्रभावित करने में नितान्त समर्थ हैं। यथा :—

प्यारे, अब तौ सही न जात ।
कहा करौं कछु बनि नहिं आवत, निसि दिन जिय पछितात ।।
जैसे छोटे पिंजरा में कोउ, पंछी परि तड़िपात ।
त्यों ही प्रान परे यह मेरे, छूटन को अकुलात ।।
कछु न उपाव चलत अति व्याकुल, मुरि-मुरि पछरा खात ।
हरीचन्द, खींचौ अब कोउ बिधि, छाँडि पाँच औ सात ।।

भारतेन्दु कृष्ण-भक्त थे और इसी कारण उन्होंने अपने काव्य में भ्रमर-गीत-प्रकरण की भी मुक्त चर्चा की है। उनकी गोपियाँ कृष्ण की अनन्य उपासिका हैं और उनके अतिरिक्त किसी अन्य का चिन्तन उन्हें किसी भी अवस्था में अभीष्ट नहीं है। उद्धव की ज्ञान-चर्चा का वे शान्त चित्त से श्रवण करती हैं, किन्तु उसके अनुगमन की

इच्छा उनके हृदय में क्षण भर को भी नहीं होती। कृष्ण के रूप में उन्होंने जिस सत्य को प्राप्त कर लिया है, उसका परित्याग कर किसी अन्य दिशा की ओर उन्मुख होना उन्हें स्वप्न में भी स्वीकार्य नहीं है। उनका अखण्ड विश्वास है कि कृष्ण की आराधना के मार्ग में आने वाले विभिन्न अवरोध अन्त में शाश्वत सुख का लाभ ही करायेंगे, किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका उनमें न होगी। इसी कारण उद्धव की समग्र वार्ता के समाप्त हो जाने पर वे अपने सहज तर्क के आधार पर उनकी सभी मान्यताओं का खण्डन कर देती हैं। एक इसी प्रकार का भावपूर्ण पद देखिए :—

रहें क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैननि में हरि रस छायो, तहँ भावै किमि कोय ?
जा तन में रमि रहे मोहन, तहाँ ज्ञान क्यों आवै।
चाहौ जितनी बात प्रबोधो, ह्याँ को जो पतियावै ॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।
हरीचन्द, ब्रज कौ कदली बन, काटौ तौ फिर फूलै ॥

नीति-भावना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने काव्य में नीति-भावना को भी पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। नीति-काव्य का उपयोग समाज-नियमन के लिए किया जाता है। अतः उसमें समाज-व्यवस्था के अन्तर्दर्शन द्वारा कवि शिवत्व से युक्त भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। भारतेन्दु जी ने उसकी उपयोगिता को देखते हुए उसके विविध पक्षों को ग्रहण किया है अर्थात् उन्होंने मानव-व्यवहार को संशोधित करने वाले नीति के विभिन्न पहलुओं की चर्चा की है। इस दृष्टि से उन्होंने सत्य-भाषण, मित्रता, लोक-हित, पारस्परिक सह-भाव आदि अनेक श्रेष्ठ गुणों पर प्रकाश डाला है। उनके नीति-काव्य की भाषा सरल रही है और अपनी अन्य रचनाओं की भाँति उन्होंने उसे भी ब्रजभाषा में ही उपस्थित किया है। इस विषय में उनकी प्रतिपादन शैली भी विशेष प्रभावशाली रही है और उसमें उपदेशात्मकता के अतिरिक्त आन्तरिक विश्वास का भी सुन्दर समन्वय हुआ है।

भारतेन्दु जी का नीति-काव्य छन्दोबद्ध होने के अतिरिक्त प्रगीत शैली के रूप में भी उपलब्ध होता है। उनकी नीति-विषयक उक्तियों की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि पाठक उनका अध्ययन करने पर उपदेश-वृत्ति के प्राधान्य का अनुभव नहीं करने पाता। इन उक्तियों के इस सौन्दर्य का रहस्य इस तथ्य में निहित है कि उन्होंने इनमें केवल पौराणिक सामग्री का आधार नहीं लिया, अपितु यथास्थान अपने युग की स्थिति को भी इनमें समाहित कर दिया है। आगे हम पारस्परिक सह-भाव को प्रोत्साहन देने वाली उनकी एक उत्कृष्ट नीति-सम्बन्धी उक्ति उद्धृत करते हैं :—

जगत में घर की फूट बुरी।
घर की फूटहिं सो बिनसाई, सुबरन लंकपुरी ॥
फूटहिं सो सब कौरव नासे, भारत-युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत में, अब लौं नाहिं पुज्यो ॥

फूटहिं सो जयचन्द बुलायो, जवनन भारत धाम ।
जाको फल अब लौं भोगत, सब आरज होय गुलाम ।
फूटहिं सो नव नंद बिनासे, गयो मगध को राज ।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आपु नसे सह साज ।।
जो जग में धन मान और बल अपुनी राखन ।
तौ अपने घर में भूलें हूँ फूट करौ मति कोय ।।

प्रकृति-निरूपण

राष्ट्र-प्रेम और भक्ति-साधना के अनन्तर कवि ने प्राकृतिक सुषमा पर विशेष बल दिया है। प्रकृति की रम्य छवि उनके काव्य में अवसर प्राप्त होते ही साकार हो गई है। यद्यपि यह सत्य है कि रीति काल की शास्त्रीय मर्यादाओं से प्रभावित होने के कारण उन्होंने अपने काव्य की सज्जा करने के लिए उसके बाह्य अंगों का उपयोग किया है और इनके आधिक्य के फलस्वरूप उनके प्रकृति-चित्रों में भी कहीं-कहीं अस्वाभाविकता का समावेश हो गया है, तथापि सूक्ष्म दर्शन और रम्य कल्पना से संयुक्त होने के कारण उनके अधिकांश प्रकृति-चित्रों में मनोहारिता के तत्व का एक विशिष्ट मात्रा में समावेश हुआ है। इन प्रकृति-चित्रों की अपनी एक पृथक् विशेषता यह है कि कवि ने इन्हें उपस्थित करते समय प्रायः भारत की प्राचीन सांस्कृतिक इकाइयों से प्रेरणा ग्रहण की है। इस दृष्टि से उन्होंने या तो वर्ण्य विषय को ही पुरातन संस्कृति से ग्रहण किया है या उसके अंगभूत तत्वों के रूप में उस गत विभव को स्वीकार किया है। गंगा और यमुना आदि सरिताओं के चित्रों का अध्ययन करते समय उनकी यह प्रवृत्ति हमारे समक्ष और भी स्पष्ट हो जाती है। गंगा की पौराणिक गाथा का क्रमिक उद्भावन भी निश्चित रूप से इसी ओर इंगित करता है। इस प्रकार के वर्णन हृदयग्राही प्रतीत होने पर भी कहीं-कहीं रूपक के आग्रह के कारण क्लिष्ट हो गये हैं। आगे हम उनके गंगा-वर्णन से एक उत्कृष्ट छन्द उद्धृत करते हैं :—

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक-सी सोहति,
बिच-बिच छहरति बूंद, मध्य मुक्तामनि पोहति ।
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत,
जिमि नर-गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ।।

गंगा की भाँति ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यमुना नदी की छवि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। गंगा नदी का वर्णन करते समय भी उन्होंने मूलतः उसके तट के सौन्दर्य का चित्रण किया था और उनके यमुना-वर्णन में भी हमें यही प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। यमुना-छवि का उल्लेख करते समय उन्होंने अलंकारिक प्रकृति-चित्रण की प्रणाली को ग्रहण किया है। इस वर्णन में सन्देह और उत्प्रेक्षा नामक अलंकारों की भरमार रही है और प्रायः कवि ने इस कविता की प्रत्येक पंक्ति में इनमें से किसी न किसी अलंकार का प्रयोग किया है। तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनके यमुना-

वर्णन में अलंकार-भार के कारण प्रकृति का शुद्ध चित्रण नहीं हो पाया है। इस कविता के कतिपय पदों के विषय में यह उक्ति सत्य हो सकती है, किन्तु इसके विपरीत इसमें कल्पना-प्रेरित और भावमय अलंकारिक प्रकृति-चित्रण को भी स्थान प्राप्त हुआ है। यथा :—

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए,
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाए।
किधौं मुकुट में लचत उझकि सब निज-निज सोभा,
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप बारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत,
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत।
कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन,
कहूँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन॥

गंगा-यमुना-वर्णन की भाँति ही भारतेन्दु जी ने प्रकृति के अन्य उपादानों का भी सुंदर चित्रण किया है। तथापि वह मुख्यतः प्रकृति के कवि नहीं थे। इसी कारण उनका प्रकृति-निरूपण उतना श्रेष्ठ और मनोहारी नहीं बन पड़ा है, जितना उन्हीं के समकालीन कवि श्रीधर पाठक का रहा है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि उन्होंने अपने युग के कवियों को प्रकृति-चित्रण की दिशा की ओर प्रेरित करते हुए उन्हें रीति काल के शृंगारात्मक प्रकृति-चित्रों की ओर उन्मुख होने से बचाया था।

इस प्रकार हमने देखा कि कविवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की काव्य-चेतना किन्हीं विशिष्ट सीमाओं में बन्दी न होकर विविध दिशाओं की ओर उन्मुख रही है और उन्होंने प्रत्येक प्रकार से अपनी विचार-धारा को मौलिक सज्जा प्रदान की है। उनके सम्पूर्ण काव्य का सृजन मुक्तक रूप में ही हुआ है और वह इसी रूप में हमारे हृदय को निरन्तर अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है। वास्तव में वह काव्य को रस और आनन्द से समन्वित कर उसमें हृदय के राग-पक्ष को पूर्णतः ढाल देते थे और अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वह अपनी प्रत्येक कृति को अध्येता के और भी निकट लाने में सक्षम हो सके हैं।

: १४ :

'हरिऔध' जी का प्रकृति-वर्णन

कवि सम्राट् अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म जिला आजमगढ़ के निजामाबाद नामक स्थान पर सम्वत् १९२२ में हुआ था। वह हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फारसी भाषाओं के अच्छे विद्वान् थे और उन्होंने उनके साहित्य का घर पर ही पर्याप्त मनन किया था। साहित्यिक के रूप में उन्होंने स्वयं भी काव्य, आलोचना और उपन्यास-साहित्य को उपस्थित किया है। उन्होंने हिन्दी में बाल-साहित्य के अभाव को देखकर किशोरावस्था के बालकों के लिए भी मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उनका देहान्त सम्वत् २००२ मे हुआ था। 'हरिऔध' जी द्विवेदी युग के एक प्रमुख और महत्वपूर्ण साहित्यकार थे। अतः उनके साहित्य पर द्विवेदी युग की भाषा तथा भाव-विषयक प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनकी रचनाओं की एक मुख्य विशेषता यह है कि उनमें भाषा के अदम्य प्रवाह के साथ-साथ चुटीला मुहावरापन भी वर्तमान है। उन्होंने भारतीय संस्कृति की मनोवैज्ञानिक आधार पर सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। संस्कृत के वर्णिक छन्दों में अतुकान्त कविता की रचना करने वाले हिन्दी-कवियों में उनका स्थान अग्रगण्य है। भावों की सरलता, गहनता और मार्मिकता से संयुक्त होने के कारण उनका काव्य हृदय का तुरन्त स्पर्श करता है और यही प्रेषणीयता काव्य की मूल विशेषता भी है।

'हरिऔध' जी की काव्य और गद्य, दोनों में ही समान गति थी और आज दोनों ही क्षेत्रों में उनका पर्याप्त सम्मान है। काव्य के क्षेत्र में उन्होंने एक ओर जहाँ 'प्रियप्रवास' और वैदेही-वनवास' जैसे दो वृहत् महाकाव्यों की रचना की, वहाँ 'मर्मस्पर्श' और 'चुभते चौपदे' आदि के रूप में स्वतन्त्र और आकर्षक मुक्तक काव्यों की सृष्टि भी की। इसी प्रकार उन्होंने काव्य-रचना करते समय वर्णिक और मात्रिक, दोनों ही प्रकार के छन्दों से सहायता ग्रहण की और प्रत्येक प्रकार से उनका प्रयास यही रहा कि शैली और भावना की दृष्टि से उनके काव्य में किसी प्रकर की हीनता का समावेश न हो। गद्य के क्षेत्र में भी उन्होंने उपन्यास, निबन्ध तथा आलोचना द्वारा अपनी शैली का विभिन्न रूपों में प्रदर्शन किया है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक रचनाएँ उनकी औपन्यासिक प्रतिभा की सर्वश्रेष्ठ परिचायिका हैं। प्रकृति के प्रति उन्होंने प्रारम्भ से ही एक विशिष्ट अनुराग का अनुभव किया है और काव्य तथा गद्य, दोनों में ही उनका मन अवसर प्राप्त होते ही उसके चित्रण की ओर उन्मुख हो गया है।

भारतीय साहित्य के अन्तर्गत प्रकृति को अनादि काल से प्रतिनिधि स्थान प्राप्त

है। इसका कारण यही है कि हमारी भूमि सुजला, सुफला, और शस्य-श्यामला है तथा हमने सदैव इसकी प्राकृतिक विभूति का उल्लसित हृदय से दर्शन किया है। प्रकृति के प्रति हमारे इस अनुराग का ही यह परिणाम है कि हमने अपनी संस्कृति और साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण करते समय अपने यहाँ की निसर्ग सुन्दर रमणीय भूमि की ओर विशेष दृष्टिपात किया है। हमने प्रकृति को सदैव स्वास्थ्य-समन्वित माना है और उसके प्रति हमारा यह दृढ विश्वास रहा है कि वही हमें निरन्तर पवित्र जीवन, यौवन और अनुरक्ति का सन्देश प्रदान करती आई है। हमारी इस आस्था और अनुराग-भावना का प्रकृति ने भी यथोचित उत्तर दिया है और अपने स्नेहशील क्रोड़ में हमारी समग्र भाव-वृत्तियों को विकसित होने का अवसर प्रदान किया है।

काव्य में प्रकृति-चित्रण की इस आवश्यकता को लक्षित कर हिन्दी-काव्य के स्रष्टाओं ने भी अपनी रचनाओं में उसे व्यापक स्थान प्रदान किया है। काव्य में प्रकृति को अभिरूपित करने की अनेक प्रणालियाँ सम्भव हो सकती हैं और युग-विशेष की परिस्थितियों के अनुकूल उन सभी को हिन्दी-कविता में स्थान प्राप्त होता रहा है। उदाहरणार्थ जहाँ हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों ने प्रकृति के आलम्बनात्मक तथा उपदेशात्मक चित्र अंकित किये हैं, वहाँ तत्कालीन काव्य-प्रवृत्तियों के प्रभाव से रीतिकालीन कवियों ने उसे अलंकारिक तथा उद्दीपनात्मक रूप में उपस्थित करने में अधिक रुचि दिखाई है। तथापि इतना स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग से पूर्व किसी भी कवि ने स्वतन्त्र रूप से प्रकृति-विषयक काव्य का विकास नहीं किया और समष्टि रूप से अध्ययन करने पर भी हम यही पाते हैं कि तब तक इस धारा को विकासमग्न रखने का कोई एक काव्य-प्रवृत्ति-निबद्ध प्रयत्न नहीं किया गया था। वस्तुतः हिन्दी के वीरगाथा काल, भक्ति काल और रीति काल में कवियों का मूल उद्देश्य क्रमशः शौर्य, भक्ति-भावना तथा प्रेम-भाव का कथन करना था और इन तीनों के विषय में अपने विचारों को उपस्थित करते समय उन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य का भी अंगभूत चित्रण उपस्थित किया है। परम्परा-प्रभावित होने के कारण भारतेन्दुयुगीन कवि भी इस दिशा में विशेष अग्रसर नहीं हुए, तथापि पं० श्रीधर पाठक ने अपने प्रकृति-काव्य की स्वतन्त्र रूप में रचना कर कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है और इस प्रकार एक विशिष्ट काव्य-धारा का सूत्रपात किया। उनके उपरान्त आधुनिक काल के अन्य कवियों ने प्रकृति-चित्रण की ओर अधिकाधिक ध्यान देना आरम्भ किया और पाठक जी की भाँति ही कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने अत्यन्त समृद्ध प्रकृति-काव्य को उपस्थित किया।

आधुनिक युग में प्रकृति का सन्देश वहन करने वाले कवियों में सर्वप्रथम श्रीयुत श्रीधर पाठक और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का ही स्थान आता है। इनमें भी व्यापकता की दृष्टि से 'हरिऔध' जी ने ही अधिक कार्य किया है। इसमें सन्देह नहीं कि पं० श्रीधर पाठक की प्राकृतिक चेतना उनकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबुद्ध थी, तथापि सीमित काव्य-सृष्टि के कारण पाठक जी का स्थान महत्व की दृष्टि से 'हरिऔध' जी के पश्चात् ही आता है। 'हरिऔध' जी का साहित्य प्रकृति के हृदयस्पर्शी चित्रों का अमित

आगार है और इस दिशा में अपने समकालीन कवियों में वह निश्चित रूप से अग्रणी हैं। इस ओर किये गये उनके सभी प्रयास अपने आप में इतने रम्य बन पड़े हैं कि सहसा हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो उन्होंने रीति काल की वृद्ध प्रकृति को अमृत का पान करा, उसे नवजीवन का दान दे दिया हो। नैसर्गिक सौन्दर्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने की यह प्रेरणा उनके काव्य में बलवती रही है और उसका अनुशीलन करने के उपरान्त अध्येता निश्चित रूप से नव जन्म प्राप्त कर लेता है।

द्विवेदी युग के कवियों ने प्राय: अपने प्रकृति-काव्य में प्रकृति और ईश्वर के विभिन्न सम्भव सम्बन्धों की चर्चा की है। यह प्रवृत्ति 'हरिऔध' जी, श्री नाथूराम 'शंकर' तथा श्री गोपालशरणसिंह के काव्य में विशेष रूप से उपलब्ध होती है। उनके अतिरिक्त कतिपय अन्य कवियों ने भी प्रकृति-चित्रण की इस विधि को अपनाया है। इसके अन्तर्गत कवि एक ओर तो प्रकृति-सौन्दर्य को ईश्वर-प्रदत्त मानकर उस पर ईश्वरीय कृपा का वर्णन करता है और दूसरी ओर प्रकृति के विविध तत्वों द्वारा ईश्वर के स्तव-गान की कल्पना करता है। यह स्तव-गान साधारणत: अद्भुत प्रतीत होता है, किन्तु ईश्वर-विषयक कल्पना के कारण इसका स्वरूप अधिक चिन्तनीय प्रतीत नही होता। 'हरिऔध' जी ने इस प्रणाली को अपने कवि-जीवन के प्रारम्भिक काल में अपनाया था। आगे हम उनकी 'भेद की बातें' शीर्षक कविता से कुछ पंक्तियाँ उपस्थित कर इस प्रवृत्ति को उदाहृत करते हैं :—

हरि-गुनों को ये सुबह हैं गा रहीं,
सुन हुईं वे मस्त, कर अठखेलियाँ।
चहचहाती हैं, न चिड़ियाँ चाव से,
लहलहाती हैं न उलझी बेलियाँ॥
छा गया हर एक पत्ते पर समा,
पेड़ सब ने सिर दिया अपना नवा।
खिल उठे सब फूल, चिड़ियाँ गा उठीं,
बह गई कहती हुई 'हर हर' हवा॥
है नदी दिन-रात कल-कल बह रही,
बाँध धुन झरने सभी हैं झर रहे।
हर कलेजे में अजब लहरें उठा,
हरि गुनों का गान ये हैं कर रहे॥

'हरिऔध' जी के प्रकृति-चित्रों में केवल परम्परा-पालन की ओर ध्यान नहीं दिया गया है और यही कारण है कि स्थूलता की ओर प्रेरित होने पर भी उन्होंने उसका अधिक आश्रय नहीं लिया है। सूक्ष्म चित्रण-प्रणाली को ग्रहण करते हुए उन्होंने अपने काव्य में प्राकृतिक शोभा का उल्लेख करते समय काल और ऋतु के तत्वों का पर्याप्त ध्यान रखा है। प्रभात, मध्यान्ह, सन्ध्या और रात्रि के विभिन्न प्रहरों में प्रकृति उनके समक्ष विभिन्न रूपों में उपस्थित हुई है। इन सभी रूपों का वास्तविक सौन्दर्य उस

समय निखरता है, जब हम इनका सम्मिलित अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार ग्रीष्म, वसन्त, वर्षा और शरद् के चित्र भी अपनी पृथक्-पृथक् विशिष्टताओं से हमारे मन को जैसे तुरन्त बाँध-सा लेते हैं। प्रबन्धत्व के गुण से संयुक्त होने के कारण 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' में हमें इस प्रकार के चित्र कुछ अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। वैसे मुक्तक रूप में भी कवि ने समय और ऋतु के अनुकूल परिवर्तित होने वाली प्रकृति का उल्लेख किया है। इन सभी प्रकृति चित्रों के अध्ययन से एक ओर जहाँ प्रकृति के प्रति कवि के अनुराग का स्पष्ट बोध होता है, वहाँ दूसरी ओर सूक्ष्म निरीक्षण के प्रति उनकी असीम अभिरुचि की उत्कृष्ट व्यंजना भी उपलब्ध होती है। आगे हम प्रभात और संध्या के दो यथार्थ और नितान्त निष्कलुष चित्र उपस्थित करते हैं :—

(१) हीरक-कण हरिताभ तृणों पर गया उछाला,
बनी दूब रमणीय पहन कर मुक्ता-माला।
मिले कान्तिमय किरण लसे बालू के टीले,
सारे रजकण बने रजत कण-से चमकीले ॥
× × ×
पहने कंचन कलित क्रीट मुक्तावलि माला
विकच कुसुम का हार, विभाकर-कर का पाला।
प्राची के कमनीय अंक में लसित दिखाया,
लिये करों में कमल प्रभात बिहँसता आया ॥

(२) दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवि ने प्रकृति-छटा का विभाजन करते समय प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल परिस्थितियों का संयोजन करने का विशेष ध्यान रखा है। वास्तव में उन्होंने इन चित्रों को उपस्थित करते समय केवल-मात्र कल्पना का ही आश्रय नहीं लिया है, अपितु अनुभूति के आधार पर उनका पूर्ण परिचय भी प्राप्त किया है। सम्बन्ध की इस निकटता का उनके काव्य में इतना अधिक विकास हुआ है कि अनेक स्थलों पर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो प्रकृति और मानव-जीवन वस्तुतः एक हैं और उनमें विशेष भेद की स्थिति नहीं है। इस एकता के कारण ही उनके काव्य में सौन्दर्य का एक विशिष्ट सीमा तक समावेश हो सका है और उनके प्रकृति-चित्र नितान्त भौतिक दृष्टिकोण से समन्वित व्यक्तियों के अन्तस् को भी सन्तुष्ट करने में समर्थ हो सके हैं।

'हरिऔध' जी के प्राकृतिक चित्रों में हर्ष, विषाद और विस्मय, तीनों का अद्भुत सम्मिश्रण दृष्टिगत होता है। हर्ष के चित्र उपस्थित करते समय उन्होंने प्रकृति के कण-कण में जीवन के दर्शन किये हैं और उसके माध्यम से मानवीय उल्लास की स्थापना की है। विषाद का वातावरण अधिकांश में 'प्रियप्रवास' में ही दृष्टिगत होता है। इस

विषय का चित्रण करने के लिए कवि ने कृष्ण के वियोग का प्राकृतिक स्थिति से ग्रन्थि-बन्धन किया है और इस प्रकार शोकपूर्ण चित्रों की अवतारणा की है। विस्मय का भाव 'हरिऔध' जी के काव्य में कम ही है, तथापि जहाँ उन्होंने इस भाव का आश्रय ग्रहण किया है, वहाँ उनकी प्रकृति रहस्यान्वेष्टित हो गई है और उसके मूल में जिज्ञासा की स्थापना कर वह उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया को किसी अदृश्य शक्ति से परिचालित देखने लगे हैं। असीम और विराट् के अज्ञात होने के कारण उन्हें प्रकृति का वह सम्पूर्ण वैभव नितान्त मनोमुग्धकारी और विस्मयपूर्ण लगने लगता है और वह सहसा कह उठते हैं :—

मन्द-मन्द सीतल सुगन्धित समीर चलि,
कत प्राणि-पुंज को पुलकि परसत है।
भूरि-अनुराग-भरी ऊषा को कलित अंक,
कत प्रति बार ह्वै सराग सरसत है ?
'हरिऔध' अन्त ना मिलत इन तन्तन को,
कत ह्वै सुहावनो दिगन्त दरसत है।
काकी सुधा-धार ते सुधाकर सरस बनि,
सारी वसुधा पै न्यारी सुधा बरसत है ?

प्रकृति का इतना व्यापक वर्णन उपस्थित करने पर भी 'हरिऔध' जी केवल प्रकृति के ही कवि नहीं थे। अनके अन्तस् में राष्ट्र-प्रेम की धारा भी अत्यन्त वेगवान् रूप में प्रवाहित रहती थी। यही कारण है कि उनकी चेतना कहीं भी केवल प्रकृति पर ही केन्द्रित न रह सकी है। सत्य तो यह है कि उनके काव्य के अधिकांश में देश-प्रेम और जातीयता की भावना ही प्रमुख रही है और प्रकृति को प्रायः गौण स्थान प्राप्त हुआ है। इतना होने पर भी प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में उनकी सफलता का रहस्य यही है कि उन्हें उसके प्रति अपार प्रेम था। अवसर प्राप्त न होने के कारण वह प्रकृति का सर्वत्र मौलिक रूप में ग्रहण करने में असमर्थ अवश्य रहे हैं, किन्तु जहाँ कही उन्होंने उसका स्वतन्त्र रूपमें वर्णन किया है, वहाँ उनकी प्रतिभा निश्चित रूप से विशेष दर्शनीय है। दूसरे प्रकार के परम्परागत प्रकृति-चित्र उन्होंने अत्यन्त अल्प संख्या में उपस्थित किये हैं और उनका अधिकांश भाग भी केवल 'प्रियप्रवास' में ही दृष्टिगत होता है। उक्त काव्य के नवम सर्ग में प्राप्त होने वाला वृक्ष-लता-वर्णन केवल प्राचीन उपलब्ध परिपाटी का विकसित रूप ही है। इस स्थल पर प्रकृति के शुद्ध वातावरण का प्रायः अभाव रहा है और यही कारण है कि कवि से यत्र-तत्र अनेक गम्भीर भूलें हो गई हैं। उदाहरणार्थ इस सर्ग में जहाँ कवि ने अन्य सभी प्रकार के प्राप्त-अप्राप्त वृक्षों का वर्णन किया है, वहाँ ब्रज-प्रदेश में सर्वाधिक प्राप्त होने वाले करील वृक्ष का वह विस्मरण कर बैठे हैं।

'हरिऔध' जी ने बाह्य एवं अंतः प्रकृति का सामंजस्य उपस्थित कर कहीं-कहीं अत्यन्त मधुर काव्य-सृष्टि की है। उनके प्रकृति-चित्रों का अध्ययन करते समय अध्येता कहीं अपनी ज्ञान-प्रधान वृत्ति के कारण उनमें विश्व की अनित्यता के दर्शन करता है

और कहीं अपनी प्रेम-भावना के फलस्वरूप प्रकृति को संयोग से उल्लसित अथवा वियोग-व्याकुल पाता है। इस प्रकार प्रकृति उसके लिए कहीं भी अपरिचित नहीं रहती और वह उसके प्रत्येक कार्य में अपनी ही आत्मा के स्पन्दन का अनुभव करने लगता है। अपनी सद्भावना का उचित परिचय देने के लिए प्रकृति भी मानव-हृदय के रति, शोक, उत्साह आदि विविध भावों से अभिभूत रहती है। प्राकृतिक उपादानों के प्रति अपने हृदय में इसी विश्वास को छिपाए उनकी विरहिणी बाला बेला, चम्पा, चमेली, केतकी, भ्रमर और कोकिल सभी से अपने प्रिय के विषय में प्रश्न करती है। यद्यपि प्रकृति की ओर से कहीं-कहीं उसे उचित उत्तर प्राप्त नहीं हो पाता, तथापि उसकी अमिट आस्था निश्चय ही नितान्त प्रशंसनीय है। जूही के प्रति उसकी निम्नलिखित मर्मस्पर्शिनी उक्ति इसी कारण इतनी आकर्षक बन पड़ी है :—

आ के जूही-निकट फिर यों बालिका व्यग्र बोली,
मेरी बातें तनिक न सुनीं पातकी पाटलों ने।
पीड़ा नारी-हृदय-तल की नारि ही जानती है,
जूही तू है विकच-वदना शान्ति तू ही मुझे दे॥

अतः यह स्पष्ट है कि 'हरिऔध' जी ने प्रकृति का अनेक रूपों में वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने प्रकृति का उद्दीपन और अप्रस्तुत रूप में ही अधिक कथन किया है, तथापि उसके आलम्बन-चित्र भी उनके काव्य में प्रचुर संख्या में उपलब्ध होते हैं। प्रकृति की नैसर्गिक छवि के प्रति उनके मन में पूर्ण आकर्षण रहा है और उसके मूल में ही उन्होंने मानवात्मा की शान्ति के परिपूर्ण दर्शन किये हैं। वास्तव में प्रकृति उनके समक्ष सदैव आनन्द प्रदान करने वाली महती शक्ति रही है और उसके भव्य स्वरूप को उन्होंने निरन्तर आत्मा का उन्नयन करने वाला मूल तत्व माना है। अनुभूति और कल्पना के योग से उनके प्रकृति-चित्र जितने मुखर हो उठे हैं, उतने उस सम्पूर्ण युग में विरल ही हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'हरिऔध' जी ने प्रकृति का अत्यन्त निकट से अध्ययन किया है। उनके प्रकृति-चित्र प्रायः शालीनता की भावना से ही परिवेष्टित रहे हैं और उग्र भावनाओं का वहाँ अभाव ही रहा है। यही कारण है कि उनका प्रकृति-काव्य अपने माधुर्य में अध्येता के प्राणों को क्रमशः बाँधता चला जाता है और अन्त में उसकी भावनाएँ वातावरण से पूर्णतः तदाकार हो जाती हैं। संस्कृत की काव्य-शैली और छन्द-योजना को ग्रहण करने के कारण 'हरिऔध' जी का काव्य सामान्यतः सौन्दर्य से समन्वित रहा है और प्राकृतिक सुषमा की स्थिति तो रस-संचरण की दृष्टि से अनिर्वचनीय ही हो गई है। कवि ने प्रकृति के हृदय में पूर्णतः अभिनिवेश किया है और वहाँ की प्रत्येक विभूति उनके समक्ष स्पष्ट हो गई है। दोष केवल यही है कि उचित गाम्भीर्य के अभाव में कहीं-कहीं वह वस्तु-स्थिति का उपयुक्त संयोजन नहीं कर सके हैं और उनकी भावनाएँ कृत्रिमता से युक्त हो गई हैं। तथापि इस प्रकार की स्थिति अल्प होने के कारण चिन्तनीय नहीं है और इससे उनके साहित्यिक व्यक्तित्व को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँचती।

: १५ :

'रत्नाकर' जी की कला और रचना

ब्रजभाषा के अनन्य कवि बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ था। उनके पिता ला० पुरुषोत्तमदास अग्रवाल साहित्य-प्रेमी व्यक्ति थे। यही कारण है कि 'रत्नाकर' जी को प्रारम्भ से ही काव्य के प्रति गहन रुचि रही और कालान्तर में उन्होंने हिन्दी को पर्याप्त विभूति प्रदान की। वह हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत, उर्दू एवं फारसी के भी गम्भीर विद्वान् थे। काव्य के साथ-साथ उनकी रुचि आलोचना की ओर भी थी। रीतिकालीन कवि बिहारी की 'सतसई' का जितना श्रेष्ठ सम्पादन उन्होंने किया है, उतना आज तक कोई भी अन्य आलोचक नहीं कर सका। 'रत्नाकर' जी ने अपनी कविता की रचना ब्रज-भाषा में की है। वह खड़ी बोली को इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानते थे। उनकी कृतियों में 'उद्धव-शतक', 'गंगावतरण' और 'हरिश्चन्द्र' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'उद्धव-शतक' में उनकी प्रतिभा हमारे समक्ष अत्यन्त उज्ज्वल रूप में उपस्थित हुई है। कृष्ण-काव्य की परम्परा में इस कृति को एक विशेष स्थान प्राप्त है। 'रत्नाकर' जी के काव्य का एक प्रमुख गुण यह है कि उसमें भावों और भाषा की पूर्ण एकता दृष्टिगोचर होती है। भाषा का माधुर्य और उसका प्रसाद गुण उनके भावों को स्थान-स्थान पर और भी निखार देता है। उन्होंने भाषा को स्वच्छ, अलंकृत और स्वाभाविक बनाने के साथ-साथ भावों को भी एक विशेष नैसर्गिक दिशा की ओर उन्मुख रखा है।

'रत्नाकर' जी ने 'उद्धव-शतक' द्वारा हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-विषयक आख्यान को एक नवीन रीति से उपस्थित किया है। भ्रमर-गीत की प्रचलित परम्परा में उनकी प्रस्तुत कृति अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। कृष्ण-काव्य के अन्य प्रणेताओं ने अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए प्राय: मुक्तक कविता का ही अवलम्ब ग्रहण किया था, किन्तु 'रत्नाकर' जी ने मुक्तक के अंचल में प्रबन्ध का ग्रन्थन कर इस दिशा में सर्वप्रथम अपनी मौलिक प्रतिभा का उत्कृष्ट परिचय दिया। वास्तव में उनका 'उद्धव-शतक' भावना और शैली, दोनों ही की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में एक अभिनव एवं स्तुत्य चरण का प्रारम्भ करता है। 'रत्नाकर' जी ने काव्य की प्रबन्धत्व तथा मुक्तत्व, दोनों ही विधाओं का अत्यन्त कौशलपूर्वक अभिघटन किया है। रचना के ये दोनों ही प्रकार उनके काव्य में अत्यन्त स्पष्ट रूप से विकसित हुए हैं और सामान्यतः उनके स्वरूप में किसी प्रकार की शिथिलता का संचार नहीं हो पाया है। इन दोनों के यथोचित सम्मिश्रण से उनकी कृतियों में सौन्दर्य के तत्व का विशेष रूप से स्फुरण हुआ है और हिन्दी की सम्पूर्ण काव्य-

परम्परा में इस दिशा में केवल उन्हें ही सफलता की उपलब्धि हुई है।

'उद्धव-शतक' में कवि ने निर्गुण का निराकरण कर सगुण-दर्शन में अपना विश्वास व्यक्त किया है। उनका प्रमुख लक्ष्य प्रेम की महत्ता और प्रेषणीयता का दर्शन कराना है। इसी कारण उन्होंने योग और भक्ति की परम्पराओं का विस्तृत रूप से विवेचन किया है और अन्त में शुद्ध तर्कों के आधार पर अपने पक्ष का समर्थन किया है। इस दिशा में उन्होंने मनोविज्ञान का विशेष रूप से आधार ग्रहण किया है और इस प्रकार उन्हें इस प्रसंग में अपने पूर्ववर्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई है। 'रत्नाकर' जी के काव्य में भावना और कला का उत्कृष्ट सामंजस्य दृष्टिगत होता है। वह ब्रज-भाषा साहित्य के अनन्य प्रेमी थे और उसकी भाव-विभूति का उन्होंने विशद रूप से अध्ययन किया था। साहित्य की रचना करते समय उन्होंने अपने पूर्ववर्ती काव्य की समग्र विशेषताओं का अत्यन्त कौशलपूर्वक संचय किया, किन्तु इस प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करते समय उन्होंने अपने समकालीन साहित्य की उपेक्षा कही भी नहीं की है। अपनी भावनाओं का संयोजन करते समय उन्होंने भक्तिकालीन साहित्य का तथा कला का निर्माण करते समय रीतिकालीन साहित्य का विशेष रूप से अनुगमन किया है।

'उद्धव-शतक' की मूल भावना अष्टछाप के कवियों के सगुण प्रतिपादन पर आधारित है। 'रत्नाकर' जी ने इस दिशा में अपने भावों को और भी सुन्दर बनाने के लिए महाकवि सूरदास और नन्ददास के कृष्ण-काव्य से सहायता ग्रहण की है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'उद्धव-शतक' में उनकी भावनाएँ केवल अन्य कवियों के काव्य से चयन-मात्र हैं। उनमें कवि के लिए आवश्यक भावयित्री प्रतिभा पूर्ण रूप से वर्तमान थी और प्रस्तुत काव्य में हमें अनेक स्थानों पर उनकी मौलिकता के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। वास्तव में उन्होंने इसकी कथावस्तु को परम्परा से ग्रहण करते हुए भी उसका अपनी स्वतन्त्र रीति से संस्कार किया है। भावों की हृदय-स्पर्शी व्यंजना के साथ-साथ 'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य में अभिव्यंजना की प्रणाली को भी अत्यन्त सुष्ठु रीति से ग्रहण किया है। अपने भावों का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने अत्यन्त उपयुक्त माध्यम का निर्धारण किया है। उनकी भाषा की मधुरता और शैली की प्रवहमानता विशेष रूप से दर्शनीय है। उनकी कला में किसी प्रकार के अनगढ़ तत्वों का समावेश नहीं है और यही कारण है कि उनकी शैली में प्रच्छन्न रूप से उत्कृष्ट भावों का प्रतिबिम्ब भी दृष्टिगत होता है।

जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल में भावों को अत्यन्त गम्भीर और प्रौढ़ रूप में उपस्थित करने के प्रयास किए गए, उसी प्रकार रीति काल में भी भाषा तथा शैली के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रयोग हुए। 'रत्नाकर' जी ने इन कालगत प्रयोगों से मूल सौन्दर्य-तत्वों का संग्रह कर अपनी शैली का निर्माण किया। ऐसा करते समय उन्होंने बिहारी के काव्य की उज्ज्वलता, पद्माकर के काव्य की मनोहारिता तथा घनानन्द के काव्य की रमणीयता को विशेष रूप से ग्रहण किया है। इन सभी तत्वों के संघटन द्वारा उन्होंने अपने काव्य का अत्यन्त सुन्दर रीति से शृंगार किया है। छन्द की

दृष्टि से भी 'रत्नाकर' जी अपने काव्य की रचना में अत्यन्त सफल रहे हैं। उन्होंने उसमें कवित्त की मनोहारिता का समावेश करने का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रयत्न किया है और प्रत्येक छन्द में उनकी भावनाएँ बिना किसी प्रकार के अवरोध के समाविष्ट हुई हैं। उन्होंने कवित्त के सभी नियमों का अत्यन्त कुशलतापूर्वक पालन किया है और उनके छन्दों का प्रत्येक चरण अपने में भावमय तथा पूर्ण है।

'रत्नाकर' जी की कृतियों में काव्य के माधुर्य तथा प्रसाद, दोनों ही गुण परस्पर ग्रथित रहे हैं। इन दोनों के समन्वय से उनकी शैली में एक विशेष मनोहारिता का संचरण हुआ है। इनके फलस्वरूप उनकी भाषा में सजगता के साथ-साथ हृदय का रंजन करने वाली वृत्ति का भी अत्यन्त सफल समावेश हुआ है। इसी प्रकार शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का भी उनके काव्य में पूर्ण संघटन हुआ है। इन तीनों शक्तियों के परिपोषण से उनकी कृति में एक अपूर्व सौन्दर्य का संचरण हुआ है और व्यंजना की प्रच्छन्न स्थिति से उनके काव्य की रमणीयता में विशेष वृद्धि हुई है। शैली-प्रयोग की दृष्टि से अध्ययन करने पर भी हम देखते हैं कि उनकी शैली कहीं भी बोझिल नहीं हो पाई है। उसमें सहजता के गुण पूर्णतः विद्यमान हैं। इस कारण उनके काव्य में अलंकारों का स्वतः आगमन हुआ है। कवि को उनके लिए पृथक् से कोई प्रयास नहीं करना पड़ा है। वस्तुतः उनकी शैली भावों की अनुगामिनी है और उसकी सज्जा के लिए उन्हें भावों में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हुई। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा एवं वक्रोक्ति आदि तथा शब्दालंकारों में श्लेष, यमक, अनुप्रास एवं पुनरुक्तिप्रकाश आदि उनकी कविता में प्रचुर रूप से उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के अलंकार-प्रयोग से उनके काव्य के भाव-सौन्दर्य में विशेष आकर्षण का विधान हुआ है। काव्यलिंग अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण देखिए :—

टूक टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूँ कठोर बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसि कै उजारयौ मोहिं,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना॥

रस-संचार की दृष्टि से 'उद्धव-शतक' अपने में सर्वथा पूर्ण काव्य है। उसमें श्रृंगार रस के विप्रलम्भ पक्ष तथा शान्त रस का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ है। इस प्रकार उसमें करुण और निर्वेद के भावों का प्रमुख रूप से स्फुरण हुआ है। कवि ने अपने विरह-चित्र को पूर्ण बनाने के लिए कृष्ण और गोपियों को आलम्बन के रूप में तथा ब्रज-भूमि और उद्धव की प्रेम-पत्रिका को उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया है। वैसे इस प्रकरण में कवि को पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। अनुभावों के उचित विधान द्वारा भी कवि ने इसके रस-संयोजन को कुछ न कुछ पुष्टि ही प्रदान की है। इसी प्रकार के कुछ अनुभावों का एक सुन्दर संगुम्फन देखिए :—

आए दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊधव की,
और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।

कहूँ रतनाकर बिलोकि बिलखात उन्हें,
येऊ कर काँपत करेजै धरि लेत हैं ॥
आवति कछूक पूछिबे औ कहिबे की मन,
परत न साहस पै दोऊ दरि लेत हैं ।
आनन उदास साँस भरि उकसौहैं करि,
सौंहैं करि नैननि निचौहैं करि लेत हैं ॥

रस एवं अलंकार के पश्चात् 'रत्नाकर' जी ने लोकोक्तियों का अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रयोग किया है। वास्तव में उनके माध्यम से उन्होंने अपने काव्य की स्वाभाविकता को और भी अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। इस प्रकार की लोकोक्तियाँ उनके काव्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होती हैं। यथा :—

(१) दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा।
(२) ह्वै है तीन-तेरह तिहारी तीन पाँच यह।

'रत्नाकर' जी ने 'उद्धव-शतक' में उद्दीपन में सहायक तत्वों का उल्लेख करते हुए प्रायः सर्वत्र परम्परागत वर्णन-प्रणाली को ही ग्रहण किया है। उनके इस प्रकार के चित्र मौलिकता के अभाव के कारण कहीं-कहीं अप्रासंगिक और प्रभाव-शून्य हो गये हैं। उनका षट्-ऋतु वर्णन का प्रसंग इसी प्रकार का है। इस प्रकरण में कवि ने रूढ़ि का निर्वाह करने के लिए प्रत्येक ऋतु को क्रमशः एक-एक छन्द में उपस्थित किया है। क्षिप्र गति के कारण इसमें उतने हृदयस्पर्शी और रसपूर्ण तत्वों का समावेश नहीं हो सका है जितने उनके अन्य कवित्तों में उपलब्ध होते हैं।

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य में शृंगार रस के विप्रलम्भ पक्ष का अत्यन्त उत्कृष्ट अंकन किया है। उन्होंने इस प्रकार के चित्रों को अत्यन्त संयत और स्वाभाविक रूप में उपस्थित करने का प्रयास किया है। तथापि कहीं-कहीं बिहारी एवं जायसी की ऊहात्मक वर्णन-प्रणाली का समावेश भी उनमें दृष्टिगत होता है। इस प्रकार के अतिशयोक्तिपूर्ण स्थल प्रायः सर्वत्र ही उसी समय प्रकृत स्तर का परित्याग कर कृत्रिम अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हो गये हैं। यथा :—

सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैं कु डंक लागें।
अंक लागें कागद बररि बरि जात है ॥

'रत्नाकर' जी की अन्य रचनाओं में 'हिंडोला', 'कलकाशी', 'हरिश्चन्द्र' और 'गंगावतरण' विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने कतिपय मुक्तक कविताओं की भी रचना की है। रीति युग से प्रभावित होने के कारण इनमें से वह मुक्तक रचनाओं में ही अधिक सफल रहे हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'गंगावतरण' जैसे प्रबन्ध काव्यों में वह नितान्त असफल ही रहे हों, किन्तु मुक्तक की तुलना में उनकी प्रबन्ध-कृतियाँ उतनी सुन्दर कदापि नहीं बन पड़ी हैं। वैसे कला-पक्ष की दृष्टि से उनकी रचनाएँ सम्पूर्ण ब्रज-भाषा-काव्य में अनन्य स्थान रखती हैं। खड़ी बोली के युग में वास करते हुए भी उन्होंने

उसकी उपेक्षा करते हुए केवल ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना की जिस प्रवृत्ति का प्रदर्शन किया है, वह उक्त भाषा के साहित्य के इसी कलागत सौन्दर्य पर आधृत है। भाव-योजना तो किसी भी भाषा में उसी प्रकार की जा सकती है, किन्तु कलात्मक सौन्दर्य का विधान केवल परम्परागत शैलियों के अनुसार ही किया जाता है। यही कारण है कि खड़ी बोली की अर्ध-जागृत कला का परित्याग कर उन्होंने ब्रजभाषा की पुष्ट कला का वरण किया है और बाह्य रूप से अपने काव्य की सम्पूर्ण शरीर-सज्जा उसी के माध्यम से की है।

'गंगावतरण' की रचना करते समय कवि ने पौराणिक गाथाओं से विशेष सहायता ग्रहण की है। इस कृति में सामान्यतः प्रबन्ध काव्य के सभी मुख्य गुण प्राप्त हो जाते हैं। विषय के सीमित हो जाने के कारण कवि ने जहाँ कहीं भी वर्णन को संक्षिप्त करने का प्रयास किया है, वहाँ प्रायः केवल गौण तत्वों का ही परित्याग किया गया है। वैसे रचना-सौन्दर्य की दृष्टि से इस कृति का स्थान 'उद्धव-शतक' के तुरन्त बाद आता है। इसका मूल सौन्दर्य शैली के प्रवाह और गति-विधान में अन्तर्हित है। कवि का लक्ष्य निरन्तर यही रहा है कि गंगावतरण की परिस्थिति को हमारे समक्ष पूर्णतः स्वाभाविक रीति से चित्र-रूप में उपस्थित कर दिया जाए।

गंगा की उस भव्य छवि के दर्शन के उपरान्त प्रकृति के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा, उसका कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन किया है। इसी प्रकार गंगा की उज्ज्वल धारा और उसके मधुर प्रवाह का भी कवि ने अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

बिपुल बेग सौं कबहुँ उमँगि आगे कौं धावति,
सौ-सौ जोजन लौं सुढार ढरतिहिं चलि आवति।
फटिक-सिला के बर बिसाल मन विस्मय मोहत,
मनहुँ विसद-छद अनाधार अम्बर में सोहत ॥

× × ×

रुचिर रजतमय कै बितान तान्यौ अति बिस्तर,
झिरति बूंद सो झिलमिलाति मोतिन की झालर।
ताके नीचें राग-रंग के बहु ढंग जमाए,
सुर बनितन के बृन्द करत आनन्द-बधाए ॥

मुक्तक कृतियों में 'रत्नाकर' जी की 'भीष्म-प्रतिज्ञा' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार की रचनाओं में कवि ने प्रायः किसी एक महत्वपूर्ण प्रसंग को लेकर कल्पना और प्रतिभा के आधार पर उसका विस्तृत व्याख्यान उपस्थित कर दिया है। इनमें कवि की भावनाएँ केवल मूल विषय से ही सम्बद्ध रही हैं और इधर-उधर भटकने का अवकाश उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है। रस की दृष्टि से भी इन कृतियों में स्पष्टतः अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार के रस-वैविध्य की भाँति ही कवि ने प्रत्येक

रचना में उचित रस के निर्वाह पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। यही कारण है कि 'भीष्म-प्रतिज्ञा' में अथ से इति तक बीर रस की अन्तर्व्याप्ति रही है। इसमें कवि ने सर्वप्रथम पृष्ठभूमि में ही बीर रस को स्थापित किया है और तदनन्तर क्रमश: उसका बिकास प्रदर्शित किया है। भीष्म का शौर्य अपने आप में अत्यन्त वेगवान् था और उसकी सम्पूर्ण आर्यावर्त में ख्याति थी। जब उन्होंने युद्ध-स्थल में पाण्डव-सेना के प्रति उसका प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया तब जैसे एक बार ही सम्पूर्ण भू-मण्डल पर आतंक छा गया। उस समय की स्थिति का कवि ने रस की दृष्टि से अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है। यथा :—

भीष्म के बाननि की मार इमि माँची गात,
एकहूँ न घात सव्यसाची करि पावै है।
कहै 'रत्नाकर' निहारि सो अधीर दसा,
त्रिभुवन-नाथ-नयन नीर भरि आवै है॥
बहि-बहि हाथ चक्र ओर ठहि जात नीठि,
रहि-रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है।
इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
भक्त-भय-घालन की कवि उमगावै है॥

भक्ति-काव्य के अतिरिक्त 'रत्नाकर' जी ने नीति-काव्य की भी पर्याप्त मात्रा में रचना की है। वस्तुत: नीति-प्रतिपादन हिन्दी के काव्य में आदि से अन्त तक व्याप्त रहा है और और कवियों ने जीवन में व्यवहार की विविध आदर्श रीतियों को भिन्न-भिन्न शैलियों से अभिव्यक्त किया है। 'रत्नाकर' जी ने सज्जन-प्रतिष्ठा, सत्य-कथन, पारस्परिक हित-चिन्तन आदि विविध सद्भावों को ग्रहण करने पर पर्याप्त बल दिया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने शान्त रस के भक्ति और नीति नामक दोनों पक्षों को सफल अभिव्यक्ति प्रदान की है। उदाहरणार्थ उनके काव्य की निम्नलिखित पंक्तियों में राजा हरिश्चन्द्र की भगवान् विष्णु के प्रति उक्ति देखिए :—

यह सुनि गद्गद् स्वरनि कह्यौ महिपाल जोरि कर,
'करुणासिंध सुजान महा आनन्द 'रत्नाकर'।
अब कोऊ इच्छा रही होहि मन माँहि कहूँ तो,
पै यौं हूँ यह होति सफल वर वाच्य भरत कौ॥
सज्जन कौं सुख होइ, सदा हरि पद गति भावै,
छूटैं सब उपधर्म सत्य निज भारत पावै।
मत्सरता अरु फूट रहन इहिं ठाम न पावै,
कुकबिन कौ बिसराइ सुकबि बानी जग गावै॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'रत्नाकर' जी ने भक्ति काल और रीति काल में प्रतिपादित की गई मूल भावनाओं को मौलिक रूप में उपस्थित किया है।

उनका काव्य हिन्दी-साहित्य के इन दोनों युगों का ऋणी रहते हुए भी पूर्णतः मौलिक रूप से युक्त रहा है। भाव-पक्ष की भाँति कला-पक्ष की चारुता की ओर भी उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में भाषा, अलंकार-सज्जा, शैली-प्रयोग और छन्द-योजना आदि सभी कला-तत्वों की ओर पूर्ण ध्यान दिया गया है। इस दृष्टि से ब्रजभाषा के व्याकरण के आधार पर उनके 'उद्धव-शतक' की भाषा का विवेचन करने पर हम देखते हैं कि वह प्रायः पूर्णतः शुद्ध और निभ्रान्त है। साहित्यिक रसानुगुण से समाविष्ट होने के कारण उनकी भाषा में माधुर्य का विशेष रूप से संचरण हुआ है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का ग्रहण करते समय उन्हें अत्यन्त उपयुक्त स्थलों पर ही प्रयुक्त किया है। इस प्रकार के प्रयोगों मे उनकी भाषा के प्रसाद गुण पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा है। वस्तुतः उन्होंने इस प्रसाद गुण के संरक्षण के लिए ही विविध प्रान्तीय शब्दों को भी अत्यन्त कौशलपूर्वक प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी रचनाओं में काव्य के नाद-सौन्दर्य तथा चित्रोपमता आदि गुणों का भी विशेष रूप से ध्यान रखा है। परिस्थिति का यथावत् अंकन करने में उन्हें पूर्ण सफलता की उपलब्धि हुई है। किसी भी चित्र को उपस्थित करते समय वह उससे सम्बन्धित परिस्थितियों को क्रमिक रूप से ग्रहण करते हैं। इस कारण उनके चित्रों में अभिव्यक्ति का पूर्ण सामंजस्य प्राप्त होता है। मधुर एवं ललित पदावली के प्रयोग के कारण उनके काव्य में संगीत के तत्व का भी यथेष्ट मात्रा में समावेश हुआ है। इसी प्रकार वाग्वैचित्र्य के गुण द्वारा भी उन्होंने अपने काव्य का विशेष रूप से शृंगार किया है। व्यंजना शक्ति द्वारा उन्होंने अपनी भावनाओं को चमत्कारपूर्ण बनाने का अत्यन्त श्लाघ्य प्रयास किया है।

'उद्धव-शतक' में मनस्तत्व के सिद्धान्तों का पूर्ण समावेश दृष्टिगत होता है। कवि ने मनोविज्ञान-सम्मत रीति से अपनी भावनाओं का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतिपादन किया है। इस प्रकार के भाव-प्रकाशन से उनके काव्य का कला-पक्ष भी पर्याप्त समृद्धि को प्राप्त हुआ है। इसके द्वारा उनकी शैली के रम्य आकर्षण में विशेष वृद्धि हुई है और उसमें प्रभावोत्पादन के गुण का कहीं अधिक समावेश हुआ है। इसी प्रकार के एक पूर्वनियोजित तथा घटना-निबन्धन के भाव से युक्त छन्द का उदाहरण देखिए :—

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीन सौं।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यों कान्ह,
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं॥
गहबरि आयो गरो भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयो चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।
नेंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥

कवि की प्रतिभा ऐसे अनेक स्थलों पर हमारे सम्मुख अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में

अवतरित हुई है। इस प्रकार के छन्दों से उनके काव्य का साहित्यिक मूल्य विशेष रूप से अभिवृद्धि प्राप्त कर सका है।

'रत्नाकर' जी ने अपने काव्य में सम्वाद-कथन की प्रणाली को अत्यन्त आकर्षक रूपमें उपस्थित किया है। उनके संवादों में किसी प्रकार की कृत्रिमता के दर्शन नहीं होते। वास्तव में उनका विकास अत्यन्त निसर्ग परिस्थितियों में हुआ है। कथोपकथन का इतना सरस आयोजन करने में केवल कुछ ही कवि सफल हो पाते हैं। इन सम्वादों से उनके छन्दों की गति में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं हुआ है और न ही इनके लिए उन्हें अपनी भावनाओं को संक्षिप्त करना पड़ा है। वास्तव में 'रत्नाकर' जी छन्द-विधान को काव्य के लिए किसी प्रकार का बन्धन नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में उनकी भावनायें अपने युग की नवीनतम मान्यताओं के सर्वथा अनुकूल थीं। वह छन्द को काव्य के लिए सबसे बड़ी सुविधा के रूप में स्वीकार करते थे और छन्द-शास्त्र तथा गीति-तत्व के पारस्परिक सम्बन्ध से उनका पूर्ण परिचय था। यद्यपि गीति-काव्य की दृष्टि से उनके काव्य के कुछ अंशों में शैथिल्य के दर्शन होते हैं, तथापि मुक्तक काव्य की दृष्टि से उनकी काव्य-प्रणाली निश्चय ही अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

: १६ :

'साकेत' का काव्य-सौन्दर्य

कविवर मैथिली शरण गुप्त का जन्म सम्वत् १९४३ विक्रमी में चिरगाँव जिला झाँसी में हुआ था। द्विवेदी युग से लेकर वर्तमान समय तक कविता पर उनका समान रूप से अधिकार रहा है। उनके काव्य का प्रमुख गुण उनकी सरल, स्पष्ट तथा मधुर अभिव्यंजना में सन्निहित है। 'साकेत', 'गुरुकुल', 'यशोधरा', 'भारत-भारती', 'कुणाल-गीत', 'जयद्रथ-वध', 'सिद्धराज', 'द्वापर' तथा 'अजित' आदि सभी काव्यों में उनकी काव्य-प्रतिभा का उन्मुक्त स्फुरण हुआ है। गुप्त जी ने कविता के क्षेत्र में उपस्थित होने वाले प्रत्येक परिवर्तन को युग की सहज अभिलाषा के रूप में ग्रहण किया है। यही कारण है कि उनकी कृतियों में हमें आधुनिक हिन्दी-कविता की प्रत्येक प्रमुख प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। प्रेम एवं सांस्कृतिक गौरव की भावनाओं को उनके काव्य में शीर्ष स्थान उपलब्ध हुआ है। उनकी कविता में कल्पना की अपेक्षा अनुभव के अंश का ही प्राधान्य है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप उनकी कविता के अनेक प्रकरण हृदय का सीधे स्पर्श करते हैं। उन्होंने भारतीय साहित्य में उपेक्षित पात्रों को अपनी रचनाओं में प्राथमिकता दी है। जहाँ 'साकेत' और 'यशोधरा' की रचना उर्मिला और यशोधरा के चरित्रों को स्पष्ट करने के लिए हुई है, वहाँ 'सैरन्ध्री' और 'नहुप' में भी उनकी यही भावना परिलक्षित होती है। अपने काव्य के उपादान ग्रहण करते समय उन्होंने संघर्षमय विश्व के साथ-साथ शान्तिमयी प्रकृति से भी प्रेरणा प्राप्त की है।

कविवर मैथिली शरण गुप्त की 'साकेत' नामक रचना का हिन्दी की आधुनिककालीन काव्य-कृतियों में महत्वपूर्ण स्थान है। उसके प्रणयन द्वारा उन्होंने राम-कथा की प्रचलित परम्परा को उचित विकास और परिष्कार प्रदान करते हुए एक मौलिक दिशा की ओर उन्मुख किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने राम-कथा की मूल भावना को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयास किया है और उसके घटना-क्रम में विशेष अन्तर उपस्थित नहीं किये हैं, किन्तु इतना होने पर भी उनकी कृति इतर राम-काव्यों से भिन्न अस्तित्व रखती है। वस्तुतः 'साकेत' की रचना के उद्देश्यों और उसकी प्रेरणा के विविध स्रोतों में इतर राम-काव्यों के प्रेरक तत्वों से पर्याप्त अन्तर रहा है। इसी प्रकार गुप्त जी ने आधुनिक युग की नवीन जीवन-दृष्टि को अपना कर इस परिवर्तित विचार-धारा के अनुकूल 'साकेत' की कथावस्तु में अनेक मौलिक परिवर्तन किए हैं। इस नवीन कथा-योजना के कारण 'साकेत' के काव्य-सौष्ठव में पर्याप्त वृद्धि हुई है।

हिन्दी में राम-विषयक काव्य-सामग्री का अन्वेषण करने पर हमें सर्वप्रथम

आदि काल में कविवर स्वयंभू की 'रामायण' उपलब्ध होती है, किन्तु जन-प्रचलित भाषा में लिखित न होने के कारण इस काव्य का विशेष प्रचार न हो सका। इसके उपरान्त भक्ति काल में राम के विषय में कबीर और सूर आदि कतिपय कवियों के स्फुट छन्द उपलब्ध होते हैं। तदनन्तर हमें गोस्वामी तुलसीदास का विशाल राम-काव्य प्राप्त होता है। वस्तुतः हिन्दी में राम-काव्य का व्यापक और सुनियोजित प्रणयन मूल रूप से भक्ति काल में ही हुआ था और तत्कालीन कवियों में केवल गोस्वामी तुलसीदास ने ही हमारे सम्मुख राम-भक्ति का सर्वश्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया है। उन्होंने अपने काव्य की सशक्त रचना द्वारा भक्ति काल में सगुण भक्ति के अन्तर्गत राम-भक्ति को लेकर एक पृथक् परम्परा की स्थापना की और उनके समकालीन तथा परकालीन अन्य कवियों ने उनके काव्य मे प्रेरणा लेकर हिन्दी में राम-भक्ति का प्रतिपादन किया। गोस्वामी जी की राम-भक्ति-विषयक रचनाओं में 'रामचरितमानस' का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इस कृति में कवि ने सभी रसों का उपयुक्त संयोजन करते हुए अपने चरित्रों की आदर्श रूप में स्थापना की है। 'साकेत' में गुप्त जी ने इस कृति से यथास्थान प्रेरणा लेते हुए इसमें उपेक्षित कथाओं को भी उचित अभिव्यक्ति प्रदान की है। आगे हम उनकी विविधि काव्य-विशेषताओं पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

गुप्त जी ने 'साकेत' में नव रसों का सुन्दर समावेश करते हुए लक्ष्य की विभिन्नता होने के कारण शान्त रस को मुख्य स्थान प्रदान नहीं किया है। इस विषय में उन्होंने प्रचलित परम्परा का त्याग कर शृंगार रस को मूर्धन्य पर स्थापित किया है और उसके संयोग पक्ष और विप्रलम्भ पक्ष को यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। उर्मिला-जीवन पर आधृत होने के कारण स्पष्टतः इसमें शृंगार रस का सम्बन्ध भी उर्मिला और लक्ष्मण से ही रहा है। इसमें संयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार को अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। आगे हम इन दोनों के स्वरूप पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालेंगे।

संयोग शृंगार

'साकेत' की कथावस्तु का सम्बन्ध मुख्य रूप से राम-वन-गमन से रहा है। अतः इसमें संयोग शृंगार की अभिव्यक्ति के लिए स्वभावतः अधिक अवकाश नहीं रहा है। तथापि इसके प्रारंभिक और अन्तिम परिच्छेदों में संयोग शृंगार को ही प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। इसके प्रथम सर्ग में कवि ने लक्ष्मण और उर्मिला के संयोग से सम्बद्ध अनेक मधुर चित्र अंकित किए हैं। इस दृष्टि से उनके पारस्परिक हास-परिहास-विषयक वर्णन में प्रेम के दिव्य वैभव का सुन्दर समाहार हुआ है। इस प्रकरण में सम्वाद-योजना की चारुता द्वारा कवि ने संयोग शृंगार के स्वरूप को और भी अधिक निखार दिया है। उर्मिला की ओर से लक्ष्मण के प्रति विविध व्यंग्य वचनों की अभिव्यक्ति कराकर उन्होंने इन सम्वादों को और भी अधिक गति प्रदान की है। इसी प्रकार लक्ष्मण के व्यक्तित्व के रौद्र स्वरूप का लोप कर उन्होंने उसे भी विनोदमग्न दिखाया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

ऊर्मिला ने कीर-सम्मुख दृष्टि की,
या वहाँ दो खंजनों की सृष्टि की।
मौन होकर वीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ !
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
"रे सुभाषी, बोल, चुप क्यों हो रहा ?"
पार्श्व से सौमित्रि आ पहुँचे तभी,
और बोले—"लो बता दूँ मैं अभी ॥

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ॥"

× × ×

ऊर्मिला ने लक्ष्य कर प्रिय को, कहा—
"और भी तुमने किया कुछ है कभी,
या कि सुग्गे ही पढ़ाये हैं अभी ?"
"बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही !"
बात यह सौमित्रि ने सस्मित कही ॥

—(प्रथम सर्ग, पृष्ठ-संख्या २८–२९ तथा ३३)

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि 'साकेत' के प्रथम सर्ग में संयोग शृंगार को अत्यन्त मधुर रीति से उपस्थित किया गया है। इस प्रकरण में कवि ने शृंगार रस के प्रेम-सम्वाद, चित्रांकन, शिष्ट परिहास, सौन्दर्य-चित्रण आदि विविध उपकरणों को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसी प्रकार आलोच्य कृति के अन्तिम सर्ग में भी संयोग शृंगार को स्थान प्राप्त हुआ है। जब लक्ष्मण चौदह वर्ष की दीर्घ अवधि के उपरान्त श्री राम के साथ पुनः साकेत में लौटकर आते हैं तब उर्मिला की वियोग-स्थिति तत्क्षण संयोग की सुखद परिस्थिति में परिवर्तित हो जाती है। उस समय कवि ने उन दोनों के चिर-प्रतीक्षित मिलन का निम्नलिखित शब्दों में अत्यन्त भावमय अंकन किया है :—

लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में।
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में ॥

—(साकेत, द्वादश सर्ग, पृष्ठ-संख्या ४९७)

विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका का पार्थक्य होने पर उनकी मनोदशाओं का चित्रण किया जाता है। अनुभूति की तीव्रता और दुःखावेग से युक्त होने के कारण यह रस पाठक की सहानुभूति का तुरन्त स्पर्श कर लेता है अर्थात् पाठक सम्बद्ध नायक अथवा नायिका के प्रति विशिष्ट समवेदना का अनुभव करने लगता है। 'साकेत'

के प्रणयन में गुप्त जी का प्रमुख उद्देश्य काव्य की उपेक्षिता उर्मिला की विरह-भावनाओं का कथन करना ही रहा है। इसी कारण इस कृति में संयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार को अधिक स्थान प्राप्त हुआ है। विरह-प्रतिपादन की दृष्टि से हमें इस कृति में प्राचीन परम्परा-पालन के अतिरिक्त कतिपय नवीन विशेषताएँ भी प्राप्त होती हैं।

गुप्त जी ने उर्मिला के विरह-वर्णन को मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने उसके हृदय की अनेक भावावेगमयी स्थितियों की मार्मिक प्रतिकृति उपस्थित की है। ये सभी भाव विविध दिशाओं की ओर प्रेरित रहे हैं और इनका क्षेत्र शान्ति से लेकर उद्वेग तक प्रसारित रहा है। इसी भाव-प्रबलता के कारण कभी वह उन्मत्तता का अनुभव करने लगती है, कभी हृदय में धैर्य का संचार करती है, कभी भूत काल में अनुभूत किये गये संयोग-सुखों की स्मृति में लीन हो जाती है, कभी अपनी तत्कालीन विरह-पीड़ा से अभिभूत हो उठती है और कभी भविष्य के विषय में अनेक शंकाएँ करने लगती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उसका विरह अनेक प्रकार की भावनाओं से परिचालित रहा है, किन्तु इस स्थान पर यह उल्लेखनीय है कि कहीं-कही विरह में उद्वेग की अतिशयता के कारण उसकी उक्तियाँ कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती हैं।

गुप्त जी ने उर्मिला को विरह-मग्न नारी के रूप में उपस्थित करते समय उसके हृदय में प्रेम-भाव के साथ-साथ कर्तव्य-भाव का भी उचित समन्वय किया है। यद्यपि विरह-भावना से युक्त होने के कारण वह निरन्तर मानसिक अशान्ति का अनुभव करती रहती है, तथापि अपने मन को अधिक दुर्बल न बना कर वह अपनी अपनी संयोग-सुख की इच्छा की अपेक्षा पति के कर्तव्य-पालन को अधिक महत्व प्रदान करती है। कर्तव्य-विमुख लक्ष्मण के साथ संयोग-काल व्यतीत करना उसे कदापि इष्ट नहीं है। इसी कारण कवि ने उसकी निम्नलिखित प्रेममयी और कर्तव्यमयी अवस्थाओं का अद्भुत समन्वय उपस्थित किया है :—

भूल अवधि-सुध प्रिय से, कहती
जगती हुई कभी—'आओ' !
किन्तु कभी सोती तो, उठती
वह चौंक बोलकर—'जाओ !'

—(साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ-संख्या २६७)

इतर रस

'साकेत' में शृंगार रस के अतिरिक्त काव्य के अन्य आठ रसों को भी उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। ये सभी रस सहायक रसों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं और इन्होंने 'साकेत' के काव्य-सौन्दर्य में पर्याप्त अभिवृद्धि की है। इस दृष्टि से इस काव्य के कथानक का क्रमिक विश्लेषणकरने पर हम देखते हैं कि कवि ने शृंगारेतर रसों में से सर्वप्रथम प्रथम सर्ग में लक्ष्मण एवं उर्मिला के पारस्परिक हास-परिहास को व्यक्त करने वाले सम्वादों में हास्य रस की रम्य योजना की है। इसके उपरान्त उन्होंने राम-वन-गमन, दशरथ-

मरण तथा भरत-आगमन के अवसर पर करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। करुण रस से सम्बन्धित स्थलों का हृदय में समवेदना जागृत कराने के कारण विशेष महत्व होता है और इसी कारण संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति ने उसे सर्वश्रेष्ठ रस का स्थान प्रदान किया था। आगे हम राम-वन-गमन के उपरान्त दशरथ की मृत्यु-कालीन करुण उक्ति उद्धृत करते हैं :—

भूपति को जीवन भार हुआ,
बस यह अन्तिम उद्गार हुआ—
"मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके।
आँखों की पुतली निकल पड़ी,
वह यहीं कहीं है विकल तड़ी !
खा कर भी बार-बार झटके—
क्यों प्राण अभी तक हैं अटके ?
हे जीव चलो अब दिन बीते,
हा राम, राम लक्ष्मण सीते !"

—('साकेत', षष्ठ सर्ग, पृष्ठ-संख्या १७६–१७७)

साकेत में प्रयुक्त अन्य रसों में वात्सल्य रस का समावेश माता कौशल्या के राम तथा भरत के प्रति कहे गये स्नेह-वचनों में हुआ है। यद्यपि इस कृति के कथानक में वात्सल्य रस के समावेश के लिए अधिक सम्भावनाएँ नहीं थीं, तथापि गुप्त जी ने उसकी योजना की ओर उपयुक्त ध्यान दिया है। इसी प्रकार राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त सप्तम सर्ग में उनकी अन्तिम क्रिया के अवसर पर कहे गए वचनों में शान्त रस का सुन्दर समावेश हुआ है। गुरु वशिष्ठ द्वारा योग-बल से लंका के राम-रावण-युद्ध का समग्र वृत्तान्त प्राप्त कर लेने और हनुमान द्वारा लक्ष्मण के उपचार के उद्देश्य से संजीवनी बूटी के स्थान पर सम्पूर्ण पर्वत को ले आने से सम्बद्ध कथा-भाग में अद्भुत रस की सृष्टि हुई है। अन्त में एकादश एवं द्वादश सर्ग में लंका-युद्ध का वर्णन करतेसमय कवि ने वीर रस, रौद्र रस, भयानक रस तथा वीभत्स रस की भी यथास्थान अवतारणा की है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साकेत' में हमें सभी रसों से सम्बद्ध चित्र उपलब्ध हो जाते हैं।

कथा-योजना

'साकेत' की कथावस्तु की योजना पर विचार करने के लिए हमें उसमें स्थान तथा घटना, दोनों की एकता पर विचार करना होगा। स्थान-विषयक एकता के सम्बन्ध में सबसे प्रबल तर्क यह है कि उन्होंने प्रस्तुत काव्य की सभी घटनाओं को 'साकेत' में घटित होते हुए दिखाकर उसका नामकरण भी 'साकेत' ही किया है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने प्रस्तुत कृति में उन स्थानों से सम्बद्ध कथा का भी वर्णन किया है जो साकेत नगरी की सीमा में नहीं हैं, किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने इस प्रकार की सभी घटनाओं

को साकेत-स्थल में ही पात्रों द्वारा कथित कराया है। वास्तव में इस आयोजन की आवश्यकता भी उन्हें इस कारण पड़ी कि वह रामायण के प्रचलित कथानक को खण्डित नहीं करना चाहते थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने साकेत नगरी से बाहर घटित होने वाली घटनाओं का स्वतः वर्णन न कर अपनी कृति में स्थान-विषयक एकता का पूर्ण निर्वाह किया है और कतिपय अस्वाभाविकताओं के होने पर भी वह इसमें प्रायः सफल रहे हैं।

स्थान-विषयक एकता की भांति 'साकेत' में घटना-विषयक एकता की योजना की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि उसमें कतिपय स्थलों पर अनुपात-योजना की कुशलता के अभाव में कथानक में निर्जीवता का समावेश हो गया है, तथापि समष्टि रूप में हम उसके घटना-निबन्धन को सफल ही कहेंगे। वस्तुतः इस काव्य में रामायण की घटनाओं को एक नया मोड़ देने का प्रयत्न किया गया है और यही कारण है कि यत्र-तत्र अनावश्यक कथा-विस्तार होने पर भी अपनी मौलिकता और रोचकता के कारण यह कृति सफल ही मानी जाएगी।

प्रकृति-निरूपण

'साकेत' के भाव-पक्ष को समृद्धि प्रदान करने के लिए गुप्त जी ने उसमें प्रकृति के अनेक छविमय चित्रों का भी अंकन किया है। यद्यपि उन्होंने प्रकृति-चित्रण की विविध प्रचलित प्रणालियों में से अधिकांश को ग्रहण किया है, तथापि 'साकेत' में प्राकृतिक उपकरणों के आलम्बनगत तथा उद्दीपनगत चित्रों को ही मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। अतः इस स्थान पर हम भी इन दोनों प्रणालियों की ही विशेष चर्चा करेंगे। आलम्बन के रूप में प्राकृतिक छवि के निरूपण से हमारा तात्पर्य उसके शुद्ध स्वरूप को उपस्थित करने से है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में प्रातःकालीन सूर्य की छवि का अंकन करते समय कवि ने आलम्बनगत वर्णन-प्रणाली का ही आश्रय लिया है :—

सखि, नील नभस्सर में उतरा,
यह हंस अहा ! तरता तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता ॥

—('साकेत', नवम सर्ग, पृष्ठ-संख्या २८५)

इतना होने पर भी 'साकेत' में प्रकृति के आलम्बनगत चित्रों की अपेक्षा उसके उद्दीपनात्मक चित्र ही अधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रों में प्रकृति का सौन्दर्य विरही अथवा विरहिणी को पूर्वकालीन संयोग-स्थिति का स्मरण कराकर उसके हृदय में मिलनेच्छा को तीव्र कर देता है। हिन्दी-काव्य में इस प्रणाली का आश्रय लेना परम्परानुसार प्रचलित हो चुका है और यही कारण है कि गुप्त जी के ऐसे प्रकृति-चित्रण-विषयक छन्दों में रूढ़िवादिता का भी समावेश हो गया है। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का स्वच्छ आधार पर विशद कथन करते हुए विरह-काल में

उनके स्वरूप को उद्दीपनात्मक माना है। उदाहरणार्थ खंजन पक्षी के दर्शन होने पर उर्मिला का निम्नलिखित भाव-प्रतिपादन देखिए :—

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने,
नयन इधर मन भाये !

व्यक्तित्व-कथन

'साकेत' एक चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। अतः उसमें पात्रों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। इस दृष्टि से कवि का लक्ष्य मूलतः उर्मिला के उपेक्षित व्यक्तित्व को प्रकाश में लाना रहा है, किन्तु स्थान-स्थान पर अन्य पात्रों के चरित्र का नूतन दृष्टिकोण से मूल्यांकन करना भी उन्हें अभिप्रेत रहा है। चरित्र-चित्रण को मुख्य स्थान प्रदान न करने पर महाकाव्य के कथानक का संगठन मूलतः घटना-वैविध्य पर आधृत रहता है। वैसे तो ये दोनों ही प्रणालियाँ उपयुक्त हैं, किन्तु सरसता के लिए चरित्र-प्रधान महाकाव्य में ही अधिक सम्भावनाएँ होती हैं। यह रस-विधान संवाद-योजना की कुशलता पर आधारित रहता है। 'साकेत' में कवि ने सम्वाद-योजना की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है और यही कारण है कि उसमें चरित्र-चित्रण को घटना-निबन्धन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

हिन्दी में राम-काव्य की परम्परा का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि आधुनिक युग से पूर्व प्रायः सभी कवियों ने राम और उनके सहयोगी पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उनमें देवत्व की भावना का समावेश कर दिया है। यह प्रवृत्ति संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध नहीं होती, किन्तु हिन्दी-काव्य में इसी का प्राधान्य रहा है। आधुनिक युग में दृष्टिकोण में अन्तर आने के कारण कवियों ने देवत्व के स्थान पर मानवत्व के चित्रण की ओर अधिक ध्यान दिया है। गुप्त जी ने 'साकेत' में भी इस दृष्टिकोण को अपनाने का प्रयास किया है और चरित्र-योजना करते समय उन्होंने राम के अतिरिक्त अन्य सभी पात्रों को मानवीय स्तर पर स्थापित रखा है। मानव-प्रवृत्तियों के आधार पर विश्लेषण करने पर हम उसमें निम्नलिखित दो प्रकार के पात्र पाते हैं :—

(१) **विकसित चरित्र :—**

इस प्रकार के चरित्र स्थिरता से युक्त होने के कारण काव्य में प्रारम्भ से ही विकास को प्राप्त करने लगते हैं और उनमें सभी श्रेष्ठ गुणों का समावेश रहता है। उन पर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और मानवीय गुणों के अतिरिक्त उनमें देवत्व के समावेश की सम्भावनाएँ भी रहती हैं। इस दृष्टि से 'साकेत' में राम, भरत, कौशल्या, सुमित्रा, माण्डवी आदि को इसी चरित्र-वर्ग के अन्तर्गत रखा जाएगा।

(२) **अर्द्ध-विकसित चरित्र :—**

इस प्रकार के चरित्रों पर उनके समीपवर्ती वातावरण का अवश्यम्भावी प्रभाव

पड़ता है और वे निरन्तर वातावरण से परिचालित होकर ही विकास-लाभ कर पाते हैं। 'साकेत' में लक्ष्मण, उर्मिला तथा कैकेयी का स्थान इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है और कवि ने उन्हें अनेक स्थानों पर परिस्थिति-प्रेरित होते हुए दिखाया है।

'साकेत' में चरित्र-चित्रण का तत्व अत्यन्त समृद्ध रूप में वर्तमान रहा है। उसमें पात्रों को उनके प्रसिद्ध काव्य-गत रूपों में ही उपस्थित नहीं किया गया है, अपितु मनोविज्ञान तथा समाज-शास्त्र का आधार लेकर उन्हें यथा-स्थान मौलिक रूप प्रदान किया गया है। उनके पात्रों में सजीवता और स्वाभाविकता का पर्याप्त समावेश रहा है और उन्होंने चरित्र-चित्रण की विविध प्रचलित शैलियों को अपनाकर अपने पात्रों के व्यक्तित्व को अधिकाधिक उद्घाटित करने का प्रयास किया है। आगे हम पात्र के आत्म-कथन के माध्यम से उसके चरित्र-स्पष्टीकरण की प्रणाली मे सम्बद्ध सीता के गान की कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं:—

कहता है कौन कि भाग्य ठगा है मेरा ?
वह सुना हुआ भय दूर भगा है मेरा ।
कुछ करने में अब हाथ लगा है मेरा,
वन में ही तो गार्हस्थ जगा है मेरा ।
वह बधु जानकी बनी आज यह जाया,
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया ।।

—(साकेत, अष्टम सर्ग, पृष्ठ-संख्या २२३)

काव्य-सिद्धान्त-निरूपण

कवि और काव्य-शास्त्र में पारस्परिक सहज सम्बन्ध की स्थिति सम्भव होने पर भी व्यावहारिक क्षेत्र में उतनी लागू नही हो पाती अर्थात् काव्य-शास्त्र का ज्ञाता होने पर भी कवि अपनी कृतियों को उपस्थित करते समय उसके विविध नियमों में पूर्णतः आबद्ध नहीं हो जाना चाहता। प्रत्येक कवि की यह इच्छा होती है कि वह स्वीकृत रचना-नियमों का पालन करते हुए भी आवश्यकतानुसार अपनी मौलिक प्रवृत्ति का परिचय दे। साहित्य की स्वस्थ रचना के लिए यह आवश्यक भी है। इसी स्वस्थता को और भी अधिक सुरक्षित रखने के लिए कविगण साहित्याचार्यों द्वारा निर्धारित काव्य-नियमों का अध्ययन करने के उपरान्त अपनी ओर से भी काव्य-सिद्धान्त-निरूपण का कार्य करते हैं। काव्य-सिद्धान्तों की यह उद्भावना प्रायः उस युग के साहित्य की नवीन धाराओं पर आधृत रहती है और इसमें प्राचीन परम्परा की अपेक्षा युगीन प्रवृत्तियों के पालन की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्य-ग्रन्थों में कतिपय काव्यांगों के विषय में यत्र-तत्र अनेक विचार उपस्थित किए हैं। इस दृष्टि से 'साकेत' में उन्होंने साहित्य-शास्त्र की सर्वाधिक चर्चा की है। इस कृति में कवि-कल्पना, काव्य के वर्ण्य विषय, कला का स्वरूप, काव्य में करुण-रस की स्थिति तथा शब्द-शक्तियों के विषय में स्फुट विचार उपस्थित किये गये हैं। इन विचारों में चिन्तन की गहनता, मौलिकता तथा

अभिव्यक्ति की कुशलता का सफल सामावेश हुआ है। उदाहरणार्थ उनके कला-विषयक निम्नलिखित विचार देखिए :—

ओ अपूर्ण कला उसी की पूर्ति है !
हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही !

—(साकेत, प्रथम सर्ग, पृष्ठ-संख्या ३७)

'साकेत' में नायकत्व

संस्कृत के प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री धनंजय ने अपने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ में नायक (नेता) के गुणों की ओर स्पष्ट निर्देश किया है। उनके अनुसार नायक के व्यक्तित्व में विनय, मधुरता, दक्षता, प्रियभाषिता, परम्परागत पवित्रता, स्थिरता, बुद्धि, उत्साह, कला, शौर्य, तेजस्विता और शास्त्र-विहित धर्म-भावना का अविकल समावेश रहना चाहिए। यथा :—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोका शुचिर्वाल्मीकि रूढ़वंशः स्थिरो युवाः ॥
बुद्धयुत्साहस्मृति प्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥

धनंजय के अतिरिक्त अन्य भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने भी काव्य-नायक के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं, किन्तु समष्टि रूप में सभी ने लगभग इन्हीं गुणों की ओर निर्देश किया है। उपर्युक्त उदाहरण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नायक के व्यक्तित्व में अधिकाधिक श्रेष्ठ गुणों का समन्वय होना चाहिए। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में भी नायक-विषयक चर्चा उपलब्ध होती है और वहाँ भी उसे विशिष्ट गुण-समन्वित व्यक्तित्व से युक्त रखने पर बल दिया गया है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री अरस्तू की नायक के विषय में निम्नलिखित उक्ति देखिए :—

"He must be one who is highly renowned and prosperous."

अर्थात् "उसे (नायक को) विशद कीर्ति तथा समृद्धि से युक्त होना चाहिए।"

वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि अनिवार्य न होने पर भी इनमें अधिकांश गुण नायक के लिए अपेक्षित हैं। वास्तव में नेता के व्यक्तित्व में कथा के सभी सूत्र केन्द्रित रहने चाहिएँ और उसके द्वारा कथा का सम्यक् विकास होना चाहिए। इस दृष्टि से 'साकेत' में नायक की स्थिति का प्रश्न नितान्त विवादास्पद है।

इस विषय में हमें निम्नलिखित तीन मत प्राप्त होते हैं :—

(१) 'साकेत' में अन्य राम-काव्यों की भाँति राम को ही नायक के रूप में उपस्थित किया गया है। यथा :—

"लक्ष्मण और उर्मिला इस प्रबन्ध-काव्य के नायक-नायिका नहीं हैं। गुप्त जी का प्रयत्न तो यही रहा है कि वह इस युग्म को अपने काव्य के नायक नायिका बनावें पर उनके आराध्य राम इसके नायक बन बैठे हैं।"

—श्री विश्वम्भर 'मानव',
(खड़ी बोली के गौरव-ग्रन्थ, पृष्ठ १६५)

(२) 'साकेत' में भरत को नायक का पद प्रदान किया गया है। यथा :—

"उर्मिला और भरत का नायकत्व स्वीकार कर 'साकेत' में पहले-पहल महाकाव्य की वीर-रस-प्रधान पद्धति की उपेक्षा की गई है।"

—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी,
(आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४६)

(३) 'साकेत' एक नायिका-प्रधान काव्य है और इसमें नायक के स्थान पर नायिका उर्मिला के व्यक्तित्व को अधिक व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। इस मत का समर्थन डा० नगेन्द्र ने किया है।

हम उपर्युक्त मतों में से तृतीय मत को ही उपयुक्त मानते हैं। इस दृष्टि से उर्मिला 'साकेत' की नायिका है और पति-पत्नी-सम्बन्ध के कारण लक्ष्मण इस काव्य के नायक हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र, दोनों ने ही इस काव्य में उर्मिला की प्रमुखता को स्वीकार किया है। श्री विश्वम्भर 'मानव' ने 'आर्य सभ्यता की प्रतिष्ठा' को 'साकेत' का कार्य माना है और इस दृष्टि से उसके प्रतिष्ठापक राम को काव्य का नायक कहा है, किन्तु वास्तव में यह मत केवल प्राचीन परम्पराओं में विश्वास का द्योतक है। नवीन परिवर्तित दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्य में 'उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन' कार्य है और चरित्र-प्रधान काव्य होने के कारण इसमें उर्मिला के चरित्र को सर्वाधिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इस प्रकार प्रमुख पात्र होने पर भी राम इस काव्य के नायक नहीं हैं।

उर्मिला को 'साकेत' की नायिका का यह पद प्रदान करने के निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) गुप्तजी ने अन्य पात्रों के प्रति श्रद्धा-भाव रहने पर भी 'साकेत' में उर्मिला के चरित्र को मुख्य स्थान प्रदान किया है और इस दृष्टि से नवम सर्ग की योजना केवल 'उर्मिला' के लिए ही की है। अतः कवि का अन्तर्साक्ष्य उर्मिला को नायिका मानने में सबसे अधिक सहायक रहा है।

(२) काव्य में प्रमुख पात्र फलागम का भोक्ता होता है। 'साकेत' में उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन कार्य है और उर्मिला साधना द्वारा अन्त में मिलन के आनन्द को प्राप्त

कर लेती है। अतः फलागम का भोग करने के कारण वही नायिका है।

(३) उर्मिला के व्यक्तित्व में 'दश-रूपक' में निर्दिष्ट सभी कोमल गुणों की व्याप्ति हुई है और कवि ने उसे केवल नायक के वीरत्व की भावना से ही पृथक् रखा है।

(४) नायक पर कवि का ध्यान निरन्तर केन्द्रित रहना चाहिए। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने स्थान-स्थान पर राम के महत्व का गान अवश्य किया है, किन्तु उनका ध्यान उर्मिला पर ही केन्द्रित रहा है। यही कारण है 'साकेत' में उन्होंने एक ओर तो सभी घटनाओं में नायिका के चरित्र की अन्विति रखी है और दूसरी ओर सभी पात्रों को उर्मिला के त्याग और करुण जीवन की चर्चा करते हुए दिखाया है।

(५) नायक काव्य के मलवर्ती रस का प्रमुख माध्यम होता है। 'साकेत' में करुण रस से पुष्ट विप्रलम्भ शृंगार रस मुख्य है और उसका सम्बन्ध स्पष्टतः उर्मिला से रहा है। अतः इस दृष्टि से भी वह काव्य की नायिका है।

(६) यद्यपि यह सत्य है कि गुप्त जी ने श्रद्धा-भाव से प्रेरित होकर राम और भरत के चरित्रों को भी अत्यन्त कौशलपूर्वक उपस्थित किया है और उनके महत्व को स्थान-स्थान पर गरिमापूर्वक स्वीकार किया है, तथापि कवि का अभीष्ट इस काव्य को अन्य राम-काव्यों से भिन्न रूप में उपस्थित करना रहा है और केवल कवि के श्रद्धा-पात्र होने के कारण ही राम अथवा भरत को काव्य का नायक नहीं माना जा सकता। कवि ने 'साकेत' की सभी घटनाओं को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से उर्मिला से सम्बद्ध रखा है और कहीं-कहीं असफल होने पर भी प्रायः वह इस घटना-निबन्धन में सफल ही रहे हैं।

'साकेत' में उर्मिला के चरित्र को नायिका के रूप में उपस्थित करने में गुप्त जी को सफलता और असफलता, दोनों ही की प्राप्ति हुई है। जहाँ उर्मिला विभिन्न आभिजात्य गुणों से युक्त है, वहाँ भावनात्मक आदर्शवाद के अतिरेक के कारण कहीं-कहीं उसके चरित्र की उदात्तता नष्ट भी हुई है अर्थात् उर्मिला के आदर्श त्याग को व्यंजित करने के लिए कवि ने अत्यधिक भावुक होकर कहीं-कहीं ऐसी उक्तियाँ भी उपस्थित की हैं जो उसके गौरव के अनुरूप नहीं हैं। इसी कारण 'साकेत' में उर्मिला का व्यक्तित्व 'रामचरितमानस' की सीता के सौम्य सौन्दर्य-चित्रण तथा 'कामायनी' की श्रद्धा के सूक्ष्म कल्पनात्मक सौन्दर्य-अंकन से कहीं-कहीं भिन्न हो गया है। उदाहरणार्थ उर्मिला की निम्नलिखित उक्ति में नायिका के गौरव का स्पष्ट अभाव लक्षित किया जा सकता है :—

मेरे चपल यौवन बाल !
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल ॥
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना, फिर खेल मन के, पहन के मणि माल !

पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य रसाल,
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल ।।
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

——(साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ-संख्या ३२५)

उर्मिला के नायिका-रूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने पर हम इसमें गुप्त जी के मौलिक दृष्टिकोण के निम्नलिखित दो रूप पाते हैं :——

(१) **सामाजिक परिवर्तन——**

गुप्त जी के पूर्ववर्ती राम-काव्यों ने अपने युग की सामाजिक स्थिति के अनुकूल वीर-भाव को पोषित करने वाले विराट् पात्र राम को नायक बनाया है, किन्तु गुप्त जी ने वर्तमान सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्म-मर्यादा के स्वन्तत्र संरक्षण पर बल देते हुए उर्मिला जैसी उपेक्षिता नारी को नायिका का पद प्रदान किया है। यह वर्तमान युग के नवीन सामाजिक जीवन-दर्शन के प्रभाव का परिचायक है।

(२) **साहित्यिक दृष्टि——**

सामाजिक दृष्टि में परिवर्तन के साथ-साथ 'साकेत' में कवि ने साहित्यिक दृष्टि से भी अन्तर का विधान किया है। इसमें महाकाव्य की प्राचीन मर्यादाओं की नवीन रीति से व्याख्या की गई है। यही कारण है कि इसमें धीरोदात्त नायक के स्थान पर कोमल-कमनीय नायिका को मूल महत्व प्रदान किया गया है और महाकाव्य की वीर-रस-प्रधान प्रणाली का त्याग किया गया है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'साकेत' नायिका-प्रधान महाकाव्य है और इसमें उर्मिला को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'साकेत' के विषय में लिखा है कि इसमें कवि ने 'महाकाव्य की पद्धति के विरुद्ध साधु भरत को नायक और वियुक्ता उर्मिला को नायिका बनाया है।' कवि की मूल भावना पर विचार करने पर भरत के भाव-प्रतिपादन को नायक के अनुरूप होने पर भी उन्हें नायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह उर्मिला के पति नहीं हैं। गुप्त जी निश्चय ही नायक-नायिका की पति-पत्नी वाली प्राचीन मर्यादा की रक्षा करना चाहते थे। अतः उन्होंने 'साकेत' में लक्ष्मण के चरित्र को भी नवीन रीति से उपस्थित किया है। वास्तव में इस काव्य में 'नायक' का अर्थ मूल पुरुष-पात्र से कुछ भिन्न लेना होगा और लक्ष्मण को नायक कहते समय उर्मिला के नायिका-पद को नायक के पद से अधिक महत्त्व-सम्पन्न मानना होगा। अतः नायक होने पर भी लक्ष्मण का स्थान इस काव्य में गौण है और उर्मिला के चरित्र की व्यापक अभिव्यक्ति उपस्थित करने के कारण यह काव्य नायिका-प्रधान है।

: १७ :

'कामायनी' के नारी-पात्र

महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म सम्वत् १९४६ में तथा मृत्यु सम्वत् १९९४ में हुई थी। उन्होंने कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना तथा निबन्ध आदि साहित्य के सभी अंगों की रचना में अमित उत्साह का प्रदर्शन किया और प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा साहित्य को समृद्धि प्रदान की। उनके 'कामायनी', 'आँसू', 'लहर' तथा 'झरना' आदि काव्य-ग्रन्थ; 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'राज्य श्री' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' आदि नाट्य-ग्रन्थ; 'कंकाल', 'तितली' तथा इरावती' नामक उपन्यास; 'आकाश-दीप', 'इन्द्रजाल' 'प्रतिध्वनि' तथा 'छाया' आदि कहानी-संकलन और 'चित्राधार' तथा 'काव्य और कला' नामक निबन्ध-संग्रह हिन्दी-साहित्य में अपनी पृथक् विशेषता रखते हैं। 'प्रसाद' जी अपने युग के एक महान् साहित्य-स्रष्टा थे। उनकी शैली में एक विशिष्ट गति तथा माधुर्य भावना सन्निहित थी। उनके नाटकों में गुप्तकालीन सभ्यता के आदर्श रूप का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है। सामाजिक क्षेत्र से भी उन्होंने अपने काव्य के उपादान ग्रहण किये हैं।

'प्रसाद' जी के काव्य में अनुभूति, कल्पना और चिन्तन, तीनों का ही सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है। छायावाद और रहस्यवाद का पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्धारित करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। 'कामायनी' उनके सशक्त कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट परिचायक ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने भौतिकता का निराकरण कर अध्यात्मवाद को अधिक श्रेयस्कर माना है। 'श्रद्धा' सर्ग में जीवन के सत्य का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कितने सुन्दर शब्दों में कहा है :—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।।

काव्य में चिन्तन और शौर्य का विशेष रूप से विधान करने के कारण कविवर जयशंकर 'प्रसाद' की गणना विश्व के श्रेष्ठतम कवियों में की जाती है। उन्होंने अपनी

सर्वतोमुखी प्रतिभा के आधार पर हिन्दी-साहित्य को 'कामायनी' और 'आँसू' जैसे दो महान् काव्य-ग्रन्थ प्रदान कर उसे निश्चित रूप से विशेष गौरवान्वित किया है। यद्यपि उन्होंने अपनी विस्तृत कारयित्री प्रतिभा के आधार पर साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र का सिंचन करने में सफलता प्राप्त की थी, तथापि कविता के क्षेत्र में उनका विशेष अनुराग था और उनकी साहित्य-चेतना का अधिकांश भाग इसी ओर प्रवृत्त रहता था। उच्च कोटि की भावनाएँ एवं तदनुरूप भाषा-शैली से संयुक्त होने के कारण उनके काव्य में एक अनिर्वचनीय सौन्दर्य का समावेश हो गया है। उनके काव्य-ग्रन्थों में सौन्दर्य की दृष्टि से 'कामायनी' को ही सर्वोत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। इसमें उनकी काव्य-सम्बन्धी विभिन्न विशेषताएँ समष्टिगत रीति से अपने चरम रूप में उपलब्ध होती हैं। यही कारण है कि इसे विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में अन्यतम स्थान प्राप्त है।

'प्रसाद' जी की नारी-भावना का विश्लेपण करने के लिए हमें 'कामायनी' को ही आधार-ग्रन्थ के रूप में परिगृहीत करना होगा। काव्य की मुक्तक विधा के अन्तर्गत प्रणीत होने के कारण उनकी अन्य काव्य-कृतियों में इसके दर्शन नहीं होते। जीवन की अनेकरूपता का समावेश केवल महाकाव्य में ही सम्भव होता है और यही कारण है कि 'कामायनी' में नारी के प्रति उनकी भावनाओं के सम्यक् प्रतिफलन का पूर्ण अवकाश रहा है। इस कृति में केवल श्रद्धा और इडा नाम्नी दो नारी-पात्रों को ही स्थान प्राप्त हुआ है और नारी के प्रति 'प्रसाद' जी के दृष्टिकोण का विश्लेपण करते समय हमें उन्हीं के व्यक्तित्व की शोध करनी होगी।

श्रद्धा के चरित्र में 'प्रसाद' जी की नारी-भावना मानो पूर्णतः साकार हो गई है। उसके चरित्र का निर्माण करते समय उन्होंने इस तथ्य का सर्वाधिक ध्यान रखा है कि नारी की स्थिति विश्व में पुरुष के समान ही है और प्रेम, सौजन्य आदि कोमल गुणों की समष्टि उसी के चरित्र में अधिक होती है। उन्होंने नारी के हृदय में सदैव उदात्त गुणों के दर्शन किये हैं और उसे पापमयी गर्हित भावनाओं से पूर्णतः पृथक् माना है। उनके अनुसार मानव-जीवन की अनियन्त्रित गति को संयम में बाधकर उसे एक शान्त और निश्चिन्त कर्म-पथ की ओर प्रेरित करने का कार्य नारी द्वारा ही सहज-सम्भव है। इसी कारण उन्होंने उसके आस्था-समन्वित रागात्मक हृदय के विषय में कहा है :—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग-तल में।
पीयूष स्रोत - सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में॥

श्रद्धा के व्यक्तित्व में नारी के समग्र गुण अपने चरम रूप में वर्तमान हैं और उसकी चेतना इस विषय में कहीं भी क्षीण नहीं हो पाई है। इन गुणों में श्रद्धा का हृदय सौन्दर्य-गुणों की ओर विशेष रूप से उन्मुख रहा है। उसकी वृत्तियाँ केवल स्थूल पार्थिव सौन्दर्य की ओर ही उन्मुख नहीं हैं, अपितु उसने शारीरिक शोभा के साथ-साथ मानसिक और आत्मिक रमणीयता के संरक्षण का भी पर्याप्त ध्यान रखा है और उनके अभाव

में व्यक्ति की सत्ता को भी अपूर्ण ही माना है। यह सत्य है कि दैहिक सौन्दर्य का महत्व भी अपने में कम नहीं है, तथापि तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षण करने पर मानसिक और आत्मिक शोभा का महत्व ही अपेक्षाकृत अधिक ठहरता है। इसका कारण यह है कि इन दोनों में सौन्दर्य की सन्निधि में सत्य और शिव का भी योग रहता है। 'प्रसाद' जी ने श्रद्धा के रूप में एक ऐसे नारी-पात्र की सृष्टि की है जिसमें इन तीनों ही सौन्दर्य-वृत्तियों का सफल अन्तर्भाव हुआ है। उसके भौतिक सौन्दर्य का उल्लेख करते समय उन्होंने रम्य परिस्थितियों के संयोजन पर विशेष ध्यान दिया है। श्रद्धा का यह रूप अपने प्रत्येक अंग में एक अपूर्व आकर्षण को छिपाये है। यही कारण है कि मनु को शरीर की इस व्यापक छवि में एक मोहक और अभिराम इन्द्रजाल की प्रतीति होने लगती है। उसके शरीर के सौन्दर्य, सौकुमार्य और आकर्षण का वर्णन 'प्रसाद' जी ने इस प्रकार किया है :—

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ वन बीच गुलाबी रंग॥

मानसिक रूप से भी श्रद्धा में सौन्दर्य-भावना की कुछ कमी नहीं है। उसके अन्तम् में दया, विश्वास, ममता, समर्पण और सेवा आदि मानव की समग्र उदात्त वृत्तियाँ वर्तमान हैं। नारी की मंगलमय छवि मे समाविष्ट होने के कारण उसकी विचार-धारा और भी स्वच्छ हो गई है। मानव-मात्र के इसी कल्याण की आकांक्षा के फलस्वरूप उसकी स्नेह-भावना का स्रोत क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी के प्रति भी नितान्त अबाध गति से प्रवाहित रहा है और उसने सृष्टि के समग्र तत्वों को अपने हृदय की सीमाओं में बाँध लिया है। हिंसा और स्वार्थ-भावना के कल्मष का विरोध कर उसने अन्त तक केवल करुणा के मंगल-पथ की ओर ही संकेत किया है। वह मनु की निराशा को सदैव अपने मधुर व्यवहार से अन्तर्लुप्त करने का प्रयास करती है। भाव-प्रवण और संवेदनशील होने के कारण वह जड़ प्रकृति के प्रति भी सहज अनुराग-भाव का अनुभव करती है। उसके हृदय में रागात्मकता के तत्व का विशिष्ट प्रसार हुआ है और उसने मनु को उसकी एकान्त स्वार्थ-परता के लिए निरन्तर तिरस्कृत किया है। यथा :—

अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा॥
औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ॥

इस प्रकार हमने देखा कि श्रद्धा की आत्मा अपने आप में अत्यन्त महान् है। यद्यपि मनु का व्यवहार श्रद्धा के प्रति नितान्त स्वार्थमय रहा है, तथापि वह अपने क्षमाशील व्यवहार के कारण इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करती। नितान्त कटु अपमान और प्रवंचना को पाकर भी वह सदैव मनु का कल्याण करती है। वस्तुतः उसके मन में सृष्टि के किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष-भावना नही है और यही कारण है कि वह अपराधी मनु और इड़ा, दोनों का ही उन्मुक्त रीति से अभिनन्दन करती है। मानव के लिए उसका सन्देश यही है कि वह व्यर्थ की मानसिक व्यथा का परित्याग कर आशा और स्नेह के सूत्रों से अपने जीवन का निर्माण करे। वह व्यक्ति के मनोबल मे गहन विश्वास रखती है और अपनी आत्मा की इसी शक्ति के आधार पर उसने मनु के अचेतन मन में भी चेतना का संचार किया है। जीवन की प्रत्येक विपम परिस्थिति मे उसने शान्त मनसा से मनु को सम्बल प्रदान किया है और उसे कर्म-पथ के दर्शन कराये हैं। उसकी आत्मा की महानता का परिचय हमें इड़ा के प्रति कहे गये उसके निम्नलिखित वचनों से सहज ही हो जाता है :—

बोली 'तुम से कैसी विरक्ति
तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।
मुझसे बिछुड़े को अवलम्बन
देकर तुमने रखा जीवन॥
× × ×
मैं क्या दे सकती तुम्हें मोल।
यह हृदय! अरे दो मधु बोल!'

श्रद्धा के व्यक्तित्व में नारी-सुलभ लज्जा और काम-भावना का भी अत्यन्त सफल अन्तर्भाव हुआ है। उसकी विशेपता यह है कि वह इस भावना को अपने हृदय के प्रान्तर भाग में अत्यन्त संयत रूप में छिपाये हुए है और इसके व्यग्र रूप के दर्शन हमें वहाँ कहीं भी नही होते। उसकी काम-चेतना वासना की अपेक्षा शुद्ध और सरल प्रेम से प्रेरित रही है। वस्तुतः ईर्ष्या, द्वेष और दम्भ आदि की अपेक्षा वह शम, दम और संयम में अधिक विश्वास रखती है। मनु को आत्म-समर्पण करने से पूर्व वह इस विपय पर उचित चिन्तन करती है और भावना के आवेग के साथ-साथ व्रीड़ा की मधुर छाया भी उसे चारों ओर से परिवेष्टित करती जाती है। 'वासना' सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में हमें उसके हृदय की इस विकास-स्थिति के उपयुक्त दर्शन होते हैं :—

और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
आज जैसे हँस रहा भीतर बढ़ाता चाव।
मधुर व्रीड़ा मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास॥

नारी की समस्त जीवन-अवस्थाओं में उसकी मातृत्व वाली अवस्था ही सर्वोत्कृष्ट है। इस स्थिति को प्राप्त करने के अनन्तर उसके हृदय में जिस शान्ति और माधुर्य

का संचरण होता है वह उसके जीवन के अन्य रूपों में प्रायः अनुपलब्ध ही है। इसके समक्ष उन सब का स्थान निश्चित रूप से गौण ही है। 'प्रसाद' जी ने इस महत्व को स्वीकार करते हुए श्रद्धा के व्यक्तित्व को केवल पत्नी-रूप में ही उपस्थित नहीं किया है, अपितु उसे मातृत्व की मंगल कामनाएँ भी प्रदान की हैं। श्रद्धा के हृदय में मातृत्व के लिए आवश्यक वात्सल्य भाव का नितान्त उपयुक्त सन्निहन हुआ है। यही कारण है कि वह भावी शिशु के सुख और सुविधा के लिए वांछित सभी उपकरणों का अत्यन्त तन्मयता से आयोजन करती है। यद्यपि जननी के अन्तम् की इन मधु-अवस्थाओं से अनजान रहने के कारण मनु अपनी स्वार्थपरता के वशीभूत होकर उसका परित्याग कर देते हैं, किन्तु शिशु के स्नेह के कारण वह सभी कुछ सहन कर लेती है। प्रियतम के साहचर्य की सरसता के अभाव में वह अपने जीवन-क्रम को शिशु की आशा में सहज ही व्यतीत कर देती है। मनु के प्रति कथित उसके निम्नलिखित वाक्यों में मातृत्व की अभिलाषा का अत्यन्त सुन्दर समावेश हुआ है :—

झूले पर उसे झुलाऊँगी,
दुलरा कर लूंगी बदन चूम।
मेरी छाती से लिपटा इस,
घाटी में लेगा सहज घूम॥
वह आवेगा मृदु मलयज-सा
लहराता अपने मसृण बाल।
उसके अधरों से फैलेगी
नव मधुमय स्मिति लतिका प्रवाल॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्रद्धा के चरित्र में भारतीय नारी के सर्वांगीण जीवन का अत्यन्त उपयुक्त समावेश हुआ है। मुख्य पात्री होने के कारण उसके जीवन में स्पष्टतः अनेकरूपता रही है। उसकी भावनाओं का विकास अथ से इति तक पूर्णतः क्रमागत रहा है और हम उसके जीवन को सहज ही निम्नलिखित चार भागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) व्यक्तिगत जीवन
(२) कौटुम्बिक जीवन
(३) सामाजिक जीवन
(४) आध्यात्मिक जीवन

उसके जीवन में इन परिस्थितियों का विकास स्पष्ट ही उत्कर्ष की ओर प्रेरित रहा है और इनमें व्यष्टि से समष्टि की ओर उन्मुख होने की एक विशेष कल्याणमयी भावना सन्निहित है। आगे हम इनमें से प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

व्यक्तिगत जीवन

'कामायनी' के प्रारम्भिक सर्गों में ही हमारे समक्ष श्रद्धा के व्यक्तिगत

जीवन के चित्र उभरने लगते हैं। इस विषय में अपने बाल्यकालीन जीवन का आख्यान करते हुए उसने जिन छन्दों को अभिव्यक्त किया है, वे रस और प्रवाह की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय बन पड़े हैं। उसका लालन-पालन गन्धर्व देश में पिता के असीम दुलार के बीच हुआ था और ललित कलाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके हृदय में अनन्त उत्साह था। हिमालय के अंचल में अपनी भावनाओं को विकसित करने की उसे तीव्र अभिलाषा थी और इसी जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित होकर जब उसने हिमालय की ओर प्रस्थान किया तब उसकी मनु से भेंट हुई और वहीं से उसके कौटुम्बिक जीवन का प्रारम्भ हो गया।

कौटुम्बिक जीवन

कौटुम्बिक जीवन के अन्तर्गत कवि ने श्रद्धा और मनु के प्रणय, मनु की उपेक्षा, मानव की उत्पत्ति और श्रद्धा के मनु के पास पुनः जाने का वर्णन किया है। इस सम्पूर्ण अवधि में श्रद्धा का हृदय एक विशिष्ट प्रकार की मधुर चेतना से आवृत्त रहा है और अपने कुटुम्ब का निर्माण करने में वह अत्यधिक संलग्न रही है। प्रथम शिशु के जन्म के अवसर पर जननी के अन्तम् में उद्वेलन और उल्लास की जिन मधुरिम लहरियों का अन्तर्विकास होता है, वे सभी श्रद्धा के हृदय में अमर विभूति बनकर साकार हो गई हैं। कुटुम्ब-पालन के लिए सामान्यतः जिस स्नेह, आशा और विश्वास की अपेक्षा रहती है उन सभी ने श्रद्धा के हृदय में चरम अभिव्यक्ति पाई है और इस दिशा में उसने निश्चय ही विशिष्ट आदर्श उपस्थित किये हैं।

सामाजिक जीवन

श्रद्धा के जीवन का तीसरा पक्ष समाज-व्यवहार से सम्बन्धित है और इस क्षेत्र में उसने सामाजिक कार्यकर्त्री के रूप में पर्याप्त कार्य किया है। समाज-कल्याण की भावनाएँ उसके हृदय में सदैव समान रूप से व्याप्त रही हैं और उसने सदैव व्यक्ति के उत्कर्ष की कामना की है। मनु को व्यष्टि के एकान्त लोक से हटाकर समष्टि की ओर प्रेरित करने का सम्पूर्ण भार उसी पर रहा है। इस विषय में मनु के साथ हुए उसके वार्तालापों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज-दर्शन की व्याख्याता के रूप में उसने 'कामायनी' में अच्छा स्थान बना लिया है। वह विश्व को संकुचित न मानकर एक विशेष प्रकार के औदार्य से समन्वित मानती है और उसकी उदारता को वशीभूत करने के लिए स्वयं भी औदार्य का संयोजन करने वाले प्राणियों में मिल जाने की इच्छुक रहती है! इसी कारण उसने एक स्थान पर मानव से स्पष्ट कहा है :—

यह विश्व अरे कितना उदार।
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार॥

आध्यात्मिक जीवन

श्रद्धा के आध्यात्मिक जीवन के दर्शन 'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्गों में होते हैं। इस स्थल पर आकर उसका जीवन पूर्णतः शान्त हो गया है। यद्यपि इससे पूर्व भी

वह अधिक व्याकुल अथवा चंचल नहीं रही है, तथापि जीवन के इस भाग में उसका व्यक्तित्व निश्चित रूप से अधिक निर्द्वन्द्व तथा निरविकार हो गया है। उसकी आध्यात्मिक चेतना पूर्णतः सजग है और वह निरन्तर भाव-लोक तथा ज्ञान-लोक में समन्वय स्थापित करने के लिए उद्यत रही है। इस सजगता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि उसने केवल स्वयं ही ईश्वरीय तत्व का चिन्तन नहीं किया है, अपितु मनु को भी इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया के रहस्यमय संकेतों से अवगत कराया है।

श्रद्धा ने अपने जीवन में त्याग को सर्वोपरि महत्व प्रदान किया है, किन्तु त्याग के प्रति उसका दृष्टिकोण वैराग्यपरक न होकर अनुरागपरक रहा है। वह जीवन से पलायन नहीं करती, अपितु उसके व्यावहारिक पक्ष में उसका अखण्ड विश्वास है। यही कारण है कि उसने क्षुद्र भौतिक उपकरणों के प्रति अपनी विरक्ति का प्रदर्शन करने पर भी आचार-संयम और शिष्टता के निर्वहन का विशेष ध्यान रखा है। उसके व्यक्तित्व में विश्वास को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और इस विषय में उसने प्रायः अन्तिम सीमा का ही स्पर्श कर लिया है। उसका जीवन अथ से इति तक कर्मशील रहा है और उसने हमारे समक्ष अनेक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किये हैं।

'प्रसाद' जी द्वारा चित्रित दूसरी नारी-पात्र इड़ा है। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने नारी-जीवन के सभी आदर्शों का श्रद्धा के जीवन में समन्वय कर दिया है, तथापि इड़ा के चरित्र को स्पष्ट करते समय भी उन्होंने हमारे समक्ष कुछ विशेष तत्व रखे हैं। श्रद्धा के समान उसका व्यक्तित्व भी द्वयोन्मुख रहा है। इसका कारण यही है कि 'कामायनी' एक रूपक-काव्य है और उसमें इसी के अनुकूल दोहरे व्यक्तित्व वाले पात्रों का समावेश किया गया है। इन पात्रों के चरित्रों का एक पक्ष स्थूल भौतिक तत्वों से सम्बद्ध रहा है और दूसरी ओर उनका अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है। तथापि उनके इन दोनों रूपों में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा है और कवि ने दोनों में संतुलन स्थापित रखने का निरन्तर प्रयास किया है। नारी के व्यक्तित्व में हृदय की रागात्मिका वृत्तियों का स्वाभाविक रूप से सन्निहन रहता है। अतः श्रद्धा का सूक्ष्म रूप उसके स्थूल रूप का बाधक न होकर साधक ही सिद्ध हुआ है। इड़ा की परिस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है और स्थूल तथा सूक्ष्म का भेद उसके चरित्र में नितान्त स्पष्ट हो गया है। 'प्रसाद' जी ने उसे बुद्धि की प्रतीक के रूप में उपस्थित किया है। यही कारण है कि उसका नारीत्व अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया है। इस प्रकार की स्थिति केवल वहाँ रही है जहाँ 'प्रसाद' जी ने उसे बुद्धि की प्रतिमूर्ति के रूप में उपस्थित किया है, अन्यथा यदि हम उसके चरित्र का समष्टिगत रीति से विश्लेषण करें तो हमें निश्चित रूप से उसमें नारी-जीवन की कुछ विशेषताएँ भी प्राप्त हो जाएँगी।

इड़ा का पार्थिव सौन्दर्य श्रद्धा की अपेक्षा अधिक आकर्षक और प्रभावोत्पादक है। यही कारण है कि मनु प्रथम दर्शन में ही श्रद्धा का विस्मरण कर इड़ा के रूप-पाश में आबद्ध हो जाते हैं और अपने जीवन की सम्पूर्ण गति-विधि के संचालन का भार उसी को सौंपकर उसी के संकेतों के अनुसार कार्य करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। 'प्रसाद' जी ने

उसकी आंगिक छवि और उसके प्रभाव का अत्यन्त व्यापक वर्णन किया है। रूपक के वातावरण को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने उसकी शरीर-शोभा का उल्लेख करते समय उभयोन्मुख अथवा श्लिष्ट शब्द-वाक्यों का प्रयोग किया है। इस प्रकार इड़ा के व्यक्तित्व के पार्थिव एवं अपार्थिव, दोनों रूप हमारे समक्ष सहज-स्पष्ट हो गये हैं। उदाहरणार्थ उसके सौन्दर्य का निम्नलिखित चित्रण देखिए :—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल !
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वलतम,
शशि-खण्ड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म पलाश चषक-से दृग,
देते अनुराग विराग ढाल ॥
गुंजरित मधुप के मुकुल सदृश,
वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे,
संसृति के सब विज्ञान ज्ञान ॥

× × ×

त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी,
आलोक वसन लिपटा अराल।
चरणों में थी गति भरी ताल !

मनुष्य के यौवनकालीन जीवन में नारी का प्रवेश स्पष्टतः दो रूपों में होता है। उस समय वह उसके समक्ष या तो पत्नी के रूप में उपस्थित होती है या प्रेमिका के रूप में ! ये दोनों ही रूप परस्पर सर्वथा भिन्न हैं और इनकी अपनी पृथक्-पृथक् मर्यादाएँ हैं। जहाँ पत्नी प्रेम, विश्वास और श्रद्धा के साथ अपना सर्वस्व पति पर न्योछावर कर देती है, वहाँ प्रेमिका इनसे अधिक अथवा अल्प मात्रा में विरक्त रहती है और उसके हृदय में इस प्रकार की वृत्तियों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है। वह अपने रूप द्वारा प्रेमी को आकर्षित करने का प्रयास तो अवश्य करती है, किन्तु अवसर आने पर आत्म-समर्पण से पर्याप्त विमुख हो जाती है। प्रेमी द्वारा सर्वस्व समर्पित कर देने पर भी वह अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व रखने की चेष्टा करती है और इस प्रकार उसकी भावनाओं का पुरुष की भावनाओं से तदाकार नहीं होने पाता। श्रद्धा और इड़ा के व्यक्तित्वों में इसी पत्नी और प्रेमिका का, स्वकीया और परकीया का, अन्तर विद्यमान है। जहाँ श्रद्धा मनु को अपने समग्र सुखों का संयोजक मानकर उसके प्रति अपनी भावनाओं का पूर्ण समर्पण कर देती है, वहाँ इड़ा इस प्रकार नहीं कर पाती। उसका चित्रण 'प्रसाद' जी ने प्रेमिका के रूप में किया है। इस प्रकार कवि ने इड़ा के व्यक्तित्व द्वारा नारी-जीवन के प्रेमिका-रूप का अत्यन्त सफल चित्रण किया है। केवल श्रद्धा के चरित्र का अंकन करते हुए वह इस पक्ष को स्पष्ट नहीं कर सकते थे।

नारी-जीवन का एक सत्य यह है कि स्त्री शारीरिक दृष्टि से अपेक्षाकृत निर्बल होने के कारण अधिक परुष कार्य करने में प्रायः असमर्थ होती है, किन्तु उसमें यह सामर्थ्य निश्चित रूप से वर्तमान रहती है कि वह पुरुष को प्रेरणा प्रदान कर उससे जीवट के अधिकाधिक कार्य करा ले। इड़ा की कार्य-प्रणाली में इसी भावना को परिपोष प्राप्त हुआ है। इसी के फलस्वरूप यद्यपि वह मनु की प्रेरणा-शक्ति बनकर उससे सम्पूर्ण सारस्वत-प्रदेश की व्यवस्था कराती है, किन्तु फिर भी उसकी स्थिति मनु के समक्ष एक निर्बल नारी के अतिरिक्त और कुछ नही होती। जब मनु उस पर वलात् अधिकार करने का प्रयास करते हैं, तव उसकी अवस्था नितान्त शोचनीय और असहाय हो जाती है :—

और एक क्षण वह, प्रमाद का फिर से आया,
इधर इड़ा ने द्वार ओर, निज पैर बढ़ाया।
किन्तु रोक ली गई, भुजाओं से मनु की वह,
निस्सहाय हो दीन दृष्टि देखती रही वह ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' जी ने अपने काव्य में नारी के स्नेह और सेवा से परिपूर्ण आदर्श व्यक्तित्व को एक पृथक् ढंग मे उपस्थित किया है और उसके बुद्धिवादी आत्मरत स्वरूप को पृथक् अभिव्यक्ति प्रदान की है। वह नारी को सौन्दर्य और मधुरिमा के गुणों से विशेष रूप से संयुक्त मानते थे। उनकी यह धारणा उस समय और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम उनके काव्य से इतर साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं। 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना और 'चन्द्रगुप्त' में सुवासिनी इसी प्रकार की पात्रियाँ हैं। इन दोनों ही नाटकों में उन्होंने नारी-जीवन को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। यदि उन्होंने 'कामायनी' के अतिरिक्त अपने अन्य काव्य-ग्रन्थों में भी नारी-पात्रों का समावेश किया होता तो अधिक उत्तम होता। यद्यपि उन्होंने गौण रूप से इस प्रकार के कुछ प्रयास किये अवश्य हैं, किन्तु वे अपने आप में स्वतन्त्र न होने के कारण विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। उदाहरणार्थ हम 'कामायनी' में ही लज्जा के व्यक्तित्व को ले सकते हैं। यह सत्य है कि वह एक अमूर्त भावना है, किन्तु कवि ने उसे सस्वर किया है और उसके प्राणों को स्पन्दन का आभास दिया है। फिर भी स्पष्टतः वह नारी नहीं है और नारी के कुछ गुण उसका स्पर्श-मात्र करके रह गये हैं।

: १८ :

'निराला' जी के काव्य-विचार

'निराला' जी का जन्म बंग-प्रदेश के महिषादल नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने संस्कृत, बंगला और हिन्दी भाषाओं का अत्यन्त निकट से अध्ययन किया है। उनके काव्य में अनुभूति और चिन्तन के तत्वों को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ है। चिन्तन के क्षेत्र का आधार ग्रहण करते समय उन्होंने अपनी दार्शनिक विचार-धारा को जो अभिव्यक्ति प्रदान की है वह वास्तव में अत्यन्त प्रभावशाली और वरेण्य है। 'निराला' जी के काव्य में छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद, तीनों के दर्शन होते हैं। कल्पना के मधुर संकेतों, अव्यक्त रहस्यों और पूंजीवाद के प्रति प्रबल विद्रोह की भावनाओं ने उनके काव्य में जिस परुष गति का सचार किया है, वह हिन्दी के अन्य कवियों में प्रायः विरल है। वैसे उनकी भाषा और शैली, दोनों में आदि से अन्त तक ओज गुण परिव्याप्त है और संस्कृत के तत्सम शब्दों ने इसमें पर्याप्त सहायता प्रदान की है। उनकी काव्य-पुस्तकों में 'परिमल', 'गीतिका', 'अनामिका', 'कुकुरमुत्ता' और 'तुलसीदास' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'अपरा' उनकी नवीनतम काव्य-कृति है। कविता के क्षेत्र में मुक्त छन्द का विधान करते हुए उसमें संगीत का संरक्षण करने की एक विशेष क्षमता उनमें वर्तमान है। कवि के अतिरिक्त वह एक कहानीकार, उपन्यासकार और निबन्धकार के रूप में भी हमारे समक्ष आते हैं।

कविवर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आधुनिक युग के काव्य के प्रमुख सचेतकों में से एक हैं। उन्होंने सिद्धान्त और प्रयोग, दोनों की ही दृष्टि से हिन्दी को एक ओर तो मुक्तक काव्य की अमर विभूति प्रदान की है और दूसरी ओर गीति-काव्य के क्षेत्र में अनेक नवीन प्रयोग किये हैं। छायावादी काव्य-रचना की ओर भी उनकी विशेष प्रवृत्ति रही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपने युग में प्रचलित काव्य-परम्परा से भिन्न एक नवीन सशक्त काव्य-पथ के निर्माण का प्रयत्न किया है। अपने प्रयास को स्पष्ट करने के लिए स्वभावतः उन्हें कविता के स्वरूप और उसकी स्वमान्य गति आदि के विषय में भी पर्याप्त स्पष्टीकरण उपस्थित करने की आवश्यकता का अनुभव होता रहा है। उनकी यह काव्य-विषयक चर्चा प्रायः उनकी सभी रचनाओं में बिखरी पड़ी है और इसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने पद्य और गद्य के दोनों ही माध्यम स्वीकार किये हैं।

'निराला' जी ने काव्य-प्रणयन के लिए अपेक्षित सामान्य आदर्शों के विषय में यत्र-तत्र अत्यन्त सफलतापूर्वक विचार किया है। इस दिशा में हम सर्वप्रथम उनके द्वारा प्रतिपादित कविता के स्वरूप की चर्चा करेंगे। इस विषय में कहीं-कहीं उन्होंने स्पष्ट

उक्तियाँ उपस्थित की हैं और कहीं केवल भावात्मक संकेत ही दिये हैं। तथापि सशक्त कवि होने के नाते कविता के सम्बन्ध में उन्हें कोई भ्रम नहीं है और उसके प्रति उनका दृष्टिकोण नितान्त स्पष्ट है। वह कविता और रसात्मकता में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते और यही कारण है कि उन्होंने उसे अखण्ड राग-तत्व से संयुक्त मानते हुए अध्येता के चित्त पर उसके अनुकूल प्रभाव का प्रबल शब्दों में प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त तत्व के अतिरिक्त 'निराला' जी ने काव्य-सृष्टि के लिए वर्णन की स्वाभाविक और दोष-रहित प्रणाली को द्वितीय अनिवार्य गुण के रूप में ग्रहण किया है। वह कवि-हृदय को सरलता, मधुरता और प्रेम-भावना का आगार मानते हैं। वह कविता की गति को नियन्त्रित करने की अपेक्षा उसे सहज-स्वाभाविक रीति से विकास-मग्न देखना चाहते हैं। इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप उन्होंने कविता के प्रत्येक चरण में सौन्दर्य-मधुरिमा के विशिष्ट दर्शन किये हैं और कृत्रिमता को काव्य की प्रवृत्ति के विपरीत माना है। वास्तव में उन्होंने कवि और कविता की अभिन्नता का प्रतिपादन करने के लिए उन्हें एक विशेष स्नेह-सूत्र में आबद्ध माना है और भावना अथवा कला के क्षेत्रों में उनके पारस्परिक आदान-प्रदान का सुन्दर समर्थन किया है। यथा :—

भरा हुआ था हृदय प्यार से उसका,
उस कविता का,
वह थी निश्छल, अविकार
अंग अंग से उठीं तरंगें उसके,
वे पहुँचीं कवि के पास, कहा—
"तुम चलो, बुलाया है उसने जल्दी तुमको उस पार ॥

—(परिमल, पृष्ठ-संख्या १३२)

कविता के तत्व—अनुभूति और कल्पना

कविता के स्वरूप की चर्चा करने के साथ-साथ 'निराला' जी ने उसके शरीर-संयोजन के लिए आवश्यक तत्वों का भी उपयुक्त विवेचन किया है। वह कविता की सफल रचना के लिए अनुभूति और कल्पना को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। अनुभूति के विकास का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसे सर्वप्रथम बाह्य दर्शन की ओर प्रवृत्त माना है और फिर उसके संचित रूप को आत्म-दर्शन के लिए सर्वोत्कृष्ट माध्यम के रूप में ग्रहण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने अनुभूति को चिन्तन-समन्वित रखना चाहा है। अनुभूति के इसी विकास-क्रम के आधार पर उन्होंने साहित्य में प्राप्त होने वाले अनुभूत विषयों के प्रभाव का अत्यन्त व्यापक चित्रण किया है और कवि की अनुभूति को सर्वोपरि मानते हुए उसे सत्य को सर्वजनसुलभ बनाने वाली कहा है। वह कवि द्वारा अनुभूति की प्राप्ति और तदनन्तर उसकी प्रतिपत्ति को साहित्य की लक्ष्य-सिद्धि और उत्कर्ष-साधन के लिए अनिवार्य मानते हैं। इसी कारण उन्होंने कहा है :—

"साहित्यिक संसार की अच्छी चीजों का समावेश अपने साहित्य में करते हैं और उनके प्राणों के रंग से रंगीन होकर वे चीजें साधारणों को भी रंग देती हैं। इस प्रकार अन्य जाति के होने पर भी वस्तु-विषय मनुष्य-मात्र के होते जा रहे हैं। आधुनिक साहित्य का संक्षेप में यही कार्य, यही उत्कर्ष और यही सफलता है। जो साहित्य इसमें जितना पिछड़ा हुआ है वह उतना ही अधूरा समझा जाता है।"

—(गीतिका, भूमिका, पृष्ठ-संख्या ५)

'निराला' जी के अनुसार कविता के भाव-पक्ष को समृद्धि प्रदान करने के लिए अनुभूति की भाँति कवि को रम्य-कोमल कल्पना के संयोजन की ओर भी उपयुक्त ध्यान देना चाहिए। संसार की प्रत्येक भाषा के काव्य में कल्पना के महत्व को कविगणों ने अनेक रूपों में स्पष्ट किया है। इस कल्पना का स्वरूप अनेकोन्मुख होता है और इसकी कोई निश्चित गति नहीं होती। शान्त और अनुकूल समय में जब कभी भी कवि की चेतना कल्पना की ओर उन्मुख हो उठती है तब वह न जाने किन-किन स्थितियों में भ्रमण करती है और न जाने उसके नयनों में कितने रंगीन स्वप्न तिर जाते हैं। यह कल्पना अपने आप में इतनी मधुरिम होती है कि इसके अंचल में परिपोषित होने पर असम्भव विषय भी सहज सम्भव प्रतीत होने लगते हैं और अध्येता के तद्विषयक विचारों का क्रमशः तिरोभाव हो जाता है। इसी कारण 'निराला' जी ने कवि को सम्बोधित करते हुए एक स्थान पर कहा है :—

देखता हूँ,
फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसन्त में
जैसे तब कल्पना की डालों पर खिलते हैं।

—(परिमल, पृष्ठ-संख्या २०८)

कविता के आधार—नैसर्गिक कथन और रस-निर्वहन

'निराला' जी ने नैसर्गिक भाव-प्रतिपादन को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है। इसी कारण उन्होंने कवि को लोक-जीवन से सहज सम्बद्ध मानते हुए अपने काव्य में जनता की वाणी को उत्कृष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी नवीनतम कविताओं का अध्ययन करने पर यह प्रवृत्ति हमारे समक्ष और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने काव्य में कृत्रिमता के समावेश का विरोध करते हुए वस्तु-तथ्य के उद्भावन में निहित सौन्दर्य-सुषमा और सहज-गम्भीर भावना के अप्रतिम रूप का विशेष समर्थन किया है। वस्तुतः उनका अखण्ड विश्वास है कि केवल सरलता की विभूति से सम्पन्न काव्य ही जन-मन को शान्ति प्रदान करने में सक्षम होता है। इस प्रकार के वर्णनों में आत्मा को स्फुरित करने की गहन क्षमता वर्तमान होती है। इनके अध्ययन से अध्येता के अन्तस् में वर्तमान समग्र संशयात्मक पूर्वाग्रहों का लोप हो जाता है। अपने 'अनामिका' नामक कविता-संग्रह की 'कविता के प्रति' शीर्षक रचना में उन्होंने अपने इन्हीं विचारों को इस प्रकार प्रतिपादित किया है :—

हुए कृती कवितात्रत राजकवि-समूह,
किन्तु जहाँ पथ-बीहड़ कण्टक-गढ़-व्यूह,
कवि कुरूप, बुला रहा वन्यहार थाम,
कहो, वहाँ भी जाने को होते प्राण ?
कितने वे भाव रसस्राव पुराने-नये,
संसृति की सीमा के अपर पार जो गये,
गढ़ा इन्हीं से यह तन,
दिया इन्हीं से जीवन,
देखे हैं स्फुरित नयन इन्हीं से,
कवियों ने परम कान्ति
दी जग को चरम शान्ति,
की अपनी दूर भ्रान्ति इन्हीं से !

—(अनामिका, पृष्ठ-संख्या १४२)

'निराला' जी ने स्वाभाविक कथन की भांति काव्य में रस-नियोजन को भी उचित गौरव प्रदान किया है। इस क्षेत्र में भी उन्होंने प्रतिपादन की नैसर्गिकता का आश्रय ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल दिया है। रस-संयोजन के लिए उन्होंने काव्य में हृदय की रागात्मकता के चित्रण को मुख्य माना है। उनके अनुसार जो कवि सौन्दर्य का जितना ही अधिक अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त होगा उसके काव्य में शोभन तत्वों का उतना ही अधिक मात्रा में समावेश होगा। यह शोभन-वर्णन ही रस का मूल है और रस के इस मोहक तथा अनिर्वचनीय रूप से युक्त होने के कारण ही कविता को कवि के लिए मंत्र-स्वरूपिणी अथवा मार्ग-दर्शिका कहा गया है। 'निराला' जी ने संस्कृत-कवियों द्वारा प्रतिपादित इसी मत की पुष्टि करते हुए काव्य और मानव-जीवन में शाश्वत सम्बन्ध की स्थापना की है। काव्य-प्रभाव के लिए अवधि-विशेष का कोई बन्धन नहीं होता और उसके द्वारा अखण्ड रूप से रस-प्रवाह का विधान होता रहता है। यद्यपि यह सत्य है कि 'निराला' जी ने रस के इस महत्व का कहीं भी स्वतन्त्र और विस्तृत आख्यान नहीं किया है, तथापि व्यंजना के माध्यम से हमें इस विषय में उनकी मान्यताओं का पर्याप्त बोध हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप उनके 'नये पत्ते' शीर्षक काव्य-संग्रह से उनकी 'देवी सरस्वती' नामक कविता का निम्नलिखित उद्धरण देखिए :—

सूरदास के गीत, रसों के स्रोत निरन्तर,
फूटी सरिताएँ, उमड़ा शशधर से सागर।
मीरा की मानसी गीतिका सहृदयता की
छवि से भरी हुई, निरवधि कलियों की राखी॥

× × ×

तुम्हीं चिरन्तन जीवन की उन्नायक, भविता,
छवि विश्व की मोहिनी, कवि की सनयन कविता।

काव्य का कला-पक्ष

'निराला' जी ने भाव-पक्ष की भाँति काव्य के कला-पक्ष के विषय में भी विस्तृत चर्चा की है। इस दिशा में उनका प्रयत्न मूलतः भाषा और छन्द के प्रवाह का उचित विधान करने की ओर प्रेरित रहा है। इस दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-काव्य को मुक्त छन्द की अमर विभूति प्रदान कर निश्चय ही अत्यन्त स्तुत्य कार्य किया है। इसी प्रकार अतुकान्त काव्य की स्वतन्त्र और सौष्ठवपूर्ण रचना द्वारा भी उन्होंने कवियों को उस ओर प्रयत्न करने का मार्ग दिखाया है। मुक्त छन्द और तुकान्त काव्य-रचना, दोनों के ही क्षेत्रों में उन्होंने हमारे समक्ष जो काव्य-सिद्धान्त उपस्थित किए हैं, उन पर मौलिकता की छाप स्पष्टतः विद्यमान है।

कविवर 'निराला' ने काव्य को उसके नैसर्गिक रूप में उपस्थित करने पर बल देते हुए उसे बन्धन-मुक्त रूप में देखना चाहा है। वह उसकी इस स्वतन्त्रता को भविष्य की काव्य-गति के लिए विशेषतः उपयोगी मानते हैं और इस दृष्टि से उन्होंने भाषा, भाव और छन्द, तीनों ही क्षेत्रों में रूढ़िगत बन्धनों का विरोध किया है। यद्यपि यह सत्य है कि भारतवर्ष के प्राचीन संस्कृत-कवियों और अधुनातन हिन्दी-कवियों ने काव्य को छन्दोबद्ध रूप में उपस्थित कर उसमें आकर्षक कला-सौन्दर्य का समावेश किया है, तथापि यदि हम काव्य में छन्द-बन्धन का त्याग कर काव्य-शैली को अनियन्त्रित रीति से मधुर गति का उल्लास प्रदान कर सकें तो वह निश्चय ही त्याज्य न होकर ग्रहणीय है। 'निराला' जी ने इसी सिद्धान्त को अपनाते हुए अपने काव्य में प्रयोग की दृष्टि से एक ओर तो छन्द-योजना का आदर्श सौन्दर्यमय रूप उपस्थित किया है और दूसरी ओर मुक्त छन्द की विषमताओं में भी एकता का संचार किया है।

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि 'निराला' जी छन्द-शास्त्र की प्राचीन मर्यादाओं के विरोधी रहे हैं। वास्तव में उनकी चेष्टा अपने काव्य में केवल यही रही है कि अनावश्यक छन्द-बन्धन के कारण उनकी कविताओं की गति अवरुद्ध न होने पाए। यही कारण है कि उनकी मुक्त छन्द में प्रणीत कविताओं का अध्ययन करने पर हमें उनमें अनेक स्थानों पर छन्द की प्राप्ति भी हो जाती है। ऐसा केवल इस कारण हुआ है कि उनके काव्य में लय को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है और छन्द का लय से स्वभावतः गहन सम्बन्ध होता है। आगे हम 'परिमल' की भूमिका से मुक्त छन्द में प्रणीत काव्य के विषय में उनके कुछ स्फुट विचार उद्धृत करते हैं :—

"मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।.........मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है।.........मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है।.........मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम-राहित्य उसकी मुक्ति।"

—(पृष्ठ-संख्या १४, १८, २१)

उपर्युक्त विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'निराला' जी ने मुक्तछन्दात्मक काव्य के विषय में अनुभूत तत्वों का ही उल्लेख किया है और इन विचारों में मौलिकता के अतिरिक्त अपने युग के काव्य को प्रभावित करने की शक्ति भी पूर्णतः वर्तमान है। वस्तुतः वह मुक्त छन्द को काव्य-रचना के क्षेत्र में एक विशेष प्रेरणा-प्रद तत्व मानते हैं और इस प्रकार के काव्य में हृदय-तत्व के पूर्ण मनोयोग के कारण स्वाभाविकता के समावेश को सहज-सम्भव कहते हैं। उदाहरणार्थ 'परिमल' की 'जागरण' शीर्षक कविता में प्रतिपादित उनके निम्नलिखित विचार देखिए :—

मुक्त छन्द,
सहज प्रकाशन वह मन का—
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।

—(परिमल, पृष्ठ-संख्या २६४)

मुक्त छन्द के विषय में कवि की यह धारणा स्वाभाविक ही है। इसमें आशा का मंगलमय सन्देश तो निहित ही है, साथ ही इसमें एक सौन्दर्यवादी कवि के अनुकूल निसर्ग काव्य-रचना का दृष्टिकोण भी पूर्णतः निखर उठा है।

कविवर 'निराला' ने छन्द और भाषा के सहज पारस्परिक सम्बन्ध को हृदयंगम कर अपनी भाषा को छन्द के अनुकूल उपयुक्त स्तर पर आयोजित करते हुए उसमें एक विशेष गति का विधान किया है। भाषा के विषय में उनका दृष्टिकोण स्पष्टतः उसमें सांगीतिक चेतना के आयोजन पर आधृत रहा है। यही कारण है कि वह हिन्दी के गीतिकाव्यकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं और उन्होंने इस क्षेत्र में अनेक मौलिक आदर्श उपस्थित किये हैं। भाषा का मूल वर्ण होता है और यही वर्ण परस्पर ग्रथित होकर शब्द का रूप धारण कर अन्त में भाषा की अपरिमित शक्ति का विधान कर देते हैं। भाषा का स्वरूप-निर्माण करने के अनन्तर यही वर्ण अपने आप में विश्व के समग्र सौन्दर्य को आबद्ध कर लेते हैं और इन्हीं से अध्येता के अन्तम् को प्रभावित करने वाली रसात्मक भाव-धारा का उद्भव होता है। कवि ने वर्ण के इस महत्व को स्वीकार करते हुए उसके सहयोग से निर्मित काव्य को मानव-मुक्ति का विधायक माना है। इसी कारण उन्होंने 'गीतिका' में गीत और भाषा के पारस्परिक सहयोग को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर वर्ण-गति के विषय में कहा है :—

वर्ण-चमत्कार;
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।
पद-पद चल बही भाव-धारा,
निर्मल कल-कल में बँध गया विश्व सारा,
खुली मुक्ति बन्धन से बँधी फिर अपार—
वर्ण-चमत्कार !

—(गीत-संख्या ८७)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'निराला' जी ने चिन्तन-समन्वित अनुभूति, कल्पना, रस, निसर्ग अभिव्यक्ति, भाषा, छन्द और अतुकान्त रचना आदि के विषय में अपने विचारों को अत्यन्त सन्तुलित रीति से प्रकट किया है। इस विषय में उनके प्रतिपादन से हमें उनके गम्भीर अध्ययन और उत्कृष्ट विचार-शक्ति का पर्याप्त परिचय उपलब्ध होता है। वास्तव में उन्होंने कवि-कर्म के साथ-साथ काव्यालोचन द्वारा आचार्यत्व की उत्तरदायित्वपूर्ण मर्यादाओं का भी अत्यन्त उपयुक्त निर्वाह किया है। इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि उन्होंने हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में मुक्त-छन्द-रचना की प्रणाली का जिस रूप मे उद्भावन किया है, उससे उस काल के सभी कवि प्रभावित हुए थे और जब तत्कालीन आलोचकों ने इस प्रणाली में अनावश्यक छिद्रान्वेषण करना प्रारम्भ किया था तब उन्होंने उनकी समीक्षा का सशक्त शब्दों में उत्तर दिया था। इसी भाँति उन्होंने प्रगीत काव्य के विषय में भी कुछ उत्कृष्ट सैद्धान्तिक कथन उपस्थित किये हैं और उनके द्वारा वर्तमान हिन्दी-गीति-काव्य को विशेष प्रभावित किया है। इन दोनों ही क्षेत्रों में उनकी प्रतिभा असीमित रही है और यही कारण है कि हमें केवल इनके उपयुक्त अध्ययन से ही उनकी आचार्य-क्षमता का पूर्ण विश्वास हो जाता है। इस प्रकार के अनुकरणीय काव्यादर्शों के उद्भावन द्वारा हिन्दी-काव्य-रचना के पथ को प्रशस्त करने के कारण हम उन्हें प्रथम श्रेणी के कवि-आचार्य की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं।

काव्य के विभिन्न वाद

आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में अनेक नवीन काव्य-सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ है। ये सभी काव्य-सिद्धान्त विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उद्बुद्ध हुए थे और इन्होंने आवश्यकता के अनुकूल युग की चेतना को प्रखर रखने में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया। इनमें छायावाद, रहस्यवाद (प्राचीन रहस्यवाद का विकसित रूप) और प्रगतिवाद प्रमुख हैं तथा कविवर 'निराला' जी के काव्य में हमें इन तीनों का ही उपयुक्त समावेश प्राप्त होता है। आगे हम उनके काव्य में इनके विकास का क्रमशः अध्ययन करेंगे :—

छायावाद

छायावाद में व्यष्टिगत चेतना के सौन्दर्य को एक उच्चतर अनुभूति के रूप में ग्रहण किया गया है और इसका उद्भव द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। इसके अन्तर्गत तत्कालीन बाह्य चेतना ने आत्मबद्ध अन्तर्मुखी रूप धारण कर लिया। इसने काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष में नवीन सौन्दर्य की योजना की है। इस दृष्टि से "निराला' जी के काव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त होती हैं :—

(१) **व्यक्तिवाद :—**

छायावादी काव्य में सामान्यतः कवि की अन्तर्मुखी वृत्ति को अभिव्यक्ति प्राप्त रहती है। इस दृष्टि से 'निराला' जी के काव्य में एक ओर तो विषय पर विषयी की

मनसा के आरोप की स्थिति रही है अर्थात् उन्होंने प्रकृति और जगत् के भिन्न तत्वों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया का उल्लेख किया है और दूसरी ओर समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि को अधिक महत्व प्रदान किया है अर्थात् उन्होंने छायावाद के व्यक्तिवाद-सम्बन्धी काव्य में बहिरंग सामाजिक जीवन की अपेक्षा अन्तरंग व्यक्तिगत जीवन का चित्रण किया है। वास्तव में उनके काव्य में यह प्रवृत्ति प्राय: अद्वैतवाद के रूप में प्रकट हुई है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित छन्द देखिए :—

भर देते हो
बार-बार प्रिय करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो
मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,
कर जाते हो व्यथा भार लघु।

—(परिमल, पृष्ठ-संख्या ११७)

(२) शृंगारिकता :—

छायावाद की अन्तर्वृत्ति अप्रत्यक्ष शृंगार के रूप में भी अभिव्यक्त हुई है और इस दृष्टि से छायावादी कवियों ने एक ओर तो प्रकृति पर नारी-भाव का आरोप किया है और दूसरी ओर नारी की आत्मा के सौन्दर्य का चित्रण किया है। 'निराला' जी के काव्य में हमें ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं, तथापि मुख्य रूप मे उन्होंने प्रकृति पर नारी-भाव का आरोपण किया है। उनकी 'सन्ध्या-सुन्दरी' और 'जुही की कली' शीर्षक कविताओं में इसी भावना का विस्तार दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ 'जुही की कली' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

विजन-वन-वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्रांक में।

—(परिमल, पृष्ठ-संख्या १९१)

(३) प्रकृति पर चेतना का आरोप :—

छायावादी काव्य में मानवीकरण की प्रणाली द्वारा प्रकृति को एक चेतना-सम्पन्न सत्ता के रूप में उपस्थित किया जाता है। 'निराला' जी ने अपने अन्य सहयोगी कवियों की भाँति प्रकृति में जीवन के व्यापक दर्शन किये हैं और उसे केवल निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपन शैली के विकास में सहायक नहीं दिखाया है। द्विवेदी युग में नैतिकता का जो प्रवल आन्दोलन प्रचारित किया गया था उसके प्रभाव-स्वरूप छायावादी कवियों ने प्रकृति को प्रतीकवत् ग्रहण करते हुए उसके द्वारा नारी का परोक्ष चित्रण उपस्थित किया है और 'निराला' जी के काव्य में हमें इसका चरम विकास उपलब्ध होता है। उनकी 'जुही की कली' शीर्षक कविता में प्रकृति पर चेतन व्यक्तित्व के आरोप और उसके माध्यम से नारी के चित्रण की दोनों प्रवृत्तियाँ सहज उपलब्ध हैं।

(४) **विषाद :—**

'निराला' जी की कविताओं में छायावाद की विषाद-भावना का भी मधुर रूप उपलब्ध होता है। उन्होंने इस विषाद का आयोजन भावुकता, अनुभूति और चिन्तन की सम्मिलित पृष्ठभूमि के अनुसार किया है। उनकी विषाद-भावना में पलायन वृत्ति का अभाव है और उसमें करुणा के भाव का सहज विकास हुआ है।

(५) **शैलीगत विशेषताएँ :—**

छायावादी काव्य में कला-वैभव की स्थिति नितान्त समृद्ध रही है और कवियों ने इस क्षेत्र में अनेक सूक्ष्मताओं का उद्भावन किया है। 'निराला' जी ने अपने काव्य की भाषा को सहज-सरल, सूक्ष्म-जटिल और चित्रात्मक रूप में संयोजित करते हुए अपनी शैली में वक्रता, व्यंजना और संकेतों का विशेष प्रयोग किया है। इसी प्रकार उन्होंने छायावाद की अलंकरण-सामग्री का उपयोग करते हुए स्थूल और रूढ़ उपमानों के स्थान पर सूक्ष्म, चित्र-विचित्र और मौलिक उपमानों का प्रयोग किया है। काव्य-शिल्प की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी के छायावादी काव्य को अन्य कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक वैभव प्रदान किया है। 'गीतिका' में समृद्ध गीति-काव्य की रचना करने के साथ-साथ उन्होंने लय को महत्व प्रदान करते हुए उसके आधार पर हिन्दी-काव्य को मुक्त छन्द की एक नवीन दिशा प्रदान की है।

रहस्यवाद

रहस्यवाद की मूल भावना आत्मा एवं परमात्मा के एकीकरण की ओर प्रवृत्त रहती है। दृष्टिकोण के अन्तर से रहस्यवादियों के निम्नलिखित तीन भेद हो सकते हैं :—

(१) **भाव-प्रधान रहस्यवादी कवि :—**

जो कवि प्रेम-भावना के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की प्रणाली का प्रतिपादन करते हैं उन्हें भाव-प्रधान रहस्यवादी कवि कहते हैं।

(२) **साधनात्मक रहस्यवादी कवि :—**

इस प्रकार के कवि आत्म-साधना द्वारा ईश्वर से अद्वैत की स्थिति को स्थापित करने पर बल देते हैं।

(३) **चिन्तन-प्रधान रहस्यवादी कवि :—**

ये कवि ईश्वरीय सत्ता के विषय में गहन चिन्तन द्वारा उससे एकीकरण की स्थापना करते हैं। 'निराला' जी के काव्य में इसी चिन्तन-प्रधान रहस्यवादी प्रणाली का समावेश हुआ है।

व्यक्ति की रहस्यवादी चेतना के विकास की भी निम्नलिखित तीन स्थितियाँ होती हैं :—

(१) **जिज्ञासा-भाव :—**

जब कवि ईश्वरीय सत्ता के रहस्य के प्रति जिज्ञासा प्रकट करते हुए चिन्तन-प्रधान कविताओं की रचना करता है तब वह अपने काव्य में रहस्यवाद की प्रथम स्थिति का

प्रतिपादन करता है। 'निराला' जी के काव्य में इस स्थिति से सम्बद्ध उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

(२) विरह-भाव :—

इस स्थिति के अनुसार आत्मा परमात्मा के विरह में व्याकुल होकर चीत्कार कर उठती है और सान्निध्य-सुख को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। 'निराला' जी ने इस भावना को व्यक्त करने वाली कविताओं की पर्याप्त मात्रा में रचना की है।

(३) मिलन-भाव :—

विरह की दीर्घ स्थिति के उपरान्त आत्मा परमात्मा से संयुक्त हो जाती है। यह रहस्यवाद की चरम स्थिति है और 'निराला' जी के काव्य में इसका अत्यन्त प्रभावोत्पादक अंकन हुआ है।

'निराला' जी ने अपने रहस्यवादी काव्य में आत्मा और परमात्मा के मध्य अनेक रमणीय सम्बन्धों की स्थापना की है। उन्होंने अपनी अधिकांश कविताओं में रहस्यवादी विचार-धारा का समावेश किया है और कहीं-कहीं उनके काव्य में रहस्यवाद के नितान्त शुद्ध रूप में दर्शन होते हैं। उनके रहस्यवादी काव्य में दार्शनिक विचारों का सुन्दर सामंजस्य दृष्टिगत होता है। वास्तव में उन्होंने अपने रहस्यवाद को वेदान्तवादी विचारों से युक्त रखने का सफल प्रयास किया है। आगे हम उनके काव्य से परमात्म-मिलन की स्थिति में बाधक मायात्मक तत्वों के सम्बन्ध में एक उद्धरण उपस्थित करते हैं :—

जीवन की गति कुटिल अन्ध-तम-जाल,
फँस जाता हूँ, तुम्हें नहीं पाता हूँ प्रिय,
आता हूँ पीछे डाल—
रश्मि चमत्कृत स्वर्णालंकृत नवल प्रभात।

प्रगतिवाद

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रगतिवाद में छायावाद की भावुकता और वैयक्तिकता के स्थान पर वस्तु-तत्व की प्रधानता और सामाजिक चेतना के विकास की स्थिति मानी है। 'निराला' जी के प्रगतिवादी काव्य में हमें यह तत्व अपने चरम रूप में उपलब्ध होता है। उन्होंने प्रगतिवादी सिद्धान्तों के अनुसार जीवन एवं कला की परम्परागत मान्यताओं के प्रति विद्रोह प्रकट करते हुए अपने काव्य में नवीनता को पर्याप्त स्थान प्रदान किया है। उन्होंने अपनी प्रगतिवादी कविताओं में कल्पना के अतिरेक के स्थान पर जीवन के सत्य, शिव और सुन्दर से सम्बन्धित तात्विक सिद्धान्तों को परिवर्तित रूप में उपस्थित किया है। उनकी प्रगतिवादी कविताओं में एक ओर तो मानव के शुद्ध-बुद्ध रूप की स्थापना में सहायक मानवतावाद का समावेश है और दूसरी ओर सामाजिक क्रान्ति की भावना का प्रतिपादन करते हुए जन-हित में सौन्दर्य के दर्शन किये गए हैं। उनकी स्फुट कविताओं में प्रगतिवादी तत्वों का सुन्दर समावेश हुआ है और उन्होंने

प्रगतिवाद की अति-मार्क्सवादी प्रणाली के स्थान पर उसमें करुणा का समावेश किया है। उदाहरणार्थ उनकी 'भिक्षुक' शीर्षक कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।

—(परिमल, पृष्ठ-संख्या १३३)

: १६ :

पन्त जी का छायावादी काव्य

कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सम्वत् १९५७ में कूर्मांचल प्रदेश के कोसानी नामक स्थान में हुआ था। इसी कोसानी की प्राकृतिक सुषमा से अभिभूत हो कर कविवर नरेन्द्र शर्मा ने 'पलाश-वन' की एक कविता में कहा है :—

यह नई धरा, आकाश नया,
यह नया लोक मिल गया मुझे !
थी आत्मा जिसके हित अशान्त
वह शान्त लोक मिल गया मुझे !

× × ×

इसके तरुओं की छाँह नई,
इसकी बयार में नया परस,
कौसानी का जादू ऐसा—
दो-चार बरस, दो-चार दिवस !

प्रकृति के इस रमणीय प्रदेश में पन्त जी के जीवन का विकास भी इसी के अनुरूप हुआ। छायावाद के अंचल में समर्पित करने के लिए उन्होंने यहीं से नवीन उपमानों को ग्रहण किया और अपनी भावुकता के सम्मिश्रण से उन्हें अत्यन्त मौलिक रूप में उपस्थित किया। उन्होंने सीमा-बद्ध सृष्टि में एक असीम सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। 'गुंजन', 'युगान्त', 'पल्लव', 'पल्लविनी', 'ग्राम्या', 'युग-वाणी' और 'रजत-शिखर', सभी में उनकी कल्पना का निर्बन्ध विकास हुआ है।

विश्व की व्यापक वैषम्य-भावना से संवेदित हो कर पन्त जी ने प्रगतिवाद के सिद्धान्तों को भी अपने काव्य में स्थान प्रदान किया है। 'ग्राम्या' में उनकी तत्सम्बन्धी रचनाओं का एक उत्कृष्ट संग्रह उपलब्ध होता है। 'गुंजन' और 'युगान्त' में उनके गहन चिन्तन तथा दार्शनिक अन्तर्धारा का सहज एवं मुक्त प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। आत्मानुभूति के तत्व से संयुक्त होने के कारण उनके काव्य में अथ से इति तक एक विशिष्ट प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। आगे हम उनकी कोमल भावना का एक सुन्दर निदर्शन उपस्थित करते हैं :—

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा-स्नान;

तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !
अपरिचित चितवन में था प्रात,
सुधामय साँसों में उपचार !
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार !

वस्तुतः पन्त जी हिन्दी-काव्य में प्राकृतिक सुषमा को श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति प्रदान करने वाले कवि के रूप में हमारे लिए सहज परिचित हैं। उनके काव्य का विकास अनेक धाराओं में विभक्त होकर हुआ है और उन्होंने प्रत्येक धारा के प्रचलित प्रवाह में अपनी मौलिकता का समावेश करने का सहज प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से उनकी रचनाओं में छायावाद, प्रगतिशील समाजवाद, अध्यात्म-दर्शन, भारतीय संस्कृति, गांधीवादी मानवतावाद आदि से सम्बन्धित अनेक सुन्दर उक्तियां प्राप्त होती हैं। उनके काव्य-जीवन का प्रमुख अध्याय छायावादी कविताओं से आरम्भ होता है और इस समय अपनी कविता को अध्यात्म -चेतना अथवा मानव-संस्कृति से विभूषित रखना उन्हें विशेष प्रिय है। तथापि उनकी कृतियों का अध्ययन करने पर इतना स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद के प्रति उनका अनुराग कभी कम नहीं हुआ और उन्होंने उसे उसके उद्भव काल में विभूषित करने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया।

छायावाद का उद्भव आधुनिक काल में द्विवेदी युग की इतिवृत्तमयी कविता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। उसमें युग की बाह्य चेतना ने अन्तर्मुखी आकार धारण कर लिया था। पन्त जी छायावाद के प्रथम उन्नायकों में से हैं और उन्होंने अपने 'पल्लव' तथा 'गुंजन' शीर्षक काव्यों में छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का सफल समावेश किया है। उनके अनुसार छायावाद के प्राकृतिक चित्रों में कवि की अपनी भावनाओं की छाया रहती है और कवि की भावनाओं में प्रकृति-सौन्दर्य की छाया का अस्तित्व रहता है। उदाहरणार्थ 'गुंजन' में उनकी निम्नलिखित भावाभिव्यक्ति देखिए :—

खोल कलियों ने उर के द्वार,
दे दिया उसको छवि का देश।
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिए भेद भरे सन्देश !

× × ×

गूढ़ संकेतों में हिल पात,
कह रहे अस्फुट बात;
आज कवि के चिरचंचल प्राण
पा गए अपना गान !

पन्त जी के काव्य में छायावादी भावनाओं और छायावादी कला का सफल समावेश हुआ है। उनके काव्य में छायावाद की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं :—

वैयक्तिकता

काव्य में वैयक्तिकता के समावेश से हमारा तात्पर्य कवि की आत्मगत उक्तियों से है। यद्यपि यह सत्य है कि छायावाद-युग से पूर्व भी कविगण हिन्दी-काव्य में आत्माभिव्यक्ति को स्थान प्रदान किया करते थे, किन्तु इस युग में कवियों ने इसे अपने काव्य की एक प्रवृत्ति-विशेष के रूप में स्वीकार कर लिया। छायावाद में स्थूल भौतिक वस्तुओं के आख्यान के लिए स्थान नहीं था। अतः सूक्ष्म तत्वों के चित्रण के लिए कवियों ने स्वभावतः अपनी आत्मा के चित्रण का मार्ग अपनाया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि छायावाद में कवि की अन्तर्मुखी वृत्ति की अभिव्यक्ति रहती है अर्थात् छायावादी कवि इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत कविता के स्थान पर भावात्मक और आत्मगत कविता की रचना की ओर प्रवृत्त होता है। पन्त जी ने अपनी आत्म-प्रधान कविताओं में नवीन सांस्कृतिक और दार्शनिक चेतना तथा नवीन जीवन-दृष्टि का समावेश किया है। इस प्रकार उन्होंने अपनी व्यक्तिवादी कविताओं में चिन्तन के वैभव और अनुभूति के उल्लास का सफल समावेश किया है। उनके काव्य में यह वैयक्तिकता स्व-रति में परिवर्तित हो गई है और 'गुंजन' की रचना के उपरान्त उन्होंने इसे आदर्शमूलक रूप प्रदान कर दिया है। 'गुंजन' की निम्नलिखित पंक्ति में इस स्व-रति की ध्वनि स्पष्टतः विद्यमान है :—

अपने ही मधु में लिपटा, करता मधु गुंजन।

शृंगारिकता

छायावादी काव्य में शृंगार के अप्रत्यक्ष चित्रण को भी पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। इससे पूर्व हिन्दी-काव्य में शृंगार रस के स्पष्ट चित्र उपस्थित किये जाते थे और कवियों ने उसे स्थूल और सूक्ष्म के दो भेदों में विभाजित किया हुआ था। छायावाद-युग से पूर्व हिन्दी में रीतिकालीन कवियों ने शृंगार रस के अनुकूल चित्रों को उपस्थित करने की ओर अधिक ध्यान दिया था और काव्य में इसकी प्रतिक्रिया का होना सर्वथा स्वाभाविक था। यही कारण है कि छायावादी कवियो ने स्थूल शृंगार-चित्रों को न अपनाकर अपने काव्य में न केवल शृंगार रस के सूक्ष्म रूप को ही अपनाया, अपितु उसे अप्रत्यक्ष रूप में नवीन रीति से अभिव्यक्त भी किया। इस धारा के कवियों ने या तो नारी की आत्मा के सौन्दर्य का चित्रण किया है अथवा प्रकृति पर नारी-भाव का आरोपण किया है। पन्त जी ने छायावाद की इन शृंगारिक प्रवृत्तियों को ग्रहण करते हुए नारी के प्रति उपभोग की अपेक्षा विस्मय के भाव का प्रदर्शन किया है। यह शृंगार रस को ग्रहण करने का एक और अभिनव दृष्टिकोण है। उनके अन्य सहयोगी कवियों ने कम से कम शृंगार रस को अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति अवश्य प्रदान की है और ऐसा करते समय वह केवल संकेतात्मक अभिव्यंजना-प्रणाली को ही ग्रहण कर पाये हैं और कहीं-कहीं अप्रत्यक्षता के स्पष्ट हो जाने के कारण उनके काव्य की विचित्र स्थिति हो गई है। इसके विपरीत पन्त जी के काव्य में नारी-जीवन के अनेक स्वस्थ चित्र प्राप्त होते हैं। वस्तुतः उन्होंने नारी के शारीरिक सौन्दर्य के अधिक चित्र उपस्थित नहीं किए हैं और कम से कम उनके माध्यम से कुंठित चेतना की तो कहीं भी अभिव्यक्ति नहीं की है। उनके शृंगार-चित्रों में

सौन्दर्य का काल्पनिक और मनोमय रूप उपलब्ध होता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनमें वास्तविकता का नितान्त अभाव है। उदाहरणार्थ उनके निम्नलिखित कोमल और मधुर शृंगार-चित्र को देखिए :—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकम्पित मृदु उर पुलकित गात।
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद नमित पलक दृक् पात॥

कल्पनाप्रियता

छायावादी कवियों ने कल्पना के सूक्ष्म चित्र उपस्थित करने की ओर विशेष ध्यान दिया है। पन्त जी के काव्य में भी यह कल्पना-विलास अपनी पूर्ण शोभा के साथ वर्तमान है और उन्होंने 'पल्लव' में अनेक मनोरम कल्पनाओं का समावेश किया है। 'निराला' जी के अतिरिक्त छायावाद का कोई भी अन्य कवि अपने काव्य में उनकी भांति कल्पना का उपयुक्त समावेश नहीं कर पाया है। वस्तुतः पन्त जी अपने काव्य में अथ से इति तक एक सौन्दर्यचेता कवि के रूप में वर्तमान रहे हैं और इस सौन्दर्य की योजना के लिए उन्होंने कल्पना का यथास्थान उपयोग किया है। उनकी कल्पनाएँ विविधरूपा होने के साथ-साथ मौलिकता के गुण से भी युक्त रही हैं। इस क्षेत्र में उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने अपनी कल्पनाओ में असम्भाव्यता का कही भी समावेश नहीं होने दिया है और उन्हें अधिकाधिक सूक्ष्म रूप में अवतरित करने का प्रयास किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनकी कल्पनाएँ प्रयास-जन्य हैं। वस्तुतः उनका उद्भव और विकास पर्याप्त सहज रूप में हुआ है और वे कृत्रिमता के दोष से दूषित नहीं होने पाई हैं। प्राकृतिक जगत् के कवि होने के कारण उनकी कल्पनाओं का सम्बन्ध भी प्रायः प्रकृति से ही रहा है और उन्होंने कल्पना के आधार पर प्रकृति की क्रियाओं को एक नवीन रूप में उपस्थित किया है। प्रकृति पर मानवीय भावनाओं और क्रियाओं के आरोप से सम्बद्ध काव्य में कल्पना की सजगता को अधिक स्थान प्राप्त हुआ है।

प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावादी काव्य में प्रकृति-चित्रण को विशेष महत्व प्राप्त रहता है। पन्त जी प्रकृति-विषयक छायावादी काव्य के मुख्य प्रणेता हैं और उन्होंने प्रकृति की छवि का स्वतन्त्र चित्रण किया है। मानवीकरण की प्रणाली को अपनाते हुए उन्होंने प्रकृति को एक विशेष सचेतन व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। उनकी प्रकृति सतत क्रियाशील रही है और मानव-मन को सौन्दर्य-चयन की प्रेरणा प्रदान करने की क्षमता उसमें पूर्ण रूप से वर्तमान है। छायावादी काव्य में प्रकृति की सजीव प्रतिकृति उपस्थित करने पर सर्वाधिक बल दिया जाता है और कल्पना के रम्य समावेश द्वारा उसे विविध रूपों में मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा की जाती है अर्थात् प्रकृति का मानवीकरण करने के अतिरिक्त छायावादी कवि उसके स्वाभाविक सौन्दर्य में कल्पना की विशिष्टता का भी मिश्रण करते हैं। पन्त जी के काव्य में हमें इन दोनों ही विशेषताओं का उपयुक्त

सन्निहन प्राप्त होता है। उनके काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी हम देखते हैं कि छायावाद के अनुकूल प्रकृति-चित्रण करने के क्षेत्र में उनका स्थान अपने सहयोगियों में सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि यह सत्य है कि कविवर जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी जी ने भी प्रकृति का सुन्दर छायावादी चित्रण किया है, किन्तु पन्त जी के काव्य में प्राप्त होने वाले प्रकृति-विस्तार का उनकी रचनाओं में निश्चय ही पर्याप्त अभाव रहा है। अतः आधुनिक युग में प्रकृति को सचेतन व्यक्तित्व प्रदान करने वाले कवियों में पन्त जी का स्थान सर्वोपरि है। उदाहरणार्थ उनके द्वारा उपस्थित किया गया 'चाँदनी' का निम्नलिखित सजीव चित्र देखिए :—

नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारद हासिनी।
मृदु करतल पर शशिमुख धर,
नीरव अनिमिष एकाकिनी॥

विषाद-भावना

छायावादी काव्य में माधुर्य-भाव-समन्वित विषाद का व्यापक चित्रण हुआ है और उसके कवियों ने करुणा और दुःखवाद को अपने काव्य का मूल विषय बनाया है। पन्त जी के काव्य में भी हमें यह प्रवृत्ति अत्यन्त व्यापक रूप में उपलब्ध होती है उनके अन्तम् में सामाजिक विषमताओं के प्रति जो वेदना भरी हुई है, उसका चित्रण इसी विषाद-भावना को पोषण प्रदान करता है। इस विषय में यह स्मरणीय है कि इस विषाद-भाव का सम्बन्ध कवि की अपनी वेदना से होता है। अतः विभिन्न सामाजिक विषमताएँ छायावादी काव्य में तभी स्थान पाती है, जब उनका कवि के जीवन से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस प्रकार इस विषाद का स्वरूप शुद्ध अन्तर्मुखी होता है और इसमें कवि के आत्म-चिन्तन का अनिवार्य समावेश रहता है। पन्त जी के काव्य में विषाद-चित्रण या यही क्रम रहा है। वस्तुतः इस दुखवाद की उनके काव्य पर इतनी गहरी छाप रही है कि उन्होंने कविता के उद्गम को ही दुःख से माना है। यथा :—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥

छायावाद की कला-विशेषताएँ

पन्त जी ने छायावाद के भाव-सौष्ठव की भाँति उसके कला-सौन्दर्य को भी व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी कविताओं में छायावाद की सभी कला-विषयक विशेषताएँ सहज रूप में प्राप्त हो जाती हैं। इस दृष्टि से उन्होंने छायावाद की प्रतीक-शैली और चित्र-शैली को अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है। शैली के अतिरिक्त भाषा, छन्द और अलंकार-प्रयोग के क्षेत्र में भी अपने काव्य में छायावादी कला की

वक्रता, व्यंजना और संकेत-प्रणाली का रमणीय समावेश किया है।

अलंकारों की योजना करते समय पन्त जी ने स्थूल उपमानों के स्थान पर सूक्ष्म, चित्र-विचित्र और मौलिक उपमानों का प्रयोग किया है। ये उपमान उनके काव्य में स्वतः अनायास ही समाविष्ट हो गए हैं। छन्द-प्रयोग की दृष्टि से उन्होंने लघु आकार वाले छन्दों की नवीन संगीतमय योजना की है। इसी प्रकार प्रगीत काव्य के रम्य प्रवाह की सृष्टि द्वारा भी उन्होंने छायावाद के कला-सौन्दर्य की वृद्धि की है। मानवीकरण और विशेषण विपर्यय नामक विदेशी अलंकारों के प्रयोग की छायावादी प्रवृत्ति भी उनके काव्य में यत्र-तत्र लक्षित होती है। इसी प्रकार अमूर्त को मूर्त और मूर्त को अमूर्त के रूप में चित्रित करने की प्रणाली को भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दरता के साथ ग्रहण किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन्होंने छायावाद के कला-सौन्दर्य और भाव-जगत् को अपने काव्य में उपयुक्त अभिव्यक्ति प्रदान की है।

पन्त जी के काव्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद के प्रति उनके मन में एक विशेष मोह वर्तमान रहा है। इसी कारण उन्होंने छायावादी काव्य की रचना के अतिरिक्त छायावाद के स्वरूप की भी विस्तृत चर्चा की है। वह उसके प्राण-प्रतिष्ठापकों में से एक रहे हैं और हिन्दी में उसे विकसित होते हुए देखना उन्हें विशेषतः इष्ट रहा है। अतः छायावाद का ह्रास होने पर उन्होंने उसका त्याग नहीं किया। इस विषय में 'आधुनिक कवि' की भूमिका में उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

"छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य-बोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। ·········· वह नये युग की सामाजिकता और विचार-धारा का समावेश नहीं कर सका था।"

इस समय हिन्दी में छायावादी काव्य-रचना का प्रायः अन्त हो चुका है। यदि किसी कवि द्वारा छायावादी भावनाओं को लेकर काव्य-रचना की भी जाती है तो इस ओर उसकी प्रवृत्ति सुनियोजित नहीं होती अर्थात् छायावाद उसकी रचनाओं में एक गौण स्थान लेकर आता है। प्रायः कविगण छायावाद की विशेषताओं का समग्रतः ग्रहण न कर उनका अंगभूत रूप में आश्रय लेते हैं और कविता के वर्ण्य विषय के अनुरूप उसमें छायावाद के किसी एक तत्व का प्रौढ़ स्तर पर समावेश कर देते हैं। इस प्रकार एक निश्चित और क्रमबद्ध काव्य-धारा के रूप में अस्तित्व में न रहने पर भी छायावाद का पूर्ण लोप नहीं हुआ है। पन्त जी द्वारा उसके पूर्ण त्याग की आशा भी हम नहीं कर सकते थे। वह अपने कवि-जीवन में उसकी सूक्ष्मता से विशेष प्रभावित रहे हैं और यही कारण है कि इस समय भी वह यदा-कदा उसकी प्रमुख विशेषताओं को अपनी काव्य-रचनाओं में एक-एक करके ग्रहण करते हैं। इस दृष्टि से उनकी छायावाद के पराभव के उपरान्त लिखी गई 'शिल्पी' नामक रचना में वैयक्तिकता और सौन्दर्य-चित्रण के तत्व विशेषतः द्रष्टव्य हैं।

: २० :

महादेवी जी का गीति-काव्य

कवयित्री महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद में सम्वत् १९६४ में हुआ था। उनके पिता का नाम गोविन्द प्रसाद तथा माता का नाम हेमरानी देवी था। आरम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति काव्य-रचना की ओर थी और वह मीरा के गीतों से अत्यधिक प्रभावित रहती थीं। उनके अधिकांश काव्य का सम्बन्ध छायावादी और रहस्यवादी भाव-प्रणालियों से है। वह प्रायः वेदनापूर्ण आध्यात्मिक गीतों की रचना किया करती हैं। काव्य के अतिरिक्त गद्य-रचना में भी उनकी पर्याप्त रुचि है और कहीं-कहीं उनके द्वारा किया गया गम्भीर और उत्कृष्ट काव्यालोचन भी प्राप्त होता है। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'दीपशिखा', 'सांध्यगीत' और 'यामा' महादेवी जी के मनोरम काव्य-संग्रह हैं और 'स्मृति की रेखाएँ', 'अतीत के चल-चित्र' एवं 'शृंखला की कड़ियाँ' उनके सुन्दर और भावपूर्ण गद्य-ग्रन्थ हैं। उन्होंने अपनी कविता में प्रकृति के अनेक छविमय चित्र अंकित किये हैं। माधुर्य और गेयत्व की दृष्टि से भी उनकी कवितायें अत्यन्त आकर्षक बन पड़ी हैं। वर्तमान समय में आध्यात्मिक कवियों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दी-काव्य-साहित्य के वर्तमान स्रष्टाओं में सुश्री महादेवी वर्मा का व्यक्तित्व सर्वाधिक मधुर है और उन्होंने सरस रागात्मक अन्तर्चेतना से समन्वित काव्य की बृहत् परिमाण में रचना की है। उनके काव्य का मूल विषय आध्यात्मिक संकेतों पर आधृत है और उन्होंने ईश्वर के प्रति आत्मा की साधना को अत्यन्त सफल रूप में संयोजित किया है। निसर्ग धरातल पर अवस्थित होने के कारण उनके काव्य में किसी प्रकार की हीन भावना के दर्शन नहीं होते और वह सदैव श्रेयस् का गान करती हुई प्रतीत होती हैं। महादेवी ने अपने अन्तस् की भाव-धारा को अभिव्यक्त करते समय उसमें सहजता और रागात्मकता के तत्वों के समावेश का विशेष ध्यान रखा है। काव्य में इस अखण्ड रस-चेतना का विधान करने के लिए उन्होंने बाह्य अनुभति को अपने अन्तर्लोक में पूर्णतः पचित कर लिया है और यही कारण है कि उनका] काव्य अतिशय सहृदय-संवेद्य हो गया है। अनुभूति के सूक्ष्म सत्य को प्रकट करने के लिए उन्होंने कला की दृष्टि से संगीत का आश्रय ग्रहण किया है और अत्यन्त प्रवहमान शैली में काव्य की रचना की है। किसी भी रसात्मक काव्य के लिए यह स्वाभाविक ही है कि रस के घनीभूत होने के साथ-साथ उसमें प्रगीतात्मकता का भी उपयुक्त विकास होता जाए और ठीक इसी प्रकार के

तत्वों से समन्वित होने के कारण महादेवी के काव्य का महत्व निश्चय ही चिर-कालीन है।

महादेवी जी ने अपनी भावनाओं का संयोजन करते समय प्रगीत-काव्य के तत्वों का अधिकाधिक मात्रा में संग्रहण किया है और प्रत्येक प्रकार से यह प्रयास किया है कि उन्हें अपने काव्य में सहज व्याप्त कर उनके द्वारा रस का विशिष्ट मात्रा में संयोजन करें। उन्होंने अपनी पदावली में अनुभूति की निश्छल अभिव्यक्ति, आत्म-संस्कार की सजग चेतना और आनन्दमय प्रतीकों की स्पष्ट और पृष्ठभूमिगत भावना को विशेष पल्लवन प्रदान किया है। इन सभी से युक्त होने के कारण उनकी काव्य-कृतियों में जिन मधुरिम भाव-लहरियों का उद्भावन हुआ है वे निश्चित रूप से अध्येता की मनस् चेतना को अविलम्ब अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। 'नीरजा', 'नीहार', 'दीपशिखा', और सांध्य-गीत', सभी के विषय में यह समान रूप से सत्य है।

महादेवी जी ने अपने काव्य का सृजन सर्वत्र मुक्तक रूप में किया है। गीति-तत्व का समावेश भी प्रबन्ध कृति की अपेक्षा मुक्तक कृति में ही अधिक होता है। अतः महादेवी जी के काव्य में गीति-तत्व को शीर्ष स्थान प्राप्त हुआ है और हमें उनकी सभी कृतियों में उसका उपयुक्त प्रवाह दृष्टिगत होता है। उनके काव्य में आत्मा की रागात्मिका वृत्ति का जितने रमणीय एवं निसर्ग धरातल पर अवतरण हुआ है उतना अन्यत्र विरल ही है। वस्तुतः महादेवी को कलाकार के अन्तस् का पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त है और वह न केवल काव्य-कला की ही मर्मज्ञ विदुषी हैं, अपितु संगीत-कला और चित्र-कला में भी उनकी यथेष्ट गति है। इनसे युक्त होने के कारण ही वह अपने काव्य में एक ओर गीति-तत्व का और दूसरी ओर चित्र-तत्व का इतना सफल संयोजन कर सकी हैं। चित्र-शैली को ग्रहण कर अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने में वह पूर्णतः दक्ष हैं और विशेषकर अपनी छायावादी कविताओं में उन्होंने इस प्रवृत्ति का सुन्दर निदर्शन उपस्थित किया है। आगे हम उनकी चित्र-शैली को उदाहृत करने के लिए उनका एक सुन्दर गीत उपस्थित करते हैं :—

> **मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !**
> **युग-युग, प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल,**
> **प्रियतम का पथ आलोकित कर।**
> **सौरभ फैला विपुल धूप बन,**
> **मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन।**
> **दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,**
> **तेरे जीवन का अणु गल-गल ॥**
> **पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !**

कलात्मक रुचि के फलस्वरूप महादेवी जी ने अपने काव्य का प्रणयन करते समय संगीत के विशिष्ट आरोह-अवरोह और स्वर-ताल आदि के समवेत संयोजन का सर्वत्र ध्यान रखा है। वस्तुतः उनकी कृतियों में सांगीतिक तत्वों की गति मूल रूप से उत्कृष्ट और संवेदनशील भाव-लहरी की ओर प्रेरित रही है। काव्य के इस सूक्ष्म रूप-

विधान से समन्वित होने के कारण ही उनकी रचनाएँ सहृदय अध्येताओं की मनसा को प्रभावित करने में इतनी अधिक सक्षम हैं। प्रगीत-काव्य की लक्ष्य-सिद्धि के लिए उसमें सांगीतिक चेतना की अन्तर्व्याप्ति सर्वाधिक अपेक्षित है। जिस समय काव्य में संगीत की मनोमय चेतना का समावेश हो जाता है उस समय उसके कलेवर में व्याप्त रुक्षता का पूर्णतः निराकरण हो जाता है और वह अध्येता के अन्तस् पर प्रभाव डालने में अधिक सक्षम हो जाता है। इस तत्व की समष्टि का अनिवार्य फल यही है कि काव्य के अंचल से उसके सभी पूर्वाविरोध समाप्त हो जाते हैं और उसके इतिवृत्त में एक प्रकार की विशिष्ट सजीवता और सरसता का संचार हो जाता है। इस प्रकार की मनोमय चेतना से समाविष्ट गीति-काव्य में एक ओर तो स्वर और ताल की स्थूल अभिव्यक्ति रहती है और दूसरी ओर उसके पार्श्व में मन की मार्मिक अनुभूतियाँ भी सूक्ष्म रूप में पल्लवित होती रहती हैं और उनकी भाव-लहरी का प्रछन्न तथा मार्मिक अभिव्यंजन अत्यन्त मधुर रीति से समग्र उपलब्ध तत्वों को वशीभूत करता जाता है। उदाहरणार्थ उनका निम्नलिखित पद देखिए :—

क्या पूजा, क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर, मेरा लघुतर जीवन रे !
मेरी श्वासें करती रहतीं, नित प्रिय का अभिनन्दन रे !
पदरज को धोने उमड़े आते, लोचन में जलकण रे !
अक्षत पुलकित रोम, मधुर पीड़ा का चन्दन रे !
स्नेह भरा जलता है झिलमिल, मेरा यह दीपक मन रे !
मेरे दृग के तारक में, नव उत्पल का उन्मीलन रे !
प्रिय-प्रिय जपते अधर, ताल देता पलकों का नर्तन रे !

संगीत के माध्यम से मनस् चेतना की इस मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति का विधान करना प्रत्येक कवि के वश का कार्य नहीं है, केवल कुछ ही व्यक्ति इसकी उपयुक्त प्रतिपत्ति में सफलता का लाभ कर पाते हैं। कवयित्री महादेवी ने इसके निर्वहन का उचित ध्यान रखा है और उनके काव्य में यह विशिष्टता अथ से अन्त तक अन्तर्व्याप्त है। उनकी भावना-प्रधान मनसा ने संगीत की कलात्मक रुचि को और भी निखार प्रदान किया है और उसके विभिन्न अंग हमारे समक्ष पूर्ण सजीव रीति से उभर आये हैं। इस प्रकार के स्थलों पर हमें सहसा ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो हमारे समक्ष किसी दिव्य लोक की रागिनी ने साकार रूप धारण कर लिया हो और वह हमारे प्राणों में भी अपनी रम्य चेतना का शनैः शनैः मधु-मिश्रण करने लगी हो। आगे हम अन्तस् की इसी रागात्मिका वृत्ति से संयुक्त उनके कुछ उत्कृष्ट छन्द उद्धृत करते हैं :—

तुम मुझ में प्रिय, फिर परिचय क्या ?
तेरा अधर-विचुम्बित प्याला
तेरी ही स्मिति-मिश्रित हाला;
मैं पूछूं फिर मेरे साकी
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या ?
तुम सो जाओ मैं गाऊँ
मुझको सोते युग बीते
तुमको यों लोरी गाते;
अब आओ मैं पलकों में,
स्वप्नों से सेज बिछाऊँ !

इन पदों में संगीत के भावपूर्ण आरोह-अवरोह का अत्यन्त रमणीय समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके मूल में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में आत्म-विश्वास की जिस गम्भीर भावना का अन्तर्प्रवाह रहा है वह भी संगीत-सौष्ठव की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। इससे हमें कवयित्री की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का ही परिचय उपलब्ध होता है। उनकी भावनाओं का सदैव संगीत-तत्व में एकरूप होकर अवतरण हुआ है और काव्य के रागात्मक पक्ष के संयोजन के लिए यह निश्चय ही एक बहुत बड़ी सुविधा है। महादेवी जी के गीतों में संगीत की समष्टि अत्यन्त सहज रूप में हुई है और हमें उसमें किसी भी प्रकार के आयास के चिन्ह उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में हमें भावोद्रेक और संगीत-तत्व का अखण्ड प्रवाह उपलब्ध होता है :—

कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित,
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में,
घुमड़ फिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में ।
कौन तुम मेरे हृदय में ?

प्रगीत-काव्य में आत्म-कथन की संक्षिप्ततम प्रणाली का परिग्रहण किया जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसमें विस्तार की प्रवृत्ति का परित्याग करना अनिवार्य है। विस्तृत होने पर भी यदि किसी रचना में प्रगीत-काव्य के अन्य तत्वों का समावेश यथाविध रीति से हुआ है तो उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भी गीत का अत्यधिक विस्तार कदापि वांछनीय नहीं है। इससे संगीत की गति में अनावश्यक अवरोध के संचार का भय रहता है। आत्मा का जितना सहज उद्भावन संक्षिप्त पद में सम्भव है उतना विस्तृत एवं वर्णनात्मक आख्यान में नहीं। महादेवी जी ने इस तथ्य का सर्वत्र ध्यान रखा है और यही कारण है कि उनके किसी भी गीत में अतिवाद अथवा बोझिलता का समावेश नहीं हो पाया है। उनकी दृष्टि सदैव विषय की मूल चेतना पर केन्द्रित रही है और उनके प्रत्येक गीत में आत्मा के आकुल भाव-निवेदन की स्थिति है। यही कारण है कि उनके गीतों में अनावश्यक विस्तार कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। यथा :—

प्राण पिक, प्रिय नाम रे कह !
मैं मिटी निस्सीम प्रिय में,
वह गया बँध लघु हृदय में,
अब विरह की रात को तू
चिरमिलन का प्रात रे कह !

प्रगीत-काव्य की सफल सृष्टि के लिए यह नितान्त अपेक्षित है कि उसमें सम्बद्ध व्यक्ति अथवा विषय की समग्र मूल वृत्तियों का सहज और स्वतन्त्र आधार पर उद्भावन किया जाए। महादेवी जी ने अपने काव्य में रस-तत्व की समष्टि का ध्यान रखते हुए आत्मा और परमात्मा के बीच एक मधुर रहस्य-सम्बन्ध की स्थापना की है और इसी कारण उन्होंने परमात्मा के अपने प्रियतम के रूप में दर्शन किये हैं। उनके समक्ष उन्होंने अपनी प्रत्येक भावना का बिना किसी दुराव-छिपाव के स्पष्ट कथन किया है और यही कारण है कि उनकी अभिव्यंजना कृत्रिम न होकर इतनी स्वस्थ बन पड़ी है। प्रिय-वियोग की स्थिति मे अपने अन्तम् की व्यथा का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करने में उन्हें किसी प्रकार के संकोच की अनुभूति नही होती और भाव-प्रतिपादन की यह अनावृत्त प्रणाली ही गीति-काव्य की मूल संयोजिका है। महादेवी का यह विरह चिरकाल मे वर्तमान है और उसकी कोई निश्चिन परिधि नही है। उनकी मनसा पर प्रिय की स्मृति के अक्षर अमिट रूप में अंकित रहते हैं और वह अहर्निश उसकी प्रतीक्षा में संलग्न रहती हैं। विरह-चेतना की इस प्रबल अभिव्यक्ति में कवयित्री की सफलता का मूल रहस्य यही है कि इसकी पृष्ठभूमि मे स्थित संयोग की चेतना अपने आप में अत्यन्त सक्षम है। संयोग के मधुर क्षणों को अभिव्यक्त करने वाले इन पदों में हृदय के प्रत्येक कोण की अत्यन्त रम्य अभिव्यक्ति हुई है और इनमें कवयित्री ने विश्वास का एक चिरन्तन राग ढाला है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता पद-चिन्ह जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ !

महादेवी जी के गीतों में चेतना को आकृष्ट करने वाली रम्य-मधुर वाणी का सुन्दर सन्निहन हुआ है। नाद पर आधृत होने के कारण संगीत में सूक्ष्म सौन्दर्य लहरियों की जो स्वाभाविक व्याप्ति रहती है वह उनके गीतों में अत्यन्त निखरे हुए रूप में वर्तमान है। उन्होंने संगीत की स्वर-चेतना और रागात्मक भावना के विरल सामंजस्य को मुखरित करने का सदैव प्रयास किया है। यही कारण है कि उनके गीतों का अध्ययन और श्रवण अध्येता और श्रोता के लिए विशेष रागात्मक आनन्द का विषय है।

: २१ :

द्विवेदी जी का बाल-काव्य

कविवर सोहनलाल द्विवेदी हिन्दी के प्रमुख राष्ट्रीय कवि हैं। 'पूजागीत', 'चित्रा', 'भैरवी' और 'वासवदत्ता' उनके श्रेष्ठतम काव्य-संग्रह हैं। वर्तमान युग के अन्य हिन्दी-कवियों से भिन्न उनकी एक पृथक् विशेषता यह है कि वह तरुणों के साथ-साथ शिशुओं के भी कवि हैं। आधुनिक युग में बाल-साहित्य के रचयिताओं में निश्चय ही उनका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनकी 'बिगुल', 'शिशु-भारती' तथा 'झरना' आदि रचनाएँ इस कथन को स्पष्टतः सिद्ध करती है।

द्विवेदी जी की अधिकांश कविताओं में गाँधीवाद के सिद्धान्तों की सरल और स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उनकी कविताओं में भारत की गौरवपूर्ण संस्कृति के स्वर सर्वत्र प्रधान रहे हैं। प्राचीन और नवीन, दोनों के प्रति उन्हें समान अनुराग है। उन्होंने जीवन का अत्यन्त शान्तिपूर्वक अध्ययन किया है और अपने काव्य में युग की प्रचलित भावनाओं को पर्याप्त अभिव्यक्ति प्रदान की है। वह कविता में सहजता और स्वाभाविकता को सर्वाधिक आवश्यक मानते हैं। इसी कारण उनकी भाषा भी अत्यन्त सरल और स्वच्छ है। इस प्रकार उनकी कविताओं में प्रसाद गुण की मुख्य रूप से व्याप्ति हुई है और प्रसंग के अनुकूल उनमें माधुर्य गुण को भी ग्रहण किया गया है। भाषा की दृष्टि से नितान्त स्पष्ट और भावों की दृष्टि से पूर्णतः निष्कलुष होने के कारण उनकी कविताएँ अत्यन्त हृदयग्राही हो गई है। आयु-प्राप्त व्यक्तियों के लिए लिखित साहित्य की भाँति अपने बाल-साहित्य में भी वह सरलता और स्वाभाविकता के आयोजन की ओर विशेष सचेष्ट रहे हैं। आगे हम उनकी 'शिशु-भारती' और 'झरना' नामक काव्य-रचनाओं का परिचयात्मक अध्ययन उपस्थित करेंगे।

शिशु-भारती

'शिशु-भारती' पण्डित सोहनलाल द्विवेदी की बालोपयोगी कविताओं का एक उत्कृष्ट संग्रह है। इसका अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शिशु के अन्तस् में विश्व-प्रेम का एक मधुर भाव भर देना चाहते हैं। वस्तुतः वह जन-पार्थक्य को आत्म-विघातक मानते हैं और इसी कारण सह-भाव में विश्वास व्यक्त करते हुए बालक की चेतना को प्रारम्भ से ही इस ओर प्रेरित रखने के लिए कहते हैं :—

गायेंगे सब मिल नया गान !
× × ×
हैं एक देह, हैं एक प्राण,
हम सब समान, हम सब समान !
× × ×
हिल मिल कर साथ रहेंगे हम,
दुख सुख सब साथ सहेंगे हम,
नित विमल प्रेम की गंगा में,
घुल मिल कर साथ बहेंगे हम !
लायेंगे नवयुग का विहान !

उपर्युक्त पद्य के अध्ययन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपने बाल-पाठक को विश्व-मानवता के सिद्धान्त से सरलतम रीति से अवगत कराने का प्रयास किया है। बालोपयोगी भावों के स्पष्टीकरण के लिए इस प्रणाली को अपनाने के अतिरिक्त उन्होंने मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हुए एक ही विशेष भावना पर बल डालने की प्रणाली को भी ग्रहण किया है। शिशु के कोमल मन पर वांछित प्रभाव की सृष्टि करने के लिए वह एक भाव का दो अथवा इससे अधिक बार कथन करते हैं। इस प्रणाली के अनुसार रचित काव्य का अध्ययन करने पर बालक स्वभावतः पहले इस प्रकार की पंक्तियों के प्रति विशिष्ट आकर्षण का अनुभव करता है और तदनन्तर उनके भावों को हृदयंगम कर लेता है। यथा :—

हरो अज्ञान,
हरो अज्ञान,
हमारा हरो सकल अज्ञान।
भलाई का जिसमें हो ज्ञान ।।

द्विवेदी जी हिन्दी के वर्तमान राष्ट्रीय विचार-धारा से युक्त काव्य के प्रमुख प्रणेताओं में से हैं। अपनी बाल-कविताओं में भी उन्होंने स्वदेशानुराग की इस अमर भावना को सर्वाधिक श्रेय प्रदान किया है। सामान्यतः हिन्दी-काव्य का अध्ययन करने पर हम उसमें बालकों को स्वदेश-भक्ति की ओर उन्मुख करने वाली कविताओं का अभाव ही पाते हैं। बालक के समीपस्थ वातावरण, उसकी विभिन्न रुचियों, उसके सम्पर्क में आने वाली वस्तुओं और उसके आचार का नियमन करने वाले तत्वों का वर्णन तो हिन्दी के अनेक कवियों ने किया है, किन्तु बाल-काव्य में राष्ट्रीयता का समावेश करने की ओर सर्वप्रथम द्विवेदी जी का ही ध्यान आकृष्ट हुआ। यह एक सर्वथा मौलिक और स्वस्थ प्रवृत्ति है और उनके परवर्ती कवियों ने बाल-काव्य की रचना करते समय इससे यथास्थान प्रेरणा ली है। वस्तुतः किसी भी देश का भावी स्वरूप उसके बालकों के श्रेष्ठ चरित्र-विकास पर ही आधृत रहता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि उन्हें प्रारम्भ से ही देश के महत्व से अवगत रखा जाए। द्विवेदी जी ने अपने काव्य के शिशु अध्येता से भी इसी आकांक्षा को इस रूप में अभिव्यक्त कराया है :—

हे भगवान् !
दया-निधान !!
मुझको दो इतना वरदान,
चाहे दुख हो,
चाहे सुख हो,
रहे देश का हरदम ध्यान ।

द्विवेदी जी के काव्य में उद्बोधन शक्ति का अत्यन्त उपयुक्त सचरण दृष्टिगत होता है। उन्होंने अपनी कविताओं में बाल -जीवन की विविध आवश्यकताओं को प्रकट कर बालकों को प्राय: यह सन्देश दिया है कि वे अपने जीवन को आदर्श विचार-धारा से संयुक्त रखें । उनकी रचनाओं में मानसिक स्वास्थ्य के स्वर अत्यन्त मुखर हो उठे हैं। यथा :—

पत्ती डोलीं,
चिड़िया बोलीं,
हुआ सवेरा, उठो उठो !

द्विवेदी जी ने सत्य को उसके आदर्श रूप में उपस्थित किया है। कर्म की प्रवृत्ति उनके काव्य में प्रधान रही है। इसी कारण अवचेतनवादी एवं आलस्यपरक भावनाओं का परित्याग कर समय पर कार्य करने की महत्ता का उन्होंने अनेक स्थानों पर प्रतिपादन किया है। बालक के भाव-विकास को स्वस्थ दिशा की ओर उन्मुख करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसके जीवन को प्रारम्भ से ही कर्मशील रखा जाए। इस कर्मशीलता का विधान दो रूपों में सम्भव है। एक ओर तो बालक अपने माता-पिता, अभिभावकों तथा परिवार के अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आकर उनसे कर्मण्यता की शिक्षा प्राप्त करता है और दूसरी ओर भाषा-ज्ञान होने पर साहित्य के अध्ययन द्वारा भी उसे कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है। गृह-वातावरण की भाँति ही साहित्य का अध्ययन भी बालक के भाव-विकास में विशेष सहायक रहता है। द्विवेदी जी बाल-जीवन के इस तथ्य से पूर्णत: परिचित हैं और इसी कारण उन्होंने कर्म-प्रेरणा के विषय में अपने भावों को अत्यन्त सशक्त रीति से प्रतिपादित किया है। उदाहरणार्थ उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

पीछे रहना ठीक नहीं,
यह है वीरों की लीक नहीं।
× × ×
यदि आज बढ़ोगे अभी नहीं,
तो बढ़ न सकोगे कभी कहीं ।
× × ×
इसलिए बढ़ो, बढ़ते जाओ,
आगे आओ, आगे आओ !

कविवर सोहनलाल द्विवेदी गाँधीवादी सिद्धान्तों के अनुयायी हैं। उनका प्रचार करने के लिए उन्होंने प्रत्येक सम्भव अवसर का उपयोग किया है। इस सम्बन्ध में हम खद्दर के स्तवन में उनका एक प्रतिवेदन उद्धृत करते हैं। यद्यपि भाव-केन्द्रीकरण के अभाव में यह वर्णन अधिक आकर्षक नहीं बन पड़ा है, तथापि उनकी विचार-धारा को हृदयंगम करने में अवश्य सहायक है :—

सुन्दरता का जाला कपड़ा,
सस्ता सुघर सँभाला कपड़ा।
गाँधी का गुण वाला कपड़ा,
खद्दर सबसे आला कपड़ा॥

मानवीय चेतना पर समीपस्थ वातावरण का जितना अधिक प्रभाव पड़ता है, दूरवर्ती तत्व चेष्टा करने पर भी उतने प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाते। इसी कारण द्विवेदी जी नित्य-प्रति व्यवहार में आने वाली वस्तुओं को उपमान-रूप में ग्रहण करते हैं और बालक के मन में अपनी भावनाओं को सहज रूप में स्वतः समाविष्ट कर देना चाहते हैं :—

मीठे होते आम निराले
मीठे होते जामुन काले।
मीठे होते गन्ने गोल
सबसे मीठे-मीठे बोल !

प्रस्तुत काव्य-संकलन की अन्य कविताओं में भी इन्ही विभिन्न विचार-धाराओं को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। सामान्य विश्लेपण के उपरान्त हम देखते हैं कि इन कविताओं का सम्बन्ध अधिकतर गांधीवाद, राष्ट्रीयता, प्रकृति-सौन्दर्य और बालक के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य से रहा है। इन सभी का उद्देश्य अन्ततः यही है कि बालक के मन में संसार की कलुपित वृत्तियाँ स्थान न बनाने पाएँ और वह अपने जीवन को विविध उदात्त प्रवृत्तियों के आधार पर निरन्तर विकासशील बनाने में सफल हो सके। वस्तुतः किसी भी देश के बालक ही कालान्तर में वहाँ के सभ्य नागरिकों का स्थान ग्रहण करते हैं और देश की प्रगति का सम्पूर्ण दायित्व अन्ततः उन्हीं पर आता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर बाल-साहित्य में स्वस्थ विचारों की अभिव्यक्ति की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। सन्तोष का विषय है कि द्विवेदी जी ने इस कृति में इस आवश्यकता को पूर्ण करने का यथासम्भव प्रयास किया है और अपने भावों तथा भाषा को कहीं बोझिल नहीं होने दिया है।

झरना

'झरना' का पण्डित सोहनलाल द्विवेदी के बालोपयोगी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। द्विवेदी जी ने अपने काव्य के माध्यम से शिशुओं के सरल हृदयों का संस्कार करने का सफल प्रयत्न किया है। 'झरना' में उन्होंने ईश-प्रेम, स्वदेश-भक्ति, प्रकृति एवं शौर्य को अपने काव्य के आधारभूत विषयों के रूप में अंगीकृत किया है। ग्रन्थ के

प्रारम्भ में ही वह बालक की ओर से ईश्वर के प्रति निम्नलिखित विनय-भावों को अभि-व्यक्त कराते हैं :—

सुरभि फूल में, वह सुरभि है तुम्हारी,
पवन में प्रगति, वह प्रगति है तुम्हारी !

× × ×

मुझे शक्ति दो, गीत गाऊँ तुम्हारे,
मुझे भक्ति दो, काम आऊँ तुम्हारे।
मुझे आग दो, देश का हित करूँ मैं,
मुझे त्याग दो, देश के हित मरूँ मैं !

परमेश्वर के प्रति कवि के इस स्तव-गान में ग्रन्थ की सम्पूर्ण विषय-विभाजन की प्रणाली स्पष्ट हो गई है।

द्विवेदी जी हिन्दी के राष्ट्र-कवि हैं। आर्यावर्त की प्रत्येक महान् परम्परा पर उन्हें गर्व है। इसी कारण प्रारम्भ में ही वह देश के प्रत्येक शिशु के अन्तस्तल में देश-प्रेम की अमर ज्योति को जाग्रत कर देना चाहते हैं। भारतवर्ष की राष्ट्रीय महानता में हिमालय पर्वत का एक विशिष्ट स्थान है। इसी कारण बालकों को उसका परिचय देते हुए उन्होंने कहा है :—

ऊँचा खड़ा हिमालय,
आकाश चूमता है।
नीचे चरण तले पड़,
नित सिन्धु झूमता है ॥

× × ×

वह पुण्य भूमि मेरी, वह स्वर्ण भूमि मेरी।
वह जन्म भूमि मेरी, वह मातृभूमि मेरी ॥

हिमालय के पश्चात् हम गंगा और यमुना नाम्नी सरिताओं की अपनी राष्ट्रीय विभूतियों के अन्तर्गत गणना करते हैं। एक अन्य कविता में कवि ने स्वदेश की इन पावन सरिताओं का इस प्रकार स्मरण किया है :—

गंगा यमुना की विमल धार,
तन मन निर्मल करती अपार !
मिटते जीवन के सभी क्लेश।
जय जय स्वदेश !
जय जय स्वदेश !!

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने अपने बाल-साहित्य को प्राकृतिक छवि से समृद्ध करने के उपरान्त प्रकृति के विभिन्न उपकरणों का मानव-जीवन से सहज सम्बन्ध स्थापित किया है और व्यक्ति के जीवन-विकास में उनके योग-दान को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार वह प्रकृति को बाल-साहित्य में अपरिहार्य

स्थान प्रदान करने के इच्छुक हैं। आगे चलकर 'हिमालय' शीर्षक कविता में प्रकृति-सौन्दर्य की चर्चा करते हुए वह पुनः कहते हैं :—

यह है भारत का शुभ्र मुकुट,
यह भारत का उच्च भाल।
× × ×
है मानसरोवर यहीं कहीं,
जिसमें मोती चुगते मराल॥

हिन्दी के बाल-काव्य का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि हिमालय पर्वत को लेकर अनेक कवियों ने अपनी भावनाओं को स्पष्ट किया है। इन कविताओं को विषय-वर्णन की प्रणाली के आधार पर किशोरावस्था से पूर्व के बालकों के लिए तथा किशोरावस्था के बालकों के लिए विभाजित किया जा सकता है। द्विवेदी जी की हिमालय-विषयक प्रस्तुत कविता स्पष्टतः बालकों के लिए लिखी गयी है और यही कारण है कि इसमें भावों को अधिक गम्भीर आधार पर उपस्थित किया गया है। इस कविता में कवि ने हिमालय की प्राकृतिक शोभा का केवल वर्णनात्मक प्रणाली से उल्लेख नहीं किया है, अपितु इसमें कवि की विचारात्मकता का भी सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ इसी कविता में उन्होंने हिमालय के एक राजनैतिक महत्व की भी स्थापना की है। कवि ने इसकी ओर इस प्रकार संकेत किया है :—

इस पार हमारा भारत है,
उस पार चीन जापान देश।
मध्यस्थ खड़ा है दोनों में,
एशिया खण्ड का यह नगेश!

उपर्युक्त विवेचन से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि द्विवेदी जी ने अपने बाल-काव्य में किसी प्रकार के राजनैतिक मतवाद का प्रचार किया है अथवा वह बालक को किसी विशिष्ट राजनैतिक चिन्ता-धारा की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। वस्तुतः हिमालय-विषयक इस उक्ति का मूल लक्ष्य बालक के मन में विश्व-सौहार्द्र की भावना को जन्म देना है और इस दृष्टि से भारतवर्ष के चीन और जापान से सांस्कृतिक सम्बन्धों की ओर संकेत करने में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का अन्तिम लक्ष्य यही है कि देश के बालक अपने अस्तित्व को पहचान लें और स्वदेश-प्रेम के अमर भावों को आग्रहपूर्वक ग्रहण कर लें। इसी कारण प्रयाण-वेला में उनका शिशु-योद्धा गाता है :—

जननी की जय-जय गायेंगे,
हम सेवा करन जायेंगे।
सुख की है हमको चाह नहीं,
दुख की हमको परवाह नहीं॥
तन मन धन प्राण चढ़ायेंगे,
हम सेवा करने जायेंगे!

कवि पद-पद पर अपनी कविता में नवीन उद्‌बोधनों की सृष्टि करता चला गया है। मनोविज्ञान का एक मान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु का शनैः शनैः ज्ञान उसके प्रति हमारे रागात्मक प्रेम-सम्बन्धों को और भी दृढ़ कर देता है। इसी नियम का अनुगमन करते हुए कवि आगे कहता है :—

हुए यहीं रणवीर शिवा जी,
हुए यहीं प्रणवीर प्रताप।
जिनकी पद-रज ले लेने को,
शिर झुक जाता अपने आप॥
इन शूरों की वीर भूमि का,
हम में रमा हुआ जल अन्न।
धन्य हमारा भाग्य, हुए जो
हम इस भारत में उत्पन्न!

स्वदेश-प्रेम की निर्मल स्रोतस्विनी के पश्चात् द्विवेदी जी के काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य का झरना अविराम गति से बहता चला गया है। कवि ने प्रकृति का अत्यन्त निकट से अध्ययन किया है और कल्पना के योग से उसे अत्यन्त सरल रूप में अंकित कर दिया है। भारतवर्ष की प्रकृति-सौन्दर्य-सम्बन्धी सम्पन्नता को लक्षित करते हुए यह सर्वथा स्वाभाविक भी है। वस्तुतः प्रत्येक भारतीय बालक के मन में प्रकृति-दर्शन की तीव्र इच्छा वर्तमान रहती है और नगर के संघर्षमय वातावरण में रहने के कारण प्रकृति के निकटतम परिचय में न आ पाने का उसे हार्दिक खेद होता है। ऐसी अवस्था में उसके हृदय में अभावों अथवा हीन मनोवृत्तियों का संचार नहीं होने देना चाहिए और कल्पना के आधार पर प्रकृति-दर्शन की सुविधा प्रदान की जानी चाहिए। इस कथन से हमारा तात्पर्य यह है कि बालक को प्रकृति के अल्प-परिचित तत्वों की पूर्णता की कल्पना करने के लिए उन्मुक्त क्षेत्र प्राप्त होना चाहिए। हिमालय पर्वत तथा गंगा नदी को देखने का अवसर सभी बालकों को प्राप्त नहीं होता, किन्तु कवि-वर्णन के आधार पर उनके कल्पित दर्शन सभी को प्राप्त हो सकते हैं। द्विवेदी जी की कविताओं में प्रकृति के विभिन्न चित्र मिलते हैं। वायु के एक शीतल झोंके में प्रकृति के अणु-अणु में स्पन्दन उत्पन्न कर देने की कितनी शक्ति है, यह उनकी निम्नलिखित कविता में देखिए :—

बहा हवा का शीतल झोंका,
डोल उठी डाली डाली।
बहा हवा का शीतल झोंका,
कुहुक उठी कोयल काली॥
बहा हवा का शीतल झोंका,
बेलें उठीं लहर में झूल।
बहा हवा का शीतल झोंका,
कलियाँ लचक गईं बन फूल॥

प्रकृति के विभिन्न उपादानों में एक सहज छवि का समावेश रहता है। उनका दर्शन करने पर दर्शक और अध्ययन करने पर पाठक अपनी सभी विपत्तियों के भूल जाते हैं और उनके मन में क्रमशः आनन्ददायिनी शीतलता का संचार होने लगता है। इसी प्रकार की एक अन्य कविता में द्विवेदी जी ने धूप की चमकीली आभा का विश्लेषण किया है और उसके आलोक में स्वर्ण-जाल के भव्य दर्शन किए हैं:—

क्या ही सुन्दर दिखलाती है,
जब प्रातः आती है धूप।
फूट-फूट सौ-सौ किरणों में,
पेड़ों पर छाती है धूप॥
पत्तों के भीतर से लुक छिप,
छाया में आ आ कर।
पृथ्वी में कैसा सोने का
जाल बिछा जाती है धूप?

द्विवेदी जी ने प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन किया है और बालकों को वर्ण्य प्राकृतिक पदार्थ की श्री से पूर्णतः अवगत कराने का प्रयास किया है। उनके बाल-साहित्य में प्रकृति के स्थूल चित्रों अथवा उसके परम्परागत वर्णनात्मक आख्यान को अधिक स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। उनके काव्य में प्रकृति का पूर्ण विश्लेपण हुआ है। प्रत्येक बालक को ज्ञात होता है कि वृक्ष की टहनियों में जब नई-नई कोंपलें फूटती हैं तब उनकी छटा दर्शनीय होती है, किन्तु इस सौन्दर्य को सामान्य प्रणाली से वर्णित न कर द्विवेदी जी ने इसके विभिन्न अंगों को इस प्रकार अंकित किया है:—

निकली कोंपल, निकली कोंपल!
कुछ स्वर्ण रंग कुछ ताम्र रंग,
कुछ लौह रंग का लिये ढंग
नीले, पीले बैंजनी अंअ॥
कुछ लाल गुलाबी, कुछ उज्ज्वल
निकली कोंपल, निकली कोंपल!

पतझड़ के शुष्क वातावरण में प्रकृति का कोमल मुख कुम्हला जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उसकी जीवन-बेल मानो अब सूख ही जाएगी, किन्तु उसी समय आशा का नूतन सन्देश लिये हुए मधुर वसन्त प्रवेश करता है और तृण-तृण में हरियाली छा जाती है। प्रकृति की उस बदलती आभा को देखकर हमारे कवि का अन्तर उल्लास से प्रदीप्त हो उठता है और जागरण की उस नूतन वेला में वह अत्यन्त उत्साह से गाता है:—

आया बसंत, आया बसन्त।
छाई जग में शोभा अनन्त!

सरसों खेतों में उठी फूल,
बौरें आमों में उठी झूल ।
बेलों में फूले नये फूल,
पल में पतझड़ का हुआ अन्त !
आया बसन्त आया बसन्त !

जिस प्रकार बाल-साहित्य में राष्ट्रीयता का समावेश करने वाले कवियों में श्रीयुत सोहनलाल द्विवेदी अग्रगण्य हैं उसी प्रकार उसमें प्रकृति के शुद्ध स्वरूप को अंकित करने वाले कवियों में भी उनका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। यद्यपि प्रकृति-वर्णन हिन्दी के बाल-काव्य का सर्वप्रमुख अंग है और विश्व की अन्य भाषाओं में भी उसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, किन्तु प्रायः कविगण उसकी ओर उपयुक्त ध्यान नहीं दे पाते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी के बाल-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि कवियों ने अपने प्रकृति-चित्रों में हृदय की प्रेरणा अथवा सूक्ष्म अनुभूति के स्थान पर विचार-बोझिलता का अधिक समावेश किया है। उनके अधिकांश प्रकृति-चित्रों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होने लगता है कि सम्भवतः अपने वर्ण्य के कुछ अंशों को उन्होंने केवल विचारात्मक आधार पर उपस्थित कर दिया है और उनमें कल्पना का अंश कम है। द्विवेदी जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण की यह स्थिति नहीं रही है और उन्होंने प्रकृति के शुद्ध आलम्बनात्मक चित्र अंकित किये हैं। इस क्षेत्र मे उनका महत्व निर्विवाद वही है जो वय-प्राप्त व्यक्तियों के लिए लिखित प्रकृति-काव्य में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का है। पन्त जी की भाँति उन्होंने भी अपने बाल-काव्य में प्रकृति चित्रण को व्यापक स्थान प्रदान किया है। यही कारण है कि प्रकृति की नव सुषमा के दर्शन कर कवि का अन्तर भी ठीक उसी प्रकार का सरल और निश्छल जीवन व्यतीत करने को लालायित हो उठता है और वह कहने लगता है :—

जल में कैसी उठ रही लहर ?
उठ उठ गिर गिर कर छहर छहर !
× × ×
मैं भी बन जाऊँ एक लहर !
घुल मिल कर खेलूं प्रहर प्रहर !

संसार में धनवान और निर्धन अथवा सम और विषम का नित्य-प्रति घटित होने वाला आवर्त्तन-चक्र देखकर कवि घबरा उठता है और भोले शिशु को उसकी दलदल से बचाने का दृढ़ संकल्प कर लेता है। उस समय वह प्रकृति के उस प्रेममय व्यवहार का निदर्शन कराता है जिसमें वह सुन्दर और असुन्दर, सबके प्रति एक ही-सा आचरण करती है। 'बादल' के माध्यम से कवि ने अपनी इसी भावना को इस प्रकार व्यक्त किया है :—

सागर हो या रहे तलैया,
सब पर जल बरसाता बादल ।

महल रहे या रहे मड़ैया,
सब पर जल बरसाता बादल ॥
भेद भाव है नहीं दिखाता,
प्रेम भाव दरसाता बादल ।
इसी लिए वह सबको भाता,
सब पर जल बरसाता बादल ॥

इसी प्रकार कवि 'दूर्वा का गीत' नामक कविता के माध्यम से भी शिशु के हृदय में निस्वार्थ सेवा-भावना को जाग्रत करना चाहता है। अनुकरण की प्रवृत्ति मानव-मात्र में स्वाभाविक ही है। इस प्रकार प्रकृति के माध्यम से अध्येता के अन्तर में इस प्रकार की स्वर्गिक भावनाओं को अंकुरित करने का कवि का यह प्रयत्न निश्चय ही अत्यन्त स्तुत्य है :—

पशु-पंछी करते हैं किलोल,
मेरे आँगन में डोल-डोल ।
मैं लेती हूँ कुछ भी न मोल,
देती हूँ जग को सुख अमोल ॥
मैं जग का ताप मिटाती हूँ,
मैं चुपके-चुपके आती हूँ !

प्रस्तुत कविता में कवि अभिनयात्मकता के अंश का सम्मिश्रण करने में अत्यन्त सफल हुआ है। कविता की प्रथम पंक्तियों का अध्ययन करते ही नयनों के सम्मुख सहसा एक चित्र-सा साकार हो उठता है। जिस समय दूर्वा के अन्तरतम से निम्नलिखित भावनाएँ प्रस्फुटित होती हैं उस समय भला किस प्राणी का अन्तर उल्लास से हरा न हो जाएगा :—

मैं लघु-लघु, प्रिय-प्रिय, लहर-लहर,
छवि छिटकाती हूँ छहर-छहर ।
क्या ग्राम-ग्राम क्या शहर-शहर,
नव जीवन लाती प्रहर-प्रहर ॥
× × ×
पग डंडी पर बिछ जाती हूँ ।
मैं चुपके-चुपके आती हूँ ॥

सम्भवतः साहित्य में इसी प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को लक्षित कर भर्तृहरि ने कहा था :—

साहित्य-संगीत-कलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छ विषाणहीनः
तृणं न खादन्नपि जीवमानं,
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥

संसार की राग-द्वेषादि कटु भावनाओं को विस्मृत करने के लिए सौन्दर्य का निकट परिचय अत्यन्त आवश्यक होता है। प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाले व्यक्ति को इस सौन्दर्य की अनुभूति इसके सर्वश्रेष्ठ रूप में होती है। इसी कारण कवि का बाल-पाठक कह उठता है :—

मेरे घर के पास लगा है,
पेड़ नीम का हरा भरा।
उसकी डालें झुक झुक छूतीं,
मेरे रहने का कमरा॥

× × ×

नीम न होती अगर सामने,
तो घर उजड़ा दिखलाता।
हरियाली के बिना हमारा,
दिल न यों हरा रह पाता!

बालक ने इस अनुभूति को अत्यन्त गम्भीर रूप में उपस्थित किया है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने प्रकृति को उसकी समग्रता मे पहचान लिया है और अपने जीवन को प्रकृति से भिन्न रहकर विकसित होते हुए देखने के लिए वह प्रस्तुत नही है। वस्तुतः द्विवेदी जी का लक्ष्य भी बालक के हृदय में इस नैसर्गिकता का विधान करना ही रहा है। इस स्थल पर यह स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि जिस प्रकार कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने काव्य में वय-प्राप्त व्यक्तियों के लिए प्रकृति को सर्वश्रेष्ठ रीति से निरूपित किया है, उसी प्रकार पं० सोहनलाल द्विवेदी ने अपने बाल-साहित्य में बालकों के मन का संस्कार करने के लिए प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन किया है।

द्विवेदी जी के प्रमुख बाल-काव्यों का अध्ययन करने पर सामान्यतः हमें उनके बाल-साहित्य की मूल विचार-धाराओं का पर्याप्त परिचय प्राप्त हो जाता है। उनके बाल-काव्य में प्रायः इन्हीं वर्ण्य विषयों को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। उनके अतिरिक्त इस युग में अन्य कवियों ने इस धारा के विकास में अधिक योग नहीं दिया है। श्रेष्ठ बाल-कविताओं की रचना करने वाले अन्य व्यक्तियों में श्री शम्भुदयाल सक्सेना और श्री अशोक के नाम उल्लेखनीय हैं। गौण रूप से इस कविता-धारा को अनेक व्यक्तियों ने अपनाया है और इस दृष्टि से हम सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पन्त, रामनरेश त्रिपाठी, रामधारीसिंह 'दिनकर', सुभद्रा कुमारी चौहान, चिरंजीत, शम्भुनाथ 'शेष' आदि कवियों के नाम सहज ही ले सकते हैं। तथापि इतना स्वीकार करने में कोई भूल न होगी कि श्री सोहनलाल द्विवेदी खड़ी बोली में लिखी गयी बालोपयोगी कविताओं के अग्रगण्य रचयिता हैं और इस धारा के कुछ कवियों ने उनके प्रयास से प्रेरणा ले कर ही संक्षिप्त बाल-काव्यों की रचना की है।

परिशिष्ट

(कतिपय कवियों के विषय में प्राप्त काव्योक्तियों का संग्रह)

कविवर चन्दबरदाई

(१) कविवर वियोगी हरि द्वारा लिखित—

हिन्दू-कवि, हिंदुवान-कवि, हिन्दी-कवि रसकन्द ।
सुकवि, महाकवि, सिद्धकवि, धन्य-धन्य कवि चन्द ।।
भयौ उदित हिन्दुवान-नभ, चारुचन्द कवि चन्द ।
रही वगरि चहुँ जोन्ह-सी, रचना रुचिर अमन्द ।।
रचि रासो रस-रासि अति, उद्भट काव्य सुछन्द ।
पृथ्वीराज चौहान-जसु, अजर अमर किय चन्द ।।
फिरदौसी किन जाय दुरि, देखत हों कवि चन्द ।
जासु प्रभा लखि परि गयौ, कवि होमर हूँ मन्द ।।

—(वीर-सतसई, द्वितीय शतक, दोहे ७ से १० तक)

(२) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

हिन्दी का पहला चरण, कितना सरल स्वच्छन्द ।
'रासो' लेकर आ रहे, कुशल आदि कवि चन्द ।।
अपने गर्जन से सदा, बरसायी युग ज्वाल ।
वीर चन्द के काव्य में, अंगारे विकराल ।।

—(आधुनिक सतसई, शौर्य-स्तवन)

महाकवि विद्यापति

(१) कविवर विद्यापति द्वारा स्वतः लिखित—

बालचन्द बिज्जावई-भाषा,
दुहु नहिं लग्गई दुज्जन हासा ।
ओ परमेसर हर-सिर सोहई,
ई निश्चय नाअर मन मोहई ।।

—(कीर्ति-लता)

(२) श्री हरिवंशराय 'बच्चन' द्वारा लिखित—

लुटा चुकी थी अपना सब धन
वैभव जब देवों की वाणी ।

देसिल बयनों की क्षमता थी,
तुमने कवि रंजन पहिचानी ॥
अश्रु लकीर तुम्हारे गालों
पर की अब गम्भीर नदी है !
बाल चंद मिथिला की छत का
भारत के नभ का शशि पूरन ।'
मिथिला के रसमय मधुवन के,
हे अमृतमय बोल सुहावन ॥
निर्माता, तुमने नव कविता का,
तन मन इस भाँति संवारा ।
दूर-सुदूर भविष्य तुम्हारे
ही शब्दों का खोज सहारा
'जनम अवधि हम तव रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल' कहेगा !
लाख-लाख युग हिय बसकर,
होगा ही वह तिल तिल नूतन
मिथिला के रसमय मधुवन के
हे अमृतमय बोल सुहावन !

सन्त कबीरदास

(१) महात्मा कबीर का अन्तर्साक्ष्य—

मसि कागद छूवो नहीं, कलम गही नहिं हाथ ।
चारिउ जुग का महातम, कबिरा मुखहि जनाई बात ॥
गंग लहर मेरी टूटी जंजीर, मृग छाला पर बैठे कबीर ।
कह कबीर कोउ संग न साथ, जल-थल राखत हूँ रघुनाथ ॥
कासी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चेताए ।
समरथ का परवाना लाए, हंस उबारन आए ॥

× × ×

तू ब्राह्मन मैं कासी का जुलहा,
बूझहु मोर गियाना ।

× × ×

जाति जुलाहा मति कौ धीर,
हरषि-हरषि गुन रमै कबीर ।

(२) प्रचलित जन-श्रुति—

जो कुछ रहा सो अंधरा कहिगा,
कठवउ कहेसि अनूठी ।

बचा-खुचा सो जोलहा कहिगा,
और कहै सो जूठी ॥
(अंधरा = कविवर सूरदास)
(कठवउ = गोस्वामी तुलसीदास)
(जोलहा = भक्त कबीर)

(३) भक्त हरिराम व्यास द्वारा लिखित—

कलि में साँचो भक्त कबीर ।
पाँच तत्त तें देह न पाई,
ग्रस्यौ न काल सरीर ॥

—(रचना-काल : संवत् १६२० के लगभग)

(४) श्री गिरिजाकुमार माथुर द्वारा लिखित—

ओ महा गायक तुम्हारे बँधे स्वर में
मिल गए थे, रागमय हो,
एक सुन्दर बिन्दु की सीमा-किनारे,
दूर के संसूर-शंकर ।
× × ×
सभ्यता के खण्डहरों पर,
जल गए थे दीप फिर से,
छू तुम्हारे गीत की लौ ।
और जिसके मन्त्र-बल से
दूर का वह स्वप्न इतने पास लाकर
राम ने रहमान पाया ॥

—(नाश और निर्माण, पृष्ठ १०८–१०९)

महात्मा सूरदास

(१) अज्ञात कवियों द्वारा लिखित—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर ।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर ॥
तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठी ।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठी ॥
सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास ॥

(२) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

'भ्रमरगीत' की गोपियाँ, चेतन हैं उद्बुद्ध ।
उनमें मन का राग है, तपः पूत औ' शुद्ध ॥

सूरदास की भक्ति में, सखा-सख्य की रीति ।
कृत्रिमता के स्थान पर, शुद्ध हृदय की प्रीति ॥

गोस्वामी तुलसीदास

(१) श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा लिखित—

बन राम रसायन की रसिका,
रसना रसिकों की हुई सफला ।
अवगाहन मानस में कर के,
जन मानस का मल सारा टला ॥
बने पावन भाव की भूमि भली,
हुआ भावुक भावुकता का भला ।
कविता करके तुलसी न लसे,
कविता लसी पा तुलसी की कला ॥

—(सन्दर्भ-सर्वस्व, पृष्ठ १८३)

(२) श्री जयशंकर 'प्रसाद' द्वारा लिखित—

अखिल विश्व में रमा हुआ है राम हमारा,
सकल चराचर जिसका क्रीड़ापूर्ण पसारा ।
इस शुभ सत्ता को जिसने अनुभूत किया था,
मानवता को सदय राम का रूप दिया था ॥
नाम-निरूपण किया रत्न से मूल्य निकाला,
अन्धकार-भव-बीच नाम-मणि-दीपक बाला ।
दीन रहा, पर चिन्तामणि-वितरण करता था,
भक्ति-सुधा से जो सन्ताप-हरण करता था ॥
प्रभु का निर्भय सेवक था, स्वामी था अपना,
जाग चुका था, जग था जिसके आगे सपना ।
प्रबल प्रचारक था जो उस प्रभु की प्रभुता का,
अनुभव था सम्पूर्ण जिसे उसकी विभुता का ॥
राम छोड़कर और की जिसने कभी न आस की,
'राम-चरित-मानस'-कमल जय हो तुलसीदास की!

—(कानन-कुसुम, पृष्ठ-संख्या ८६–८७)

(३) श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा लिखित—

थे मुँदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय !
जिस कलिका में कवि रहा बन्द

वह आज उसी में खुली मन्द,
भारती-रूप में सुरभि-छन्द निष्प्रश्रय !

—(तुलसीदास, छन्द-संख्या ९०)

(४) कविवर वियोगी हरि द्वारा लिखित—

विनयपत्रिकाकार त्यों, रामचरित-रस-रास ।
बन्दौं कवि-कुल-तिलक, श्री रसनिधि तुलसीदास ।।

—(विनय-पत्रिका, हरितोषिणी टीका, मंगलाचरण)

(५) अज्ञात कवि द्वारा लिखित —

सूर ससी, तुलसी रवि, उडगन केसवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास ।।

(६) श्री गोपालशरणसिंह द्वारा लिखित—

भक्ति-भाव-भण्डार तुम्हारा,
विमल उदार हृदय-कासार ।
कैसा था आगार प्रेम का,
परम ज्ञान का पारावार !

× × ×

हमको तुमने दिया न केवल,
काव्य-रत्न का ही उपहार ।
रामचरितमानस में तुमने,
भरा दर्शनों का भी सार ।।

× × ×

जिसकी कीर्ति-कौमुदी का है,
जग में फैला हुआ प्रकाश ।
उसके ऊपर कुटिल काल का
भी होता है विफल प्रयास ।।
कहीं नहीं तुम गये, हुआ है
भौतिक तन का केवल नाश ।
ग्राम-ग्राम में धाम-धाम में,
अब भी वहाँ तुम्हारा वास ।।

—(संचिता, पृष्ठ १३१–१३३)

(७) श्री सोहनलाल द्विवेदी द्वारा लिखित—

तुलसी, यदि तुम आते न यहाँ
हम ढोया करते धरा धाम ।
वैभव विलास में मर मिटते

सूझता हमें कब सत्य काम ?
निर्गुण निरीह के घन तम में,
भटका करते हम बार-बार।
यदि सगुण रूप की दिव्य ज्योति,
देते न मधुरतम तुम प्रसार !

× × ×

रच रामचरित का विशद ग्रन्थ,
तुम ज्योतित, बनकर कोटि दीप।
युग देश काल पर भुज प्रसार,
मिलते आ प्राणों के समीप ॥

—(भैरवी, पृष्ठ ५९ तथा ६१)

(८) श्री बालकृष्ण राव द्वारा लिखित—

काल चक्र प्रतिकूल हुआ, हो गई नियति भी वाम,
उदित हुए तुम महानिशा में, शशि-से ललित, ललाम।
मरणासन्न जाति ने पाया मानस का पीयूष,
आभारी हिन्दू, हिन्दी के तुलसी तुम्हें प्रणाम ॥

—(रात बीती, पृष्ठ-संख्या ७०)

(९) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

कवि भू के तम का भेदन कर,
तुम ज्योति-दीप बन आए थे।
अन्तर में ले गहन साधना,
प्रति जन के उर में छाए थे ॥
उखड़ी सांसों में तुमने फिर,
नव मानवता भर डाली थी।
सूखी सिकता में फूंक मार,
अमृत की प्याली ढाली थी ॥
बंजर धरती में एक बार,
रस का सागर लहराया था।
वीणा की हर गहराई में,
भीगा बादल घहराया था ॥

× × ×

मधुर कल्पना की हरियाली,
बँधी तुम्हारे ही स्वर में।
दर्शन-चिन्तन की गहन भूमि,
फिर स्पष्ट हुई पल ही भर में ॥

साहित्य के सजग प्रहरी रह,
कवि ! तुमने युग-निर्माण किया ।
आदर्श स्वरों के अंचल में,
नव काव्य-पुष्प संधान किया ॥
मर्यादा के पथ पर चलकर,
तुम जन-रुचि को ले साथ चले ।
शीतल बयार की थपकी पा,
मधु-तरु के कोमल पात हिले ॥

× × ×

सरस्वती के वरद पुत्र थे,
तुलसी ! तुम सुषमा की प्रतिमा ।
मनु के वंशज भूल न पाएँ,
जन-कवि की काव्योचित गरिमा ॥

(१०) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

तुलसी की कविता-सुधा, कितनी ललित ललाम ।
जिसके उर में रम रहे, सत्व-विहारी राम ॥
तुलसी की मानस-सुधा, लिए स्नेह का बीज ।
विश्व-प्रेम की वृष्टि से, गया भक्त-उर भीज ॥

आचार्य केशवदास

(१) कविवर भिखारीदास द्वारा लिखित—

एक लहैं तप पुंजन के फल,
ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ।
एकन को बहु-संपत्ति केशव,
भूषन ज्यों बलवीर बड़ाई ॥
एकन को जस ही सों प्रयोजन,
है रसखानि रहीम की नाईं ।
दास कवित्तन की चर्चा,
गुनवन्तन को सुखदै सब ठाईं ॥

(२) केशव द्वारा स्वतः लिखित—

अलंकार कवितान के, सुनि-सुनि विविध विचार ।
कविप्रिया केशव करी, कविता को सिंगार ॥
समझें बाला बालकहू, वर्णन-पंथ अगाध ।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥

—(कविप्रिया, तृतीय प्रभाव)

महाकवि भूषण

(१) कविवर वियोगी हरि द्वारा लिखित—

सिवा-सुजस-सरसिज-सुरस-मधुकर मत्त अनन्य ।
रस-भूषण-भूषण, सुकवि-भूषण भूषण धन्य ॥
कवि भूषण सों सरि कहौ, करिहै को मति-अंध ।
जासु पालकी कहँ दियो, छत्रसालु निज कन्ध ॥
रिपुगण सुनि भूषण-कवितु, क्यों न होहि शर-विद्ध ।
जाकी रसना पै सदा, रहति चण्डिका सिद्ध ॥
किधौं इन्द्र को बज्र कै, प्रलय-कृसानु अमन्द ।
किधौं रुद्र रण-चण्ड-चखु, कवि भूषण को छन्द ॥

—(वीर-सतसई, द्वितीय शतक, दोहे १२ से १५ तक)

(२) महाकवि भूषण द्वारा लिखित—

शिव-चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषण के चित्त ।
भाँति-भाँति भूषनन सों, भूषित करौं कवित्त ॥

कविवर बिहारीलाल

(१) अज्ञात कवियों द्वारा लिखित—

ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि विसाल ।
सबकी भूषण सतसई, रची बिहारी लाल ॥
सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर ।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर ॥
जो कोई रस-रीति कौ, समुझा चाहै सार ।
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता को सिंगार ॥
विविध नायिका-भेद अरु, अलंकार नृप-नीति ।
पढ़ै बिहारी-सतसई, जानै कवि रस-रीति ॥

(२) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

कवि-मनसा झुकी बिहारी की, लेने लगी हिलोर ।
क्षण-क्षण में नव रूप निरख कर, गही प्रीति की डोर ॥
धीरे-धीरे उतर चले फिर, स्वप्न-जगत् से राही ।
लौकिक छवि के साथ-साथ मधु, कृष्ण-छवि अपनाई ॥
राधा हास-विलास हुआ फिर, धीरे से साकार ।
दिव्य प्रेम-रस के सिंचन से, काव्य बना उर-हार ॥
धन्य-धन्य तुम अरे बिहारी ! धन्य प्रीति-उपहार !
व्याप रहा अग-जग में शुभ, तव, रस-मादक उद्गार ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(१) श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' द्वारा लिखित—

सींचि कवि बचन सुधा के सुधा सों जहान,
कवि कुल कैरव विकासमान कै गयो।
हरिश्चन्द्र चन्द्रिका की चन्द्रिका प्रकाशि नभ,
हिन्दी ते तिमिर उर्दू को करि छै गयो ॥
कविता कलानि को बढ़ाय रसिकन चकोर,
ललचाय हिन्द सिन्धु को उछाह दै गयो।
भारत को साँचो चन्द साँचो हरिचन्द सम,
साँचो चन्द सम हरीचन्द सो अथय गयो ॥

—(प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, शोकाश्रुविन्दु, पृष्ठ १७७)

× × ×

कविजन को जो मित्रवर, विद्वानन को बन्धु।
पूरन विद्या को मनहु, हाय सुखानो सिन्धु ॥
हिन्दुन को जो मणि-मुकुट, अग्रगण्य जन हाय।
ताहि आज या हिन्द तें, कानें लियो उठाय ॥
जीवन दाता जो रह्यो, हिन्दी-लता अधार।
तिहि तरु काट्यो हाय हनि, काल कराल कुठार ॥
हिन्दी भाषा गद्य को, लेखक शुद्ध सुजान।
प्रथम पुरुष साँचो सोई, सुन्दर सुकवि महान ॥
नाटक विद्या को रह्यो, जीवन दाता जौन।
कविता के सब देश को, मनहुँ सरस्वति भौन ॥

—(वही ग्रन्थ, पृष्ठ-संख्या १६९ तथा १७२)

(२) श्री श्रीधर पाठक द्वारा लिखित—

जब लौं भारत भूमि मध्य आरजकुल बासा,
जब लौं आरज धर्म माहिं आरज विश्वासा।
जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी,
जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी ॥

तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर,
चिर जीवी रहिहै अटल।
नित चन्द सूर सम सुमिरिहैं,
हरिचन्दहु सज्जन सकल ॥

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

श्री सोहनलाल द्विवेदी द्वारा लिखित—

तिमिर में दीपक जला है,
भक्ति-ग्रह भगवान आया ।
सित बने हैं केश काले,
की कठिन किसने तपस्या ?
भाव-भाषा-छन्द की,
सुलझी सभी उलझी समस्या ।
आज कवि के कण्ठ में क्यों,
लिए नवरस गान आया ?

× × ×

आज किसकी अस्थियों में,
उठ खड़ी भाषा हमारी ?
सींच किसने रक्त से,
कर दी हरी आशा हमारी ?

× × ×

रंक रसिकों की कुटी में,
आज नव वरदान आया !

—(प्रभाती, पृष्ठ-संख्या ६३–६४)

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

श्री सोहनलाल द्विवेदी द्वारा लिखित—

एक स्वर्णकण खो जाने से
हो उठता उर कातर ।
कैसे धैर्य धरे वह जिसका
लुट जाए 'रत्नाकर' !

—(प्रभाती, पृष्ठ-संख्या ५७)

श्री मैथिलीशरण गुप्त

(१) कविवर सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा लिखित—

योग्य नहीं कुछ भेंट : आप चिर मैथिली शरण,
गीत मैथिली के गा छूता स्नेह से चरण !
शैशव से ही रहा आपके प्रति आकर्षण,
ललित भणिति का किया प्रीतिवश चपल अनुकरण !
अमर भगीरथ आप, रसात्मक-तृषा कर हरण,
स्वरापगा का प्रथम कराया मधुर अवतरण !

सरस्वती से स्वयं आपका सुन वीणा क्वण,
कर्ण बन गये जन के प्यासे जन्हु के श्रवण !
'सूर-सूर तुलसी शशि.......' लगता मिथ्यारोपण,
स्वर्गंगा तारापथ में कर आप के भ्रमण !
स्वर्ण कलश कवि यश की यशोधरा निःसंशय,
बसा गये साकेत, शिल्पि, नव आप चिरन्तन !
व्यथा कथा लिख गए गुप्त हृत्पत्र पर अभय,
भारत नारी तीर्थ उर्मिला का उर क्रन्दन !

—('भक्ति-प्राण' शीर्षक कविता से)

(२) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

महामान्य ! अमृत के स्रष्टा !
रूढ़िवाद के प्रथम विरोधी !
तुमने मानव के अन्तर में,
यह कैसी चेतनता शोधी ?
उपेक्षिता के आदि स्वरों में,
बँधी हृदय की सात्विक पीड़ा।
भावमयी के करुण पाश में,
लुप्त हुई नर-पशु की क्रीड़ा ॥
वह उर्मिल, वह त्यक्ता गोपा,
मानस में साकार हुईं फिर।
मर्त्य लोक की मिट्टी ने भी,
चंद्र-किरण की छाँह छुई फिर ॥
नभ से उतरी भू पर गंगा,
शब्दों की ऋजु धार बह चली।
अपने मन में स्वयं निनादित,
स्वर-तन्त्री झंकार बह चली ॥
देश-प्रेम का दुर्दम निर्झर,
विश्व-प्रेम-सागर में मिलता।
नव्य-पुरातन संस्कृति का यह
कमल, नवल प्राणों में खिलता ॥
मनोजगत के व्यापक नभ में,
लोक-चेतना घिर कर आई।
भौतिक स्तर से ऊँचे उठकर,
परम तत्व की ज्यों परछाईं ॥

× × ×

हे राष्ट्रकवे ! युग-निर्माता,
तुम से मण्डित यह धरा-धाम !
हे हिन्दी के वाल्मीकि, अमर
अभिनव तुलसी तुमको प्रणाम !!

कवि श्री जयशंकर 'प्रसाद'

(१) श्री सोहनलाल द्विवेदी द्वारा लिखित—

भारतीय संस्कृति के गर्व औ अभिमान !
बुद्ध की सुबुद्धि के कल्याणमय आख्यान !
आर्य-गौरव के अलौकिक दिव्य उज्ज्वल गान !
राष्ट्रभाषा के विधाता, श्री, सुरभि, सन्मान !
नित्य मौलिक, ऐतिहासिक, चिर-विचारक आप,
भावना औ' ज्ञान के युग पद, समन्वित छाप !
त्याग आज सकाम जगती, तुम चले निष्काम,
युग प्रवर्तक, क्रान्तदर्शी, तुम्हें सतत प्रणाम !

—(प्रभाती, 'प्रसाद जी की पुण्य स्मृति में' शीर्षक कविता, पृष्ठ ५८)

(२) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

कवि 'प्रसाद' के चित्त में, समरसता के फूल ।
विश्व-प्रेम-धारा बही, कटे हृदय के शूल ॥

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(१) श्री सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा लिखित—

छंद बंद ध्रुव तोड़, फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर सी निःसृत,—
गलित, ललित आलोक राशि, चिर अकुलष अविजित !
स्फटिक शिला से तूने वाणी का मन्दिर
शिल्पि, बनाया,—ज्योति-कलश निज यश का धर चिर !
शिलीभूत सौन्दर्य, ज्ञान, आनन्द अनश्वर
शब्द-शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम शिखर !
शुभ्र कल्पना की उड़ान, भव-भास्वर कलरव,
हंस, अंश वाणी के, तेरी प्रतिभा नित नव !
जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा, वरद शारदा का आसन निज !
अमृत पुत्र कवि, यशः काय तव जरामरणजित्,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृत !

—(युगवाणी, पृष्ठ ८०)

(२) श्री माखनलाल चतुर्वेदी द्वारा लिखित—

सूझों के
रवि-रथ पर किसने,
आज प्राण का
तेज सँभाला,
किसे रूढ़ियों की दासी ने
वैभव से दे देश-निकाला—
पागल, और
न जाने क्या-क्या
कह-कह,
कर-कर उसे प्रताड़ित,
भरमाया
पर जग ने पाया
निश्चय एक प्रचण्ड निराला !

—(माता, पृष्ठ १२१)

(३) डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा लिखित—

प्रिय कवि ! मैंने देखा, कैसे तुम जनता के
हृदय-कमल पर सरस्वती के वरद पुत्र-से
इस जीवन में महिमा-मण्डित हुए, विराजे।

× × ×

जब धरती के अनदेखे बन्धन टूटेंगे,
तब इन गिरि-मालाओं में, ग्रामों में, वन में,
करुणा में डूबी कवि की वाणी गूंजेगी,
जुही और शेफाली के स्वप्नों की वाणी,
गहन निशा में अरुण प्रात की अमर कामना।

—('बाँदा में निराला-जन्म-दिवस समारोह'
शीर्षक कविता से उद्धृत)

(४) श्री धर्मवीर भारती द्वारा लिखित—

आने वाले स्वर्ण युगों को
अमृत कणों से सींचेगा वह
हर विद्रोही कदम
नई दुनिया की पगडण्डी लिख देगा,
हर अलबेला गीत
मुखर स्वर बन जाएगा
उस भविष्य का

जो कि अँधेरे की पर्तों में अभी मूक है !
लेकिन युग ने उसको अभी नहीं समझा है ।

—(ठण्डा लोहा, पृष्ठ ५६)

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त

(१) **श्री सोहनलाल द्विवेदी द्वारा लिखित—**

ले लघु-लघु शब्दों की गागर,
तुम भरते अर्थों का सागर,
शुचि शिल्पी कलाकार नागर,
वाणी-वीणा के मधुर तार
तुम जननी के शृंगार-हार !
दे दिया काव्य-तरु में पल्लव,
नव-रूप-गंध रस का वैभव,
कोकिल बन किया मधुर कलरव,
पतझर में ले आये बहार
तुम जननी के शृंगार-हार !
रच रम्य प्रकृति के ललित चित्र
जग जीवन रँग से भर विचित्र,
मन प्राण किये तुमने पवित्र,
तम में प्रकाश लाए उतार,
तुम भाषा के शृंगार-हार !
वैभव-बन्धन से गृही ! भाग,
यौवन में ही लेकर विराग,
दिखलाया संयम, आत्म-त्याग,
कविता में जीवन दिया ढार !
तुम जननी की गरिमा अपार !
तुम भाषा के गायक अनन्य,
पूजा तज की, सेवा न अन्य,
तुमको पा जननी हुई धन्य !

—(प्रभाती, पृष्ठ-संख्या ६५–६६)

(२) **श्री नरेन्द्र शर्मा द्वारा लिखित—**

जब मिली चुनौती, रूढ़िग्रस्त
शिव-धन्वा पल में तोड़ दिया,
शत परशुराम नित क्रुद्ध हुए
उसने कविता-पथ मोड़ दिया !

कर धनुष-भंग पल्लव पिनाक रच
कवि ने नव-निर्माण किया !

—(पलाश-वन, पृष्ठ ३५)

(३) प्रो० सुरेश चन्द्र गुप्त द्वारा लिखित—

उस प्रकृति-पुत्र ने इस युग में,
उदघोष किया फिर से नूतन ।
भावुक कवि ने अपने मन से,
दिया सृष्टि को रूप चिरन्तन ।।